अध्यात्म-पदावली

सम्पादन

डॉ० राजकुमार जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

सम्पादकीय निवेदन

भारतवर्ष अति प्राचीनकालसे अध्यात्म-विद्याकी लीलाभूमि रहा है। अपनी आधिदैविक एवं आधिभौतिक समृद्धिके साथ उसके मनीषी साधकोंने अध्यात्म-क्षेत्रमें जिस चिरन्तन सत्यका साक्षात्कार किया, उसकी प्रभास्वर रश्मिमालासे विश्वका प्रत्येक भू-भाग आलोकित है। भारतीय साहित्य तथा इतिहासका अध्ययन इस बातका साक्षी है कि आध्यात्मिक गवेषणा और उसका सम्यक् आचरण ही उसके सत्यशोधी पृथ्वी-पुत्रोंके जीवनका एक-मात्र अभिलषित लक्ष्य रहा है। इसी लोक-मंगलकारिणी आध्यात्मिक उत्क्रान्तिके द्वारा भारतने चिरकालसे विश्वका नेतृत्व किया और इसीकी ही संजीवनी शक्तिसे अनुप्राणित होकर आज भी उसकी वैदेशिक नीति विश्वको विस्मय-विमुग्ध करती हुई विजयिनी हो रही है।

जैन, वैदिक एवं बौद्ध तीनों परम्पराओंमें अध्यात्म-विद्याकी गरिमाका यथेष्ट गान और इसके द्वारा सम्प्राप्य आत्म-स्वातन्त्र्यका लाभ ही मानव जीवनका परम पुरुषार्थ उद्घोषित किया गया है। यद्यपि आज भौतिक-भक्तिके इस युगमें मानव श्रेयकी अपेक्षा प्रेय ही का सर्वात्मना पूजक हो रहा है, परन्तु अन्ततोगत्वा आत्मकल्याणके लिए उसे अध्यात्मसाधनाकी ही शरण लेनी होगी – 'अध्यात्म-साधनाशरणं गच्छामि' की पवित्र भावना ही उसका त्राण कर सकेगी।

अध्यात्म-पदावलीकी भूमिकामें हमने अति संक्षेपमें उक्त त्रिविध परम्परा-सम्मत अध्यात्म-रूपोंके सम्बन्धमें विनम्र भावसे प्रकाश डाला है। जैन अध्यात्म-पुरस्कर्ताओंके समान अन्य परम्पराओंसे भी उदात्तचेता

आध्यात्मिक एवं पदकार हो गये हैं। स्थानाभावके कारण हमने जान-बूझ-कर उन्हें यहाँ चित्रित नहीं किया है और न ही उनके अध्यात्म-रस-कलित पदोंकी संकलना की है। आजका हिन्दी-सेवी संसार जैन हिन्दी पदकारोंकी अध्यात्म-रसमयी काव्यधाराओंमें अवगाहन कर ब्रह्मानन्दसहोदरीं रसानुभूति करे और इस उपेक्षित धाराको भी भारतीमाताके मन्दिरमें यथोचित प्रति-निधित्व प्राप्त हो, 'अध्यात्म-पदावली' के सम्पादनमें मुख्यतः हमारी यही दृष्टि रही है।

वस्तुतः यह पुस्तक सौ० श्रीमती रमारानी जैन, धर्मपत्नी श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी जैन, की चिरसंचित हार्दिक अभिलाषाका ही एक मूर्तिमान् रूप है। उन्हींकी प्रेरणासे लगभग आठ वर्ष पूर्व हमने इस कार्यको प्रारम्भ किया था, परन्तु खेद है कि अपनी व्यक्तिगत विवशताओं तथा प्रमादके कारण हम इसे यथासमय पूर्ण नहीं कर सके। इस अन्तरालमें मान्य बन्धुवर श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशीने भी पदा-वलीको यथाशीघ्र सम्पादित करनेके हेतु अनेक बार प्रेमपूर्ण प्रेरणाएँ कीं। हमारी ओरसे उन्हें अनेक निश्चयात्मक वचन भी दिये गये, परन्तु वे पूरे न हो सके। आज उत्तम क्षमाकी इस पुण्य बेलामें इस प्रमादके लिए हम उनसे तथा सौ० श्रीमती रमारानीसे विनम्र हृदयसे क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

इस अवसरपर सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री अगरचन्दजी नाहटाके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने कतिपय अनुपलब्ध महत्त्वपूर्ण पदसंग्रह भेजकर हमारी सहायता की। बन्धुवर प्रो० श्री भरत-सिंहजी उपाध्याय एम० ए० के भी हम बहुशः कृतज्ञ हैं जिन्होंने लीडर प्रेस इलाहाबादसे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' नामक अपने महान् दार्शनिक ग्रन्थके फ़ार्मोंका उपयोग कर लेनेके लाभसे हमें उपकृत किया।

उन समस्त मनीषी लेखकोंके भी हम विनम्र हृदयसे अनुगृहीत हैं,

जिनकी रचनाओंका पदावलीके सम्पादनमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष किसी भी रीतिसे उपयोग हुआ।

श्री बाबूलाल फागुल्ल, व्यवस्थापक भारतीय ज्ञानपीठके भी हम आभारी हैं, जिन्होंने पदावलीके शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशनके लिए हमें बार-म्बार प्रेरित किया और प्रकाशनकी सुव्यवस्था की।

यदि प्रस्तुत पदावली सहृदय अध्यात्म-प्रेमियोंका किंचित् भी मनो-ऽनुरंजन कर सकी तो हमारा यह संयोजना-श्रम और परम पवित्र अभि-लाषाका वह बीज अंशतः अवश्यमेव सफल हो गया।

जैन कॉलेज, बड़ौत
[भाद्रपद शुक्ला ५] वि० सं० २०११

— *राजकुमार जैन*

अनुक्रम

मूल और व्याख्या

आमुख

भारतीय प्रतिभा भी किन-किन रूपों और रंगोंमें व्यक्त हुई है! साहित्यके क्षेत्रमें जब हमारे कवि-कलाकारोंने एक-दो नहीं, नौ रसोंकी सृष्टि कर डाली तो मानव-हृदय विस्मयसे विमुग्ध हो गया। उसने कहा: **"षट् रस विधि की सृष्टि में, नव रस कविता माँहि!"** इस विमुग्धताका कारण यह है कि जब काव्यमें किसी भी रसका प्रवाह उमड़ता है तो वह पाठक या श्रोताके मनको निमग्न कर देता है।

पर क्या आज हम यह सोचते हैं कि ये नौ रस साहित्यके विकासमें बहुत बादकी वस्तु हैं जिन्हें भरत मुनिने मनुष्यकी स्थायी प्रवृत्तियोंको लक्ष्य करके 'मनोवैज्ञानिक' आधारपर आयोजित किया? प्राचीन साहित्यमें रसकी कल्पना इससे कहीं ऊँची थी। उस समय रस अविभाज्य था। उसकी उपलब्धि मनसे ही नहीं, हृदयसे, और आत्मासे मानी जाती थी। उस समय 'रस' ही 'आनन्द' था! **"रसो वै सः"** वह रस ही है। कौन 'वह'? ईश्वर, आत्मा, सत्य, परम-तत्त्व, ऊँचेसे ऊँचा 'वह सब कुछ' जो मनुष्यकी कल्पनामें आ सकता था। संक्षेपमें यह, कि उस समय रसका आधार आध्यात्मिक था।

'अध्यात्म' और 'आध्यात्मिकता' ऐसे शब्द हैं जो हमारे आजके इन्द्रियानुगतिक जीवनमें बड़े ऊपरी, अलग-अलग और कानोंको ठस मालूम पड़ते हैं। इन्द्रियोंकी और इन्द्रिय-जन्य सुखकी बात हम समझते हैं। लूकी झुलसके बाद, रैफ्रीजरेटरके पानीमें बने गुलाबके शर्बतका बिल्लौरी ग्लास जब हमारे सूखे होंठोंको स्पर्श करता है तो इस ईषत्-आरक्त शीत-

मधुर-सौरभपर हमारे तन-मन तृप्ति और सुखसे पुलक उठते हैं। हम उस संगीतसे भी परिचित हैं जो अपनी लय-तानके जादूसे हमारे हृदयको गुदगुदाता है और हमें झुमा-झुमा देता है, चाहे इस जादूका स्रोत सैल्यू-लाईडकी वह नाख़ूनी पट्टी ही हो जिसका जाना-माना काम यही है कि सहस्रों खण्ड-चित्रों और असंख्य ध्वनि-परमाणुओंको विद्युद्वेगसे घुमाकर वह हमें धोखेमें डाल दे। आलोक और छायाकी मायावी मूर्तियोंपर हमने समवेदनाके कितने आँसू बहाये हैं और सुखैक्यके कितने पुलकपुंज अर्पित किये हैं!

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-नादके ये उपर्युक्त सुख इन्द्रियों और मनकी अनु-भूतिके सुख हैं। यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो पायेंगे कि एक दूसरे प्रकार-के भी सुख हैं जिनके अनुभूति-स्रोतका विश्लेषण हमें इन्द्रियोंके स्तरसे ऊपर ले जाता है। गान्धीजीका व्याख्यान सुनकर जो सहस्रों व्यक्ति देश-सेवाकी भावनासे प्रेरित हो दनदनाती गोलियोंके सामने सीना तानकर खड़े हो गये, और जो गान्धी स्वयं गोलीके हृदय-वेधी विषको 'हे राम!' के अमृतमें घोलकर शान्तभावसे पी गया, जो ईसा दो लुटेरोंके बीच: क्रूसपर कीलित-देह यह कहता हुआ प्राणोत्सर्ग कर गया – 'हे प्रभु! इन्हें क्षमा करो, क्योंकि ये नहीं जानते हैं कि ये क्या कर रहे हैं'; जो महावीर और बुद्ध अतुल वैभव-विलास छोड़कर बीहड़ वनोंमें क्षुधा-जर्जरित, ठिठुरते-तपते साधना साधते फिरे; – इन सबको जिस आनन्दकी उपलब्धि हुई वह क्या किसी इन्द्रिय-विशेषका विषय है? दूसरोंको सुख पहुँचानेसे, दूसरोंके दुःखोंका प्रतिकार करनेसे, पतितसे पतितको भी अपरिमित करुणा देनेसे स्वयंको जो आनन्द होता है उस आनन्दकी जाति और उसकी अभिधा बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। यह सुख हमें इसलिए प्राप्त होता है कि हम अपनी आत्माके अनुभूतिमय प्रक्षेप और आरोप-द्वारा दूसरोंके सुख-दुःखको आत्मसात् करते हैं, उनके साथ तादात्म्य होकर सह-अनुभूति करते हैं। यह अनुभूति जब हृदय, मन और आत्माके स्तरपर होती है

और उससे सुख प्राप्त होता है तो वह 'आध्यात्मिक सुख' कहलाता है। उपर्युक्त दृष्टान्तोंमें अध्यात्मका क्रियात्मक रूप सामने आया है।

साहित्य अपनी सीमाओंके भीतर अध्यात्मके जिस रूपको विकसित करता है वह अध्यात्मका भावपक्ष है। इस भावात्मक रूपकी उपलब्धिके लिए व्यक्तिको अन्तर्मुखी होना पड़ता है। और जब व्यक्ति अन्तर्मुखी होता है तो वह अपनी प्रतिभा और प्रकृतिके अनुरूप या तो श्रद्धाके माध्यमसे आत्माको पाता है या विवेकके। इस तरह अध्यात्मके दो रूप हो जाते हैं – एक भक्तिका और दूसरा ज्ञानका। श्रद्धा-भक्ति मानवके विकास-मार्गकी पहली मंज़िल हैं, ज्ञान दूसरी, और विवेकपूर्ण आचरण तीसरी मंज़िल है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरणके समन्वयका ही नाम सर्व-अर्थ-सिद्धि है, और यही मोक्ष है।

हमारे यहाँके साहित्यमें अध्यात्मका भक्तिमूलक भावपक्ष आदिकालसे लेकर अबतक जिन प्रमुख रूपोंमें व्यक्त हुआ है, वे हैं – ऋचाएँ, पाठ, स्तोम, स्तोत्र, स्तवन, स्तुति, थुति, पद, भजन, कीर्तन आदि। हिन्दीमें अबतक सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदि महान् भक्त कवियोंके जो मधुर पद प्रकाशित हुए हैं उनमें भक्तिका बड़ा मोहक रूप चित्रित किया गया है। इन भक्तोंने अपने-आपको भगवान्‌के प्रति सभी रूपोंमें अर्पित किया है – दासरूपमें, सखारूपमें, सखीरूपमें, वधूरूपमें – आदि।

प्रस्तुत 'अध्यात्म-पदावली' में श्री राजकुमार जैन साहित्याचार्यने कुछ ऐसे पदोंका संकलन किया है और उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है जिनमें भक्तिका एक दूसरा रूप उभरा है – वह रूप जिसमें भक्तने भगवान्‌के प्रति आत्म-निवेदन विनीत भावसे किया तो है, पर उसने जीवनकी उपलब्धि और लक्ष्य जन्म-जन्मान्तरकी चरण-सेवा न मानकर जन्म-मृत्युके बन्धनोंसे मुक्ति माना है। भक्त स्वावलम्बी होना चाहता है। भक्तिके इस रूपका तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक है। अबतककी

है, हाँ, उसका अनिवार्य निमित्त-कारण अवश्य है ।

इसी भावको उन्होंने अपने एक दूसरे पद्यमें स्पष्ट किया है :

"हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ।
कर्म कर्मफल माँहि न राचै, ज्ञान सुधारस पीजै ।
मुझ कारज के तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै ।।"

जिनेन्द्र भगवान् ! मेरी ऐसी सुबुद्धि हो कि मैं कर्म और कर्मफलमें अपनी राग-द्वेष बुद्धि न रखूँ । मेरी यह अर्ज़ आप सुन लें, इसलिए कि आप मेरे कारज (कार्य-उद्देश्य) के कारण रूप हैं । अर्थात् आप कर्त्ताके रूपमें मुझे इच्छित फलकी प्राप्ति नहीं करवाते; हाँ, आप कारणरूप अवश्य हैं क्योंकि आपके परमात्मपदका चिन्तन स्वयमेव विवेक जगाता है और मोक्षकी उपलब्धि करवाता है ।

इन पदोंमें भजन-पूजनका उद्देश्य बार-बार स्पष्ट किया गया है । यहाँ भक्तिका अन्तिम लक्ष्य चरणसेवा नहीं है । लक्ष्य है, वीतराग अवस्थाकी प्राप्ति, वैराग्य दशाकी उपलब्धि और उसके द्वारा भव-मुक्ति ।

कवि द्यानतरायकी याचना है :

"मेरी बेर कहा ढील करी जी ।
साँप कियो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरी जी,
'द्यानत' मैं कछु जाचत नाहीं, कर वैराग्य-दशा हमरी जी ।"

यद्यपि यह पद दार्शनिक पृष्ठभूमिपर भगवान्के प्रति निवेदित है, फिर भी इसमें अनुभूति और निवेदनका वैयक्तिक आधार स्पष्ट है, इसीलिए यह पद सरस और प्रभावपूर्ण है । देखिए, वैयक्तिक निवेदन किस विनोदपूर्ण ढंगसे इन्हीं द्यानतरायने व्यक्त किया है :

"तुम प्रभु कहियत दीन दयाल ।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल ।
भले बुरे हम भगत तिहारे जानत हो हम चाल ।"

लो फिर कवि चाहते क्या हैं ?

"और कछू नहिं, यह चाहत हैं, राग-दोष कौं टाल,
तुम प्रभु कहियत दीन दयाल ॥"

भजनोपासनाके उद्देश्य और लक्ष्यमें ही यह दार्शनिक तत्त्व व्यक्त नहीं किया गया है, उपास्यकी मूर्ति और उपासनाकी विधिमें भी दार्शनिक प्रतीकोंका आरोप है। तुलसी, सूर और मीरा जब भगवान् कृष्ण या राम-का रूप चित्रित करते हैं, तो "शिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु उदार अंग विभूषणम्" (तुलसी) या "केसर तिलक मोतिन को माला वृन्दावन को वासी" (सूर) अथवा "मोरमुकुट पीताम्बर सोहे, गल बैजन्ती माला" (मीरा) का वर्णन करते हैं। इधर जब द्यानतराय भगवान्की मूर्तिका चित्र खींचते हैं तो उन्हें ध्यान-मग्न मुद्रा ही आकर्षित करती है।

"देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है।
कर-ऊपर-कर सुभग विराजे, आसन थिर ठहराया है।
जगत विभूति भूति सम तज कर, निजानन्द पद ध्याया है॥
शुद्धुपयोग-हुताशन में जिन, वसु विधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहै, मानों धुआँ उड़ाया है॥"

हथेलीपर हथेली रखे, स्थिर आसनसे बैठे भगवान्की यह ध्यानमग्न सौम्य मूर्त्ति है। इन्होंने संसारको विभूतिको चुटकी-भर भभूत (राख) की तरह त्याग दिया और अब आत्माकी उस स्थितिका ध्यान कर रहे हैं जो परम-आनन्द-मय है। उनके सिरपर यह जो श्यामल लटें लहरा रही हैं, यह मानो उस धुएँकी लपटें हैं जो शुद्ध-उपयोग (आत्मध्यान) की अग्निसे उठ रही हैं क्योंकि इस अग्निमें ज्ञानावरण-आदि अष्ट कर्मोंकी समिधा (हवन द्रव्य) जला दी गयी है।

ऐसी मूर्त्तिको नमस्कार करना स्वाभाविक ही है। फिर भी इसका एक कारण भूधरदास इस प्रकार देते हैं :

"इक चित ध्यावत, वांछित पावत, आवत मंगल, बिघन टरै;
मोहनि धूल परी माथै चिर, सिर नावत तत्काल झरै।
जिनराज चरन मन ! मत बिसरै ॥"

चिरकालसे हमारे माथेपर जो मोहनीय कर्मकी धूल पड़ी हुई है, भगवान्‌के चरणोंके आगे सिर झुकाते ही वह धूल झड़ जायेगी। हे मन ! जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंका ध्यान मत भूल। मत भूल, क्योंकि

"को जानै किहि बार काल की धार अचानक आन परै,
जिनराज चरन मन ! मत बिसरै ॥"

कितने सीधे शब्दोंमें कितनी गहरी बात, किस प्रभावपूर्ण ढंगसे कह दी है। कितना प्रसाद है इन पंक्तियोंमें। कौन जानता है कि कालकी दुधारी किस समय अचानक ही गरदनपर आ गिरे।

भक्ति-भावनाके अतिरिक्त प्रस्तुत पदावलीका प्रायः तीन चौथाई भाग "ऐसे आध्यात्मिक पदोंका है जिसमें व्यक्तिको आत्मज्ञान, विवेक और वीतराग-अवस्था प्राप्त करनेको प्रेरित किया गया है। यह उपदेश अवश्य है, पर ऐसा उपदेश जिसके पीछे कवियोंका अनुभूत जीवन-दर्शन है। इन पदोंकी प्रेरणाका प्रभाव इस बातमें है कि इनके कवि अडिग विश्वास और श्रद्धासे स्वयं प्रेरित हैं। किस-किस ढंगसे, किन-किन तर्कोंसे, किन-किन सम्बन्धोंसे — दुलारकर, समझाकर, लताड़कर, लानत भेजकर, सब तरह-से — वे श्रोताके हृदयमें अध्यात्म-तत्त्व जगाना चाहते हैं। कितनी करुणा है इन कवियोंके उरमें। कैसी मिश्री-सी मीठी और कैसी तीर-सी सीधी हैं इनकी बातें। और आत्मीयता इतनी कि जैसे सारा पद आपके लिए, केवल आपके लिए, रचा गया हो।

अनेक पदोंकी प्रथम पंक्तिमें ही यह मनुहार और दुलार देखिए :

"मान ले या सिख मेरी।"
"छाँड़ि दे या बुधि मोरी।"

"रे मन ! कर सदा सन्तोष।"
"ऐसा काज न करना हो।"
"विपति में धर धीर रे नर !"
"देखो भाई ! महा विकल संसारी।"

देखिए, यह खीज और झुँझलाहट, लेकिन कितनी आत्मीय :

"तोहि समझायो सौ-सौ बार।"
"तू तो समझ समझ रे भाई !"
"चेतन तोहि न नेक सँभार।"

और, इस करुणा और स्नेहका क्या ठिकाना :

"भोंदू भाई ! समुझ सबद यह मेरा।"
"भोंदू भाई ! ते हिरदै की आँखैं।"

और जब व्यक्ति इस दुलार, खीज और करुणासे भी न समझे तो फिर :

"रे मन ! तेरी को कुटेव यह।"
"चेतन ! उलटी चाल चले।"
"जीव ! तू मूढ़पना कित पायो।"
"बिरथा जनम गवायो मूरख।"

पर क्या ये सब सम्बोधन, ये दुलार-पुचकार, यह खीज और यह लानत-मलामत, सब श्रोताओंके लिए हैं ? नहीं। वास्तवमें कवि अपने ही मनको हर तरहसे समझा-बुझा रहा है और अपने अन्दरके चैतन्यको जागृत करना चाहता है।

इन पदोंमें अध्यात्मका वह ज्ञान-पक्ष पूर्णरूपसे विकसित अवस्थामें मिलता है जिसका आभास-मात्र कबीर, दादू और नानकके पदोंमें झलकता है। यों इस अध्यातमको किसी धर्म-विशेष और दर्शन-विशेषसे इसलिए

सम्बन्धित कर लेते हैं कि उस धर्ममें इसकी परम्परा प्रधान रूपसे रही है और उसी दर्शनमें यह ज्ञान खुलकर फूला-फला है। पर इस विचारधाराका प्रभाव प्रायः सभी निर्गुण-पन्थियों और ज्ञानाश्रयी शाखाके कवियोंमें अच्छी तरह प्रतिबिम्बित है।

उदाहरणके लिए कबीरकी वाणी :

"साधो सहज समाध भली।
जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा॥

कह 'कबीर' यह उन मुनि रहनी, सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोई परे परम पद, तेहि पद रहा समाई॥"

और गुरु नानकका यह उपदेश :

"साधो, मन का मान त्यागो।
सुख दुख दोनों सम करि जानौ, और मान अपमाना।
हर्ष शोक तें रहै अतीता, तिन जग तत्त्व पिछाना॥
अस्तुति निन्दा दोऊ त्यागे, खोजै पद निरबाना।
जन 'नानक' यह खेल कठिन है, कोऊ गुरुमुख जाना॥"

दोनों पदोंकी आध्यात्मिकताका वही रूप है जो प्रस्तुत संकलनके पदोंमें परिपक्व हुआ है।

इस संग्रहके ज्ञान-मूलक उद्बोधनकारी पदोंकी एक विशेषता यह है कि इनमें वस्तु-तत्त्वको प्रतिपादित करनेके लिए जो उपमाएँ, अलंकार और प्रतीक लिये गये हैं उनमें व्यावहारिकताका पुट है। समस्त साहित्यिकता और सरसताको अक्षुण्ण बनाये रखकर भी कवियोंने प्रयत्न किया है कि इन पदोंकी आध्यात्मिकता सर्वसाधारणके लिए सुलभ हो। इसलिए इनकी शैली, अभिव्यंजना और उपमाएँ बड़ी सीधी और हृदयग्राही हैं। प्रायः

प्रत्येक दार्शनिक स्थापनाके समर्थनमें व्यावहारिक हेतु और उजागर दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :

कवि बुधजन समझाना चाहते हैं कि मनुष्य पर्याय पाकर इसे विषय-भोगमें बिता देना बहुत बड़ी मूर्खता है। कैसा चुभता हुआ उदाहरण दिया है :

"यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो।"

इस चित्रको आँखोंके आगे खड़ा कीजिए। कैसा मूर्ख होगा वह पुरुष जो राजसी हाथीको ईंधन ढोनेके काममें प्रयुक्त करे। इसी प्रकारका एक दूसरा व्यंग्य कवि भूधरने कसा है :

"चेतन नाम, भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो।
तीन लोक को राज छाँड़ि के, भीख माँग न लजायो॥"

भगवान्‌का दर्शन करते हुए भी आदमीका मन भटक जाता है। "मनवा फिरे बाजार में" वाली उक्तिको बिलकुल विशिष्ट और वैयक्तिक बनाकर उन्होंने लिखा है :

"वीतराग के दरसन ही तैं, उदासीनता आवै।
तू तौ जिन के सन्मुख ठाड़ा, सुत को ख्याल खिलावै।"

इसके व्यंग्यपर लक्ष्य कीजिए। आदमी उन वीतराग भगवान्‌के दर्शन करने पहुँचा है, जिनके दर्शन मोहवृत्तिसे छुटकारा दिलाते हैं। मूर्तिके सामने खड़ा है और घरमें पालनेमें पड़े अपने बेटेका ध्यान कर रहा है — नहीं, ध्यान ही नहीं, 'ख्याल खिलावै'। सुतके ध्यानको साक्षात् सुतकी तरह मनमें खिला रहा है। भाई, ऐसे देवदर्शनसे क्या लाभ ?

भगवान्‌को मान्यता देनेका भूधरका यह तर्क देखिए : भगवान् भी दंग रह जायें कि किसीने उनके फ़नकी दाद दी है :

"सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठगि खाया।

'भूधर' ठगत फिरत यह सब कौ, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगिनी को ठग बैठे, मैं तिस को सिर नाया ॥"

कवि द्यानतरायका निम्नलिखित तर्क देखिए। यह मनमें क्यों न घर करेगा :

"अब हम अमर भये न मरैंगे।
तन-कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरैंगे ?
उपजै-मरै काल तै प्राणी तातै काल हरैंगे,
राग-दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करैंगे।"

कवि आनन्दघनके तात्त्विक विवेचनमें तो अध्यात्मका चरमोत्कर्ष ही है :

"राम कहो रहमान कहो कोऊ, कान्ह कहो, महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
निज पद रमे राम सो कहिए, रहम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिए, महादेव निर्वाण री ॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह बिधि साधो आप आनन्द घन, चेतन मय निष्कर्म री ॥"

इस प्रकार यह शुद्ध अध्यात्म तत्त्व नाम-रूप, जाति-धर्म, वर्ण-संस्कार सबसे ऊपर है। क्रिया-काण्ड, पीत या गैरिक वस्त्रका परिधान, परिधानका परित्याग, तप-ध्यान, ये सब आडम्बर हैं। ये आत्म-बोध-रहित दैहिक-क्रिया-मात्र हैं। इसे कितने परिमित शब्दोंमें दौलतरामने मृदुतापूर्वक समझाया है :

"आपा नहीं जाना तू ने, कैसा ज्ञानधारी रे ?
देहाश्रित कर क्रिया, आप को मानत शिव-मग-चारी रे ॥"

इसी भावको भूधरदासने उदाहरण देकर खोला है :

"अन्तर उज्जल करना रे।
जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयौ, यों ही पचि पचि मरना रे॥
बाहिर भेष क्रिया उर-शुचि सों, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥"

संकलित पदोंकी विशिष्ट आध्यात्मिकता तथा इनके भाव और विचार-तत्त्वको समझनेके लिए उपर्युक्त कथन पर्याप्त होगा। इन पदोंका कवित्व पक्ष भी परिपुष्ट है, इसका अनुमान उक्त उद्धरणोंसे लग गया होगा।

दार्शनिक तत्त्वको समझानेके लिए हमारे कवियोंने जो पदों और भजनोंका माध्यम अंगीकार किया उसके अनेक कारण हैं। एक तो यह कि पदमें कविताके साथ गेय तत्त्व सम्मिलित रहता है। यह संगीत पदोंको राग-लय और तानकी अपरिमित सम्भावनाएँ प्रदान करता है। दूसरे यह कि पदका विस्तार सीमित है, अतः संक्षेपमें सब कुछ आ जाता है। तीसरे यह कि उपर्युक्त विशेषताओंके कारण पद आसानीसे याद हो जाता है। अतः अध्यात्म तत्त्वके चिन्तन और मननमें सहायता मिलती है।

एक बात और। इन पदोंका दैनिक जीवनमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान था, इनका स्पष्ट प्रयोजन था। हमारे आध्यात्मिक जीवनकी यह परम्परा रही है कि प्रायः प्रत्येक धर्म और पन्थके व्यक्ति अपने-अपने धर्म-स्थानोंमें प्रातः-सायं एकत्रित होते थे, वहाँ गुरुका प्रवचन सुनते थे और अन्तमें स्तुतिपदोंका गान होता था। धर्मका यह कितना सुन्दर, सरस और ग्राह्य रूप था। आज भी जिन-मन्दिरोंमें शास्त्र-सभाएँ होती हैं, और ये पद या इसी प्रकारके पद गाये जाते हैं। इस प्रकारका भजन-गान गान्धीजीकी

प्रार्थना-सभाओंका भी मुख्य अंग था। इस संग्रहके एक पदमें दौलतरामजी-ने धार्मिक संगम और धार्मिक प्रवचनका ऐसा सुन्दर चित्र खींचा है कि मन मुग्ध हो जाता है। साधर्मी जन मिलते हैं; प्रवचनकी अमृत झड़ी लगती है — ऐसी कि सहस्र-सहस्र पावस फीके पड़ जायें :

"धन - धन साधर्मी - जन - मिलन की घरी।
बरसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन-झरी॥
जाके बिन पाये भव-विपति अति भरी।
निज-परहित-अहित की कछू न सुधि परी॥
जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
संशय-भ्रम-मोह की सो वासना टरी॥
धन - धन साधर्मी-जन-मिलन की घरी!"

सम्यक्त्वका जो सावन-रूपक दौलतरामने बाँधा है; और भूधरदासने सद्गुरुका स्वरूप दर्शाकर उनकी परीषहोंका जो बारहमासा उपस्थित किया है, वह हिन्दी-साहित्यमें निश्चय रूपसे अद्भुत है। बारहमासा जब सधे स्वरमें गाया जाता है, तो आनन्दाश्रु उमड़ आते हैं। आश्चर्य होता है आध्यात्मिक कविताकी रसदायिनी क्षमतापर। दोनों कविताओंमें-से एक-एक छन्द उद्धरित है। सम्यक्त्व-साधनका रूपक है :

"अब मेरे समकित सावन आयो।
बीति कुरीति-मिथ्यामति-ग्रीषम पावस सहज सुहायो।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति-घटा घन छायो॥
बोले विमल विवेक - पपीहा, सुमति-सुहागिन भायो।"

मुनिराजके बारहमासेका एक छन्द है :

"ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि-जिहाज।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषि राज॥
ते गुरु मेरे मन बसो।

जेठ तपै रवि-आकरो, सूखै सरवर-नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर ॥
पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरु तल निवसैं साहसी, बाजै झंझावार ॥
वे गुरु चरण जहाँ धरैं, जग में तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढ़ौ, भूधर माँगे येह ॥
ते गुरु मेरे मन बसो।"

ऐसे आध्यात्मिक साहित्यके आगे आजके वे सब साहित्यिक विवाद हवा हो जाते हैं, जिनमें प्रश्न उठाये जाते हैं कि 'साहित्यका प्रयोजन क्या है?' 'साहित्यमें रसका क्या स्थान है?' अन्तर्मुखी व्यक्ति-निष्ठ कविता प्रयोजनीय है या नहीं?....आदि

आचार्योंने काव्यका प्रयोजन बताया है :

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥"

अर्थात् काव्य यशोपार्जनके लिए, व्यवहार ज्ञानके लिए, शिवेतर अर्थात् जो शिव (मंगल) से इतर (भिन्न है) उसकी क्षतिके लिए, शीघ्र मुक्तिके लिए और प्रणयिनीके-से मधुर उपदेशके लिए रचा जाता है।

आध्यात्मिक काव्य-रचनामें कविको विपुल यश तो अयाचित ही मिल जाता है, और व्यवहार-ज्ञान उस सीमापर पहुँच जाता हैं जहाँ उसकी प्रतिक्रिया जीवन-तत्त्वके निष्कर्षके रूपमें उसे अध्यात्मकी ओर ले जाती है। शेष तीन प्रयोजन, अर्थात् अमंगलकी क्षति, मोक्षमार्गकी निकट प्राप्ति और मधुर उपदेश यदि आध्यात्मिक काव्यसे पूरे नहीं होते तो संसारके और किसी भी काव्यसे कभी पूरे न होंगे। इस तरह 'अध्यात्म-पदावली' के ६७ पदोंमें भक्ति और ज्ञानका जो भव्य रूप अंकित किया गया है, हिन्दी साहित्यमें वह अद्‌भुत है। श्रद्धा और विवेकका ऐसा सामंजस्य

भी अन्यत्र दुर्लभ है। इन पदोंकी भावात्मक पृष्ठभूमि, विचारोंकी सात्त्विकता, आत्मनिष्ठ अनुभूतिकी गहराई, अभिव्यक्तिकी सुघराई; इनकी सरलता, शालीनता और सरस गेयता सब भव्य हैं। इन सब तत्त्वोंका समन्वय ही विचारशील पाठकके मनमें लोकोत्तर आनन्दकी सृष्टि करता है।

समय आ गया है कि हिन्दी साहित्यके अध्येता अपने इन अध्यात्मस्रष्टा कवि कलाकारोंके साहित्यसे परिचय प्राप्त करें। यह परितापका विषय है कि हिन्दी साहित्यके इतिहास-ग्रन्थ कविवर बनारसीदास, द्यानतराय, दौलतराम, भूधरदास, बुधजन, भागचन्द्र आदिके विषयमें मौन हैं। इनमें-से कईका तो नामोल्लेख भी नहीं। 'अध्यात्म-पदावली' इन कवियोंकी पीयूषवर्षिणी वाणीसे आपके हृदयको हुलसित करेगी।

पण्डित राजकुमारजी साहित्याचार्यने यह संकलन प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्यकी बड़ी सेवा की है। इन पदोंका विशद अर्थ देकर और इन्हें व्याख्यासे समलंकृत कर उन्होंने अध्यात्मरसिक पाठकोंके लिए उपादेय सामग्री जुटायी है। इस रूपमें इन्हें अमूल्य प्रवचन ही समझना चाहिए।

यदि पाठकोंने इस पुस्तकके प्रकाशनको अपनी कृपासे सार्थक किया तो हम संस्कृत-हिन्दीके अन्य कवियोंकी भी आध्यात्मिक रचनाएँ व्याख्या सहित प्रस्तुत करेंगे।

लखनऊ
१८ जुलाई, '५४

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रस्तावना

आध्यात्मिक साधना और उसका विकास

अध्यात्म साधना

संसारका प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःखसे दूर भागता है। सुखी होना उसके जीवनका चरम लक्ष्य है, इसलिए वह इस दिशामें पूर्ण प्रयत्न करता है, साधन-सामग्री भी संगठित करता है; फिर भी लक्ष्य-सिद्धिमें असफल ही रह जाता है। इसका मुख्य कारण है प्राणीकी आत्म-रूप-विस्मृति। जिस प्रकार मदिरा पीकर व्यक्ति आत्म-विस्मृत हो जाता है उसी प्रकार यह प्राणी भी अनादिकालसे मोह-मदिराको पीकर अपने शुद्ध आत्म-स्वभावको भूल रहा है। इस आत्म-विस्मृतिके कारण वह पर-पदार्थोंमें राग करता है, उनका संग्रह करता है और उनमें सुख पानेकी असफल चेष्टा करता है। यह आत्म-विस्मृति ही है जिसके कारण वह आत्म-स्वातन्त्र्यको भूलकर परमुखापेक्षी बनता है और अपनी विभिन्न ऐहिक एषणाओंकी पूर्तिके लिए देवताओंकी शरण खोजता है, – उनकी कृपादृष्टिको जीवनका सर्वार्थसाधक वरदान मानता है और सकोप भ्रूभंगको संहारक अभिशाप। यह भी आत्मविस्मृति ही है; जिसके कारण यह प्राणी जाति, कुल, बल, ऋद्धि एवं प्रतिष्ठादिगत वैषम्यके कारण एक आत्मासे दूसरे आत्माके बीच अन्तर मानता है। आत्म-विस्मृतिके कारण ही यह प्राणी अनादिकालसे अनन्त पीड़ाओंकी विकराल ज्वालामें झुलस रहा है, रो रहा है और चीख़ रहा है। अपनी विवशतापर वह बार-बार खीजता है और मन मारकर रह जाता है। अपनी आत्म-विस्मृति एवं मिथ्याबुद्धिके

कारण ही दुःख-मुक्तिका एक भी उपाय उसे नहीं सूझता है। काल-लब्धि-वश जब इसके मोहका उन्माद कुछ उपशान्त होता है, यह आत्म-दर्शन करता है। उस समय इसे अनुभव होता है : "आत्मन् ! तुम्हारा स्वभाव तो स्वयं अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्यमय है। तुम सुखकी खोजमें न जाने कबसे कहाँ-कहाँ भटक रहे हो। सावधान हो जाओ। तुम अपने अन्दरकी शक्तियोंका विकास करो और तुम्हारे सुखके मार्गमें जो बाधक हों, उखाड़ फेंको उन्हें सदाके लिए। तुम अपनी प्रत्येक क्रियाके लिए सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो। आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तुम्हें किसी भी उद्धारककी ओर सतृष्ण दृष्टिसे देखनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं अपने-आपके मित्र हो। अपनेको छोड़कर बाहर किसे मित्र खोजते हो।[१] आत्म-स्वातन्त्र्य-के लिए सर्वात्मना स्वाश्रयी बनो।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक साधना व्यक्तिकी आत्म-विस्मृति एवं मिथ्यादृष्टिको खण्डित करती है और उसे पूर्णतया सुखी एवं स्वतन्त्र बनानेके लिए स्वावलम्बनके पथपर अग्रसर होनेका दिशा-निर्देश करती है। संक्षेपमें बहिरात्माको परमात्माकी श्रेणी तक पहुँचा देना आध्यात्मिक साधनाका ही सुपरिणाम है।

आध्यात्मिक साधनाके प्राचीन प्रतीक

उपलब्ध साहित्यके आधारपर यह निर्भ्रान्त रूपसे कहा जा सकता है कि उपरिवर्णित आध्यात्मिक साधनाके प्रथम प्रवर्तक जैनियोंके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ हैं, जिन्हें आदि ब्रह्मा कहा गया है और श्रीमद्-भागवतमें जिनका निम्न शब्दोंमें चित्रांकन हुआ है :

"इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवतः ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसो समस्तदुश्चरितानि हरणम्।"

---

१. "पुरिसा, तुममेव तुमं मित्तं, किं बाहिया मित्तमिच्छसि ?"
—आचारांग १–३–३।

इस तरह [हे परीक्षित] सम्पूर्ण वेद, लोक, देव, ब्राह्मण और गौके परमगुरु भगवान् ऋषभदेवका यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया। यह मनुष्योंके समस्त पापोंको हरनेवाला है।

इन्हीं भगवान् ऋषभदेवके गृहत्याग और दिगम्बरत्वके विषयमें वहाँ लिखा है :

"उन्होंने केवल शरीरमात्रका परिग्रह रखा और सब कुछ घरपर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रोंका भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्तका-सा वेश था। इस स्थिति-में आहवनीय अग्निहोत्रकी अग्नियोंको अपनेमें ही लीन करके संन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त देशसे बाहर निकल गये।"[1]

भगवान् ऋषभदेवके उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि आत्म-स्वातन्त्र्यके लक्ष्यसे प्रेरित होकर किस प्रकार उन्होंने आत्मेतर घर और वस्त्रों-जैसी वस्तुओंसे राग-बुद्धि तोड़ी और दिगम्बर होकर आध्यात्मिक साधनाका प्रवर्त्तन किया।

श्रीमद्भागवतमें ही आगे चलकर लिखा है कि भगवान्का शरीर योगमायासे अनेक देशोंमें विचरता रहा और वह दैववश कोंक, बैंक और कुटक आदि दक्षिण कर्णाटकके देशोंमें गया।

उपलब्ध ऐतिहासिक एवं साहित्यिक सामग्रीके आधारपर जब हम भगवान् ऋषभदेव-द्वारा दिगम्बर मुद्रामें तथोक्त देशोंमें दिये गये धार्मिक प्रचारपर दृष्टिपात करते हैं तो हमें इनके धर्ममें एवं वेदोंमें निर्दिष्ट व्रात्य धर्ममें कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। यह वह व्रात्य धर्म था जो भारतवर्ष-के प्राचीनतर मूलनिवासियोंकी नाग, यक्ष, द्रविड़ एवं राक्षस जातियोंमें प्रचलित था।

---

१. श्रीमद्भागवतका अनुवाद ५, २८।

अथर्ववेदमें व्रात्यके सम्बन्धमें लिखा है :

"व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥" [१५.१]

अर्थात् व्रात्यने अपने पर्यटनमें प्रजापतिको शिक्षा और प्रेरणा दी। सायणने व्रात्यकी व्याख्या करते हुए लिखा है :

"कश्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्"

अर्थात् यहाँ उस व्रात्यसे मन्तव्य है जो विद्वानोंमें उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं।

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होनेके कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथब्राह्मण[1] के एक उल्लेखसे प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान-द्वारा सब ओरसे घेरकर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव माननेके कारण भी ये व्रात्य नामसे अभिहित किये जाते थे।

वैदिक साहित्यके अनुशीलनसे तथा लघु एशियायी पुरातत्त्व एवं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरोंकी खुदाईसे प्राप्त सामग्रीके आधारपर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया और मध्य एशियाके देशोंसे होते हुए त्रेतायुगके आदिमें लगभग ३००० ई० पूर्वमें इलावर्त और उत्तर-पश्चिमके द्वारसे पंजाबमें आये थे। उस समय पहलेसे ही द्रविड़ लोग गान्धारसे विदेह तक तथा पांचालसे दक्षिणके मयदेश तक अनेक जातियोंमें विभक्त होकर विभिन्न जनपदोंमें निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं लोकजीवन सर्वांशतः सुव्यवस्थित था। कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य-व्यापार एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। ये जहाजों-द्वारा समुद्री मार्गसे लघु एशिया तथा उत्तर

---

१. "वृत्रो ह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिव्वीयं यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम।" —शतपथ ब्रा० १. १, ३, ४।

पूर्वीय अफ्रीकाके दूरवर्ती देशोंके साथ व्यापार करते थे।

ये द्रविड़ लोग सर्प-चिह्नका टोटका अधिक प्रयोगमें लानेके कारण नाग, अहि, सर्प आदि नामोंसे विख्यात थे। श्यामवर्ण होनेके कारण कृष्ण[1] कहलाते थे। अपनी अप्रतिम प्रतिभाशालिता एवं उच्च आचार-विचारके कारण ये अपनेको दास व दस्यु (कान्तिमान्) नामोंसे पुकारते थे। व्रत-धारी एवं वृत्रके उपासक होनेसे व्रात्य तथा समस्त विद्याओंके जानकार होनेसे द्राविड़ नामसे प्रसिद्ध थे। संस्कृत विद्याधर शब्द 'द्राविड़' शब्दका ही रूपान्तर है। ये अपने इष्टदेवको अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एवं ईश्वर-के नामोंसे अभिहित करते थे। जीवन-शुद्धिके लिए ये अहिंसा, संयम एवं तपोमार्गके अनुगामी थे। इतना ही नहीं ये सांसारिक अभ्युदयसे विरक्त होकर त्यागी, भिक्षाचारी एवं अरण्यवासी बन चुके थे तथा अर्हन्, जिन, शिव, परमेष्ठी एवं ईश्वरका निर्विकार आदर्श ही इनके जीवनका चरम आदर्श था। इनके साधु दिगम्बर होते थे। और बड़े-बड़े बाल रखते थे। बहुत-से वायुके आधारपर ही जीवन-यापन करते हुए निरन्तर आत्म-चिन्तनशील रहते थे[2]। अन्य लोग तपस्या एवं श्रमके साथ साधना करके मृत्युपर भी विजय प्राप्त कर लेते थे[3]।

ये वही व्रात्य साधु थे, जिनके यथार्थ परिचय प्राप्त न होनेसे नवागत आर्यगणने जिन्हें शिश्नदेव एवं केशीदेव-जैसी ग्राम्य संज्ञाओंसे सम्बोधित किया है। शिश्नदेवका अर्थ नग्न दिगम्बर साधु है और केशीका अर्थ है जटाधारी संयमी। ऋग्वेदमें शिश्नदेव दो बार प्रयुक्त हुआ है :

(१) ऋग्वेद ७, २१, ५ में इन्द्रसे प्रार्थना की गयी है कि वह शिश्नदेवको यज्ञके समीप न आने दे!

१. ऋग्वेद ८, ८५–१३–१५।
२. "मुनयो वातरसनाः पिशङ्गा वसते मला।"
—ऋग्वेद १०–१३६–२।
३. "येनातरन्भूतकृतोऽतिमृत्युं यमन्वविन्दान् तपसा श्रमेण।"
—अथर्व० ४–३५–२।

(२) ऋग्वेद १०, ९९, ३ में कहा गया है कि इन्द्रने शिश्नदेवोंका वध किया।

ऋग्वेदके केशीसूक्तमें जिन केशी साधुओंका वर्णन है वह उक्त दिगम्बर व्रात्य साधुओंका ही है। इस सूक्तमें आर्यजनोंकी तथोक्त अनभिज्ञताकी ओर संकेत करते हुए मुनिजन कहते हैं :

"हम समस्त लौकिक व्यवहारोंके विसर्जनसे उन्मत्त (निजानन्द-रस-लीन) हो गये हैं। हम वायुपर चढ़ गये हैं। तुम लोग केवल हमारा शरीर देखते हो। हमारी आत्मा वायुके समान निर्लेप है।"[1]

इस प्रकार इन व्रात्य मुनियोंका जहाँ-जहाँ वर्णन आया है उसमें यही विशेषता दृष्टिगत होती है कि वे शरीरसे निर्मोह, योगियोंकी तरह विचरते थे और इन्द्रिय-निग्रह, त्याग एवं त्रिगुप्ति (मन, वचन तथा कायको संयत करने) का उपदेश देते फिरते थे।

इस कथनसे स्पष्ट है कि व्रात्य मुनियोंकी प्रस्तुत आध्यात्मिक साधना भगवान् ऋषभदेवके द्वारा प्रवर्तित आध्यात्मिक साधनाका ही प्रतिरूप है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ये व्रात्य जन वेदोंको नहीं मानते थे। यही कारण है जो वैदिक आर्य इन व्रात्योंको 'अन्यव्रत' एवं 'अमानुष' आदि कहा करते थे। इतना ही नहीं; आर्यजन इनका वध करनेके लिए इन्द्रसे प्रार्थना करते हुए भी दिखलाई देते हैं :

"यह हमारा अपमान करनेवाला दस्यु अकर्मा (गृहत्यागी), अन्यव्रत (दूसरे व्रतमें दीक्षित) और अमानुष (दूसरी जातिका) है। हे इन्द्र, तुम इस शत्रुका, इस दासका, वध करो।"[2]

---

१. "उन्मादिता मौले येन वातां तस्थिमा वयम्।
शरीरास्माकं यूयं यतीसो (शो) अभिपश्यथ॥"
— ऋग्वेद म० १०,१३६, ३।

२. "अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन्वधर्दासस्य दम्भय॥"

वेदोंमें एक अन्य वर्गका उल्लेख आता है, जिन्हें 'पणि' कहा गया है। यह एक व्यापार-कुशल वर्ग था और इसने पूर्वी तथा दक्षिणी समुद्रके सुदीर्घ तटोंपर बस्तियाँ बसायीं तथा अन्य देशोंके साथ व्यापारिक सम्पर्क स्थापित किये। बल इसका वीर नेता था और यह वैदिक देवता इन्द्रको नहीं मानता था। यह वर्ग भी वेदेतर व्रात्य-साधना अर्थात् आध्यात्मिक साधनाके आदर्शसे प्रभावित था। प्रभावित ही नहीं, उसका उपासक था। यह वर्ग आर्योंमें 'अनिन्द्र' के नामसे विख्यात था। आर्यजन उक्त व्रात्यों एवं पणियोंके प्रभावको देखकर विचलित हो उठे थे। यही कारण है कि वेदमें इन पणियोंके प्रति भी एक चुभती हुई भाषाका प्रयोग हम देखते हैं :

"दहामि संयहीरनिन्द्रा"

अर्थात् जो अन-इन्द्र हैं, उन्हें जला देता हूँ और उनका संहार कर देता हूँ।

वेदोंमें इस प्रकारके सैकड़ों मन्त्र विद्यमान हैं जिनमें तथोक्त 'व्रात्यों', 'अन्यव्रतों' और 'अनिन्द्रों' के विनाशके लिए अत्यन्त करुण रूपमें प्रार्थना की गयी है।

मोहनजोदड़ोकी खुदाईसे कुछ ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रामें हैं, ध्यानमग्न हैं और नग्न दिगम्बर हैं। मूर्तियाँ जटायुक्त हैं। कहीं सिरपर, कहीं पार्श्वमें त्रिशूल बने हैं। हाथी, हिरण, बैल, सिंह आदि पशुओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं। धर्मचक्र एवं विनीत भावसे बैठे उपासक तथा उपासिकाओंके चित्र भी अंकित हैं। तक्षणशैली-गत समानताके आधारपर इन मूर्तियोंको देखकर यह निःशंक कहा जा सकता है कि ये जैन मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियोंमें एक अन्य विशेषता यह है कि इन मूर्तियोंपर या तो फणधारी नाग अंकित है या उनके उपासकोंके सिरपर नागफण उकेरा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि ये उपासक नागवंशी हैं। जैनतीर्थंकर मूर्तियोंमें तेईसवें तीर्थंकर, भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्तिके सिरपर नागफण अंकित करनेकी परम्परा है जो इस बातको द्योतक

है कि तपस्या कालमें भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर उनकी अहिंसक संस्कृतिके विरोधी कमठ नामक साधुने उपसर्ग किया था और नाग जातिके नेता धरणेन्द्रने उसका निवारण किया था।[1] यह नाग जाति, जिसे आज नाग कहा जाता है भारतके प्राग्वैदिक कालके निवासियोंकी वंशज है। इनकी संस्कृति स्पष्ट रूपसे वैदिक संस्कृतिसे भिन्न थी। सम्भव है, भगवान् पार्श्वनाथने भी अपने जन्मसे इस नागजातिको गौरवान्वित किया हो। इन मूर्तियोंमें वृषभ-चिह्नसे अंकित मूर्ति उन आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेवकी है, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें किया गया है। इनपर अंकित गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि जैन संस्कृतिके संरक्षक शासन देवता हैं। बैल, हाथी, घोड़ा आदि चौबीस तीर्थंकरोंके प्रतीक-चिह्न हैं तथा चैत्यवृक्षोंके अंकन विभिन्न तीर्थंकरोंके ध्यानस्थलसे सम्बन्धित हैं।[2]

मोहनजोदड़ोकी ये ध्यानमग्न दिगम्बर मूर्तियाँ भारतके उन आत्म-शोधी साधकोंकी हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक साधनाको ही जीवनका एक-मात्र आदर्श बनाया था और स्वावलम्बनके मार्गपर चलकर पूर्ण आत्म-स्वातन्त्र्य लाभ किया था।

श्रमण-परम्परामें भी आध्यात्मिक साधना ही सदासे जीवनका आदर्श रही है। श्रमण शब्द श्रम धातुसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है आत्म-

---

१. ''बृहत्फणामण्डल-मण्डपेन यं
स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं
विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा॥''

—स्वयम्भूस्तोत्र, २३, २।

२. वैदिक साहित्य (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी) का सम्पादकीय वक्तव्य, पृ० सं० ११–१४।
सर जॉन मार्शल कृत 'मॉहेंजोदरो ऐण्ड इट्स सिविलिजेशन्स'का प्रथम भाग।

विकासके लिए श्रम अर्थात् तप करना। रविषेणकृत पद्मचरितमें लिखा है:[1]

"राजा अपने राज्यको छोड़कर तप करता है और महान् श्रमणके पदको प्राप्त कर लेता है। वास्तवमें तपका नाम ही श्रम है।"

वैदिक साहित्यमें स्थान-स्थानपर ऐसा कथन मिलता है कि "प्रजापतिरश्राम्यत्" अर्थात् प्रजापतिने तप किया।

प्राकृत भाषामें श्रमणके लिए 'शिम्यु' या 'सयुन' का प्रयोग होता था। बादमें इनका संस्कृत रूप श्रमण हो गया।

ऋग्वेद १, १००–१८ में उल्लेख है कि इन्द्रने अनेक आर्यगण-द्वारा आहूत होकर पृथ्वीपर निवास करनेवाले दस्युओं और सिम्युओंको मार डाला।

ऋग्वेद २, १३–९ में कथन है कि इन्द्रने दमितिके लिए १००० दस्यु तथा सयुन पकड़कर बन्दी बनाये थे।

प्राकृतमें श्रमणके लिए सवण, समन, समण एवं समनिय शब्दोंका भी प्रयोग देखा जाता है।[2]

वाल्मीकि रामायणमें उल्लेख आया है[3]:

"महाराज दशरथके यहाँ नित्य ही ब्राह्मण नाथवन्त तापस एवं श्रमण भोजन पाते हैं।"

---

१. "परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य संबन्धं तपो हि श्रम उच्यते॥"

—पद्मचरितम्, ६–२१२।

२. दर्शनपाहुड २६, सूत्रपाहुड १ और पञ्चास्तिकाय २।

३. "ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चापि भुञ्जते॥"

—वाल्मीकि रामायण १४–२२।

उपलब्ध भारतीय वाङ्मयमें श्रमण साधुओंकी जीवन-चर्याके चित्रांकनको देखकर यह बात सहज ही ध्यानमें आ जाती है कि आजसे सुदूरपूर्व कालमें भारतमें आध्यात्मिक साधना किस प्रकार लोकमानसको आच्छन्न किये हुए थी। ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं :

"उक्त तपस्वी मिट्टी और सोनेमें समदृष्टि थे। धर्म, अर्थ और काममें आसक्त नहीं थे। इनका शत्रु और मित्रमें समभाव रहता था। मन, वचन तथा शारीरिक क्रियासे किसीका अपकार नहीं करते थे और इनके रहनेका कोई निश्चित स्थान नहीं रहता था।"

ये प्राय: बस्तियोंसे दूर अकृत्रिम अथवा प्राकृतिक स्थानोंमें गिरि-शिखरोंपर, पहाड़ी गुफाओंमें, नदियोंके तटोंपर, वन-उद्यानोंमें, श्मशान-भूमि तथा वृक्ष-कोटरोंमें, देव-मन्दिरों अथवा किसी सूने स्थानमें निवास किया करते थे। ये प्राकृतिक परीषहोंको सहन करते हुए निर्जन देशोंमें रहते थे। हरितकाय जीवोंकी विराधनासे बचते हुए प्रासुक स्थानोंमें बैठते और बिचरते थे।[१]

उक्त तपस्वी वर्षा ऋतुके सिवाय अधिक दिन तक एक स्थानपर नहीं ठहरते थे। और वर्षा ऋतुके चतुर्मास (आषाढ़का शुक्लपक्ष, सावन, भाद्रपद, असोज और कार्तिकका कृष्णपक्ष) में हिंसाके भयसे कि कहीं उनके चलने-फिरनेसे वर्षाजन्य घास, वनस्पति, गुल्म, लता तथा अन्य छोटे-बड़े प्राणियोंका विघात न हो जाये, ये एक ही स्थानपर रहकर जीवन-निर्वाह किया करते थे, छने हुए पानीको पीते थे, मधुर वाणी बोलते

---

१. श्री कुन्दकुन्दाचार्य – बोधप्राभृत ४२–५६, भावप्राभृत ८७। उत्तराध्ययन सूत्र ३५–६, ७। विनयपिटक – वर्षायनायिका स्कन्धक – प्रथम द्वितीय खण्ड। मूलाचार ६६४–६५२। मनुस्मृति ६, ३९–४६।

वे और कभी भी किसीके साथ क्रोध नहीं करते थे।[1]

ये तपस्वी वर्षाऋतुकी समाप्तिपर जगह-जगह प्रस्थान करते और सब प्रकारकी जनताको धर्मोपदेश देते हुए विहार करते। वर्षाऋतुके अतिरिक्त यदि ये अधिक दिनके लिए किसी स्थानपर ठहर जाते तो जनता-में इस प्रवृत्तिकी टीका-टिप्पणी होने लगती।

ये श्रमण सब प्रकारके परिग्रहसे रहित, अचेलक, यथाजात दिगम्बर रूपमें रहते थे। ये निरायुध, उद्वेग-रहित, शान्त और निर्भय होते थे। वायुकी तरह स्वतन्त्र और निर्लेप होकर बिचरते थे। ये सभी जीवोंके प्रति दया और मैत्रीका भाव रखते थे। जिस प्रकार माता अपने बच्चेका हित चाहती है, वैसे ही वात्सल्य भावसे ये सबके हितैषी थे।[2]

गिरि-गुफाओं एवं वनोंमें वास करते हुए, यद्यपि ये भेड़िया, रीछ, बाघ, चीता, मृग, भैंसा, वराह, शेर और जंगली हाथी आदि हिंस्र जन्तुओं-से घिरे रहते और उनकी भयंकर बोलियाँ भी सुनते फिर भी सदैव निर्भय और निःशंक रहते तथा अपने स्वरूपसे किंचित् भी विचलित नहीं होते थे।[3]

---

१. "वार्षिकांश्चतुरो मासान् विहरेन्न यतिः क्वचित्।
बीजाङ्कुराणां जन्तूनां हिंसा तत्र यतो भवेत्॥
गच्छेत् परिहरन् जन्तून् पिबेत् कं वस्त्रशोधितम्।
वाचं वदेदनुद्वेगां न क्रुद्ध्येत् केनचित् क्वचित्॥"
—स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, अध्याय ४१ तथा नागखण्ड, अध्याय १८५।

२. मूलाचार ७९७–७९८। मज्झिमनिकाय १२वाँ महासीहनादसुत्त। बोधप्राभृत ५१। दशवैकालिक सूत्र १–२,३, १, १०। सूत्रकृताङ्ग १,३,१। उत्तराध्ययन सूत्र ८–३४, ३५।

३. ऋग्वेद १०, १३६। महाभारत, शान्तिपर्व १९२। मूलाचार ७९०।

ये ममत्व-विरत, भोग एवं इच्छाओंसे निवृत्त, स्त्री-पुत्रादिसे निर्लिप्त एकाकी, निःसंग और निरारम्भ विहार करते थे और भिक्षा-द्वारा ही अपनी शरीर-यात्रा किया करते थे।[1]

भिक्षामें, ये साधु सदैव अनुद्दिष्ट आहार ही ग्रहण करते थे। अपने आहारके लिए न तो स्वयं किसीसे संकेत करते थे और न ही निमन्त्रणपर किसीके घर आहारके लिए जाते थे। आहार भी ये मधुकरी वृत्तिसे लेते और वह भी छयालीस दोष टालते हुए। इनका आहार भी शरीरपोषण, आयुवृद्धि एवं स्वादकी दृष्टिसे नहीं, अपितु प्राण-रक्षा, संयम-साधन एवं ज्ञानवर्धनकी दृष्टिसे होता था। वे अनेक दिन, सप्ताह, पक्ष एवं मासों तक अनशन करते हुए दिनमें केवल एक बार ही आहार स्वीकार करते थे। भोजनकी बेलामें यदि इन्हें दाताके द्वारपर कुत्ता, बिल्ली-जैसे हिंस्र जन्तुओंके दर्शन हो जाते तो यह इनके आहारमें अन्तराय माने जाते और तब ये आहार लिये बिना ही शान्तभावसे वनकी ओर वापस हो जाते थे।[2]

ये समस्त प्राणियोंपर दया करते हुए कभी भी रात्रिके समय भोजन नहीं करते, न बिना देखे और शोधे भूमिपर चलते, न अनछने पानीको पीते और न किसीसे कठोर एवं हानिकारक भाषाका प्रयोग करते थे।[3]

---

१. "तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ताः विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥"
— मुण्डकोपनिषद् १, २, ११।

२. मूलाचार ९३४–१०००। बोधप्राभृत ४९। उत्तराध्ययन सूत्र ३५वाँ अध्याय। मनुस्मृति ६, १९–४९। मुण्डक उपनिषद् १, २, ११।

३. मूलाचार ४७९–४८१। सूत्रकृताङ्ग १, १, ४–४३, २-२-७२, ७३। दशवैकालिक सूत्र १-४। मनुस्मृति ६, ५५-५८। महाभारत, शान्ति पर्व अ०९।

'उक्त मुनिजन संसारकी समस्त कामनाओंसे विरक्त होकर तत्त्वबोध, जीवन-शोधन तथा आत्म-चिन्तन आदि स्व-पर-कल्याणकारिणी प्रवृत्तियोंमें ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करते थे।'[२]

जैन परम्परामें अध्यात्म

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका एक स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र विचार-धारा है और प्रत्यक्ष एवं परोक्षात्मक विश्व-प्रपंचके निरूपणकी अपनी स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन शब्द 'जिन' शब्दसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अपने आत्म-स्वातन्त्र्य-लाभके लिए जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करने-वाला। और 'जयति कर्मशत्रून् इति जिनः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो कर्मशत्रुओंके ऊपर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करता है वह 'जिन' कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शनका अर्थ होता है आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तथोक्त जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाले व्यक्तिकी विश्व-प्रपंचके सम्बन्धमें सुचिन्तित दृष्टि।

जैनदर्शनकी मान्यता है कि यह दृश्यमान एवं परोक्ष सत्तात्मक विश्व, चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्त्वोंका पिण्ड है। अनादि है, अनन्त है। दूसरे शब्दोंमें यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका पिण्ड है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनका अर्थ है उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। प्रत्येक द्रव्य वर्त्तमान पर्याय छोड़कर उत्तरवर्ती पर्याय स्वीकार करता है; फिर भी

---

१. मनुस्मृति ६, ३९–४६। स्कन्दपुराण, काशीखण्ड अ० ४१–८२। विष्णु-धर्मोत्तर, द्वितीय भाग, अध्याय १३१।

२. विशेष जानकारीके लिए देखिए, श्री बाबू जयभगवान वकीलका "भारत देश योगियोंका देश है" शीर्षक लेख।

—अनेकान्त, वर्ष १२।२।

अपनी स्वाभाविक धाराको नहीं छोड़ता है, द्रव्यका यही प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व है। इनमें-से धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य – इन द्रव्योंमें सदैव सदृश परिणमन ही होता है। इसका अर्थ है कि इनमें प्रति समय परिवर्तन होनेपर भी ये द्रव्य सदैव एक-से ही बने रहते हैं और उनके स्वरूपमें तनिक भी विकृति नहीं आने पाती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्योंका यह हाल नहीं है। उनमें सदृश और विसदृश – शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं।

जिस समय रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणात्मक पुद्गल परमाणु अपनी विशुद्ध परमाणु-दशामें परिणमन करते हैं, तब यह इनका सदृश अर्थात् शुद्ध परिणमन कहा जाता है और जब दो या दोसे अधिक परमाणु स्कन्ध-दशामें परिणत होते हैं तब यह इनका विसदृश अर्थात् अशुद्ध परिणमन कहा जाता है।

ठीक ऐसी ही परिणमन-प्रक्रिया जीव द्रव्यकी है। जीव जबतक संसारमें है और कर्म-बन्धनसे आबद्ध है तबतक यह भी वैभाविक अर्थात् अशुद्ध परिणमन करता है; पर-पदार्थोंको अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है। अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको छोड़कर स्वयंको अन्य अनात्मीय भावोंका कर्त्ता मानता है और आत्म-ज्ञानसे इतर अनात्मीय भावोंमें ही तन्मय रहता है। परन्तु ज्यों ही इसे अपने आत्म-स्वरूपका बोध होता है, यह पर-वस्तुओंसे अपनी ममत्व परिणति दूर कर लेता है और कर्मबन्धनसे निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्यमें रमण करने लगता है। जीवकी संसार-दशाका प्रथम परिणमन वैभाविक एवं अशुद्ध परिणमन है और मुक्तदशाका द्वितीय परिणमन पूर्णतया आत्माश्रित होनेके कारण स्वाभाविक एवं शुद्ध परिणमन है।

इस प्रकार जैनदर्शनमें विश्वको प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाले छह द्रव्यों – जड़ और चेतन – का पिण्ड माना गया है। 'विश्व केवल चैतन्य-

मय ही है ।' चैतन्याद्वैतवादियोंकी यह मान्यता उसे मान्य नहीं है; क्योंकि विशुद्ध परब्रह्म – चैतन्यसे विविध प्रपंचमय जड़ जगत्की उत्पत्ति माननेमें उसे अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं,[1] जिनका चैतन्याद्वैतवादियोंके पास कोई समाधान नहीं है ।

इसी तरह विश्वको केवल जड़रूप माननेवाले चार्वाकका सिद्धान्त भी स्वीकार्य कोटिमें नहीं है; क्योंकि जड़ात्मक जगत्में 'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं रंक हूँ, मैं राजा हूँ' इत्यादि प्रकारकी अहं प्रत्ययवेद्य—अर्थात् 'मैं' के ज्ञानसे अनुभूत होनेवाली आत्मानुभूति नहीं होनी चाहिए । परन्तु इस प्रकारकी अनुभूति होती अवश्य है । अतः जैनदर्शनका जड़ और चैतन्य तत्त्वोंके पिण्डके रूपमें किया गया उक्त विश्व-रूप-दर्शन सत्य है – अभ्रान्त है ।

यतः जैनदर्शन, जिनदर्शन अर्थात् आत्मदर्शनका ही रूपान्तर है, अतः इसमें आत्माकी दशाओंका, उसकी बद्ध और अबद्ध स्थितिका और उसके कारणोंका बहुत विशद एवं विधिवत् विश्लेषण हुआ है । जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसने व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्तिको प्रश्रय दिया । बौद्धदर्शनकी मान्यता भी अंशतः इस मान्यतासे मिलती-जुलती है; परन्तु नैयायिक आदि दर्शनोंमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार नहीं किया गया है । इसके विपरीत वहाँ परावलम्बनका ही उद्घोष सुनाई देता है । इसकी मान्यता है :

---

१. शुद्ध ब्रह्ममें विकार न हो सकनेसे यह विविध प्रपंचात्मक जगत् कहाँसे उत्पन्न हुआ ? माया इसमें कारण नहीं हो सकती । मायाको सत् माननेपर अद्वैत-वादकी मान्यता खण्डित होती है और असत् माननेपर विशुद्ध ब्रह्ममें उसके द्वारा कोई क्रिया नहीं की जा सकती । अवस्तुमें कर्तृत्वकी कल्पना करना एकदम अविचारपूर्ण है ।

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥"

अर्थात् यह प्राणी अज्ञ है, अतएव अपने सुख-दुःखका स्वामी नहीं है। ईश्वरकी इच्छानुसार ही यह स्वर्ग अथवा नरकमें जाता है।

इसके विपरीत जैनदर्शनमें आत्माको ही उसकी स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिणतिका कर्ता माना गया है और अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशामें यह आत्मा ही स्वयं परमात्मा हो जाता है। संक्षेपमें जैनदर्शनके अध्यात्मवादका यही रहस्य है। इस प्रकार जैन आध्यात्मिक विश्वके यथार्थरूपमें दर्शन करता है और जड़ तत्त्वसे पृथक् आत्म-स्वातन्त्र्यका अनुभव करता हुआ उसके लाभके लिए स्वावलम्बनके पथपर प्रयाण करता है।

आत्माका स्वरूप

यतः अध्यात्मकी आधारशिला आत्मा है; अतः आत्म-स्वरूपकी यथार्थ जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। आत्माके सम्बन्धमें विभिन्न दार्शनिकोंने गहन चिन्तन किये हैं और अपनी-अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ स्थिर की हैं; परन्तु वे सब एकान्त दर्शनपर आधारित हैं और यही कारण है कि वे अनन्तधर्मा आत्मस्वरूपका स्पर्श नहीं कर पातीं। जैनदर्शनमें आत्मस्वरूपका अनेकान्तदृष्टिसे किया गया सर्वांगपूर्ण विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने जीवकी निम्न व्याख्या की है[१]:

"जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥"

अर्थात् जीव उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, स्वदेहप्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है।

१. द्रव्यसंग्रह २।

जीव उपयोगमय है

जीव आत्माका ही नामान्तर है । वह उपयोगमय है, इसका यह अर्थ है कि उपयोग जीवका स्वरूप है । ज्ञान और दर्शनकी उपयुक्त अवस्थाको उपयोग कहते हैं । ज्ञान और दर्शनका अर्थ है जानना और देखना । मथितार्थ यह हुआ कि जानना और देखना जीवका स्वभाव है । जीवकी जानने और देखनेकी क्रिया निरन्तर गतिशील रहती है । एक क्षणके लिए भी वह इस उपयोगात्मक स्वभावको नहीं छोड़ता । यह अवश्य है कि संसार-दशामें कर्मावृत होनेके कारण जीव अपनी योग्यताके अनुरूप ही पदार्थोंको जानता और देखता है, उसके निःशेष ज्ञान और दर्शन गुणके प्रतिबन्धक कारणोंके सद्भावसे वह सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान और दर्शन नहीं कर पाता; परन्तु मुक्त दशामें ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके दूर होते ही वह विश्वका ज्ञाता और द्रष्टा हो जाता है । जीवको उपयोगमय बतलानेका यही आशय है

जीव अमूर्त है

जीवका दूसरा स्वरूप अमूर्त है। मूर्तका अर्थ है, जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श–ये चार गुण पाये जायें । इस व्याख्याके अनुसार पुद्गल द्रव्य ही मूर्त ठहरता है। जीव मूर्त नहीं है; क्योंकि उस पुद्गलके उक्त चार गुण नहीं पाये जाते । उसके गुण तो ज्ञान और दर्शन हैं, जो अमूर्त हैं । जीव यद्यपि संसार-दशामें इन्द्रियोंकी सहायतासे जानता-देखता है, फिर भी ज्ञान और दर्शन इन्द्रियोंका धर्म नहीं है । यही कारण है कि जीव न तो इन्द्रियों-की तरह मूर्त स्वभावी है और न इन्द्रियोंमें जीवकी तरह अमूर्त धर्मकी कल्पना की जा सकती है । इसी प्रकार यद्यपि संसार-दशामें कर्मबद्ध होनेके कारण जीव और पुद्गलमें ऐक्य दिखलाई दे रहा है; तथापि जीवका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और पुद्गलका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व । सम्बन्धगत ऐक्यके कारण दोनों ही अपना द्रव्यगत धर्म नहीं छोड़ सकते ।

जीव कर्ता है

जैनदर्शनमें जीवको कर्त्ता माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जीव अपनी संसार और मुक्त–दोनों दशाओंका स्वयं कर्त्ता है। सांख्यदर्शन आत्माको कर्त्ता स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यतामें वह सर्वथा अविकारी कूटस्थ नित्य एवं सर्वव्यापक है, निष्क्रिय है और अकर्त्ता है। क्रियाशीलता केवल प्रकृतिका धर्म है। इस दर्शनमें आत्माको पुरुषके नामसे अभिहित किया गया है। सांख्यकारिकामें प्रकृति और पुरुषका निम्नलिखित लक्षण पाया जाता है :[1]

"त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥"

अर्थात् जो त्रिगुणमय, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है वह प्रकृति है और इससे विपरीत जो त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है, वह पुरुष है।

इस प्रकार एक ओर सांख्यदर्शन आत्माको भोक्ता मानता है और दूसरी ओर निष्क्रिय और अकर्त्ता। यह मान्यता वस्तु-व्यवस्था सम्बन्धी अज्ञानको सूचक है। क्योंकि प्रथम तो जब प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक स्वभावका कर्त्ता है तब आत्म-द्रव्यका कर्तृत्व भी अक्षुण्ण है ही। दूसरे कर्त्ता कोई और हो और भोक्ता कोई और, यह बात भी विचार-तुलापर खरी नहीं उतरती। फिर कूटस्थ नित्य और निष्क्रिय आत्मामें अर्थक्रियाकारिता न हो सकनेसे आत्मा अवस्तु ठहर जाता है।

जीव स्वदेह प्रमाण है

वेदान्त दर्शनमें आत्माको व्यापक और एक माना गया है। उसकी मान्यता है कि इस अखिल ब्रह्माण्डमें एक आत्माका ही प्रसार है। आत्मा-

१. सांख्यकारिका ११।

को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। सांख्य, योग और मीमांसा दर्शन भी आत्माको व्यापक मानते हैं। एक अन्य मान्यता आत्माको अणु परिमाण स्वीकार करती है, परन्तु जैनदर्शन उसे स्वदेह प्रमाण मानता है और यह मान्यता ही आकारदृष्टिसे आत्म-स्वरूपका यथार्थ चित्र अंकित करती है; क्योंकि एक तो संसारी आत्मा अपने शरीरको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। दूसरे शरीरके किसी एक अंग मात्रमें ही उसकी अनुभूति नहीं होती है। यह अवश्य है कि जिस प्रकार एक कमरेसे घड़ेके अन्दर स्थानान्तरित किये गये प्रदीप-प्रकाशके परमाणुओंमें संकोच-विस्तार पाया जाता है, उसी प्रकार लघु और महत् शरीरके आधारपर एक आत्म-द्रव्यके प्रदेशोंमें भी संकोच-विस्तार होता है। इस प्रकार प्रत्येक दशामें रहता वह स्वदेह प्रमाण ही है। किसी भी दशामें उसमें न्यूनाधिकता नहीं आती।

जीव भोक्ता है

जैनदर्शनमें जहाँ प्रत्येक द्रव्यको अपने-अपने गुण-पर्यायोंका कर्त्ता माना गया है वहाँ भोक्तृत्व योग्यता जीवमें ही मानी गयी है। जीवके सिवाय अन्य द्रव्य जड़ हैं, उनमें भोग करनेकी योग्यता नहीं है। जीवमें यह भोक्तृत्व योग्यता भी स्वद्रव्यके भोगपर ही आधारित है। वह किसी भी स्थितिमें पर-पदार्थोंका भोग नहीं करता। जहाँ भी पर-पदार्थोंमें जीवके भोक्तृत्वकी कल्पना की जाती है, वह मिथ्यात्व-विलासके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तुतः होता यह है कि भोग-कालमें इन्द्रियाँ पर-पदार्थोंसे संयोग करती हैं और उनका ज्ञान ही जीवके सुख-दुःखके वेदनमें निमित्त बनता है, परपदार्थ नहीं। अतः जीव सदैव स्वद्रव्यका ही भोग करता है, परका नहीं।

जीव सिद्ध है

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है अन्य द्रव्योंकी तरह जीव भी एक

स्वतन्त्र द्रव्य है। अनादिकालीन कर्म-शरीरसे बद्ध होनेके कारण ही वह संसार-दशाका भोग करता है; परन्तु ज्यों ही कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है अपने शाश्वत सिद्धत्वको प्राप्त कर लेता है और सदाके लिए अपने इस विशुद्ध स्वभावमें रममाण बना रहता है। इस प्रकार सिद्धत्व भी जीवका स्वभाव है।

जीव ऊर्ध्वगति है

यह एक गम्भीर प्रश्न है कि कर्म-बन्धनसे मुक्त होते ही जब यह जीव अपने विशुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है तब यह जाता कहाँ है? आत्म-विभुत्ववादी वेदान्त दर्शनके सामने तो सिद्धान्ततः यह प्रश्न आता ही नहीं। जीवके स्वदेहप्रमाणवादी जैनदर्शनके सामने अवश्य यह प्रश्न रहा है और यही कारण है कि हम उसमें इस प्रश्नका एक सुचिन्तित उत्तर भी पाते हैं। इस सम्बन्धमें जैन दर्शनकी मान्यता है कि ज्यों ही यह जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है लोकके अन्त तक ऊपर चला जाता है[१]। नीचे, तिरछे इसलिए नहीं जाता है कि वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। स्वाभाविक ऊर्ध्व-गतिको छोड़कर जीवकी विपरीत गतिके उत्तरदायी हैं कर्म-संग और प्रतिबन्धक कारणोंका सद्भाव। ज्यों ही यह जीव कर्म-संगसे मुक्त होता है तथा इसके अन्य जन्मके कारण गति, जाति आदि कर्म-बन्ध छिन्न हो जाते हैं, यह ऊपर चला जाता है[२]। जीवके ऊर्ध्वगमनका एक कारण यह भी है कि इसने अपनी संसार-दशामें मुक्त होनेके लिए अनेक बार प्रयत्न किये हैं, इसलिए जिस प्रकार कुम्हारके हाथ और दण्डेसे चाकको एक बार घुमा देनेपर वह चाक पूर्व संस्कारसे बराबर घूमता रहता है, उसी प्रकार

१. "तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।"

—तत्त्वार्थसूत्र १०।५।

२. "पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।"

—तत्त्वार्थसूत्र १०।६।

मुक्तिके लिए किये गये पूर्व-प्रयोगके कारण पूर्व संस्कारवश यह मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वगमन करता है। ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोकके अन्तमें इसलिए ठहर जाता है कि लोकके बाहर गमन-निमित्तक धर्म द्रव्यका अभाव है[१]।

पारतन्त्र्यका कारण

ऊपरके लेखसे स्पष्ट है कि जैन मान्यतामें अन्य द्रव्योंकी तरह जीव अपनी विशेषताओंके साथ एक स्वतन्त्र द्रव्य है और अपने स्वातन्त्र्यको प्राप्त करना उसका स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। इसके अतिरिक्त यह भी मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें किसी प्रकारकी भी विशेषता उत्पन्न नहीं कर सकता है।[२] ऐसी स्थितिमें संसार-दशाका यह जीव किस कारण परतन्त्रपरिणमन करता है ? क्योंकर परतन्त्रताके पाशमें बद्ध होकर पीड़ित हो रहा है ? उक्त मान्यताके अनुसार कर्मको इसका निमित्त नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि वह एक पर पदार्थ है। वह जीवको न बन्धनमें डाल सकता है और न उन्मुक्त कर सकता है।

जैन दर्शनमें इस प्रश्नपर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। वह कहता है कि जीवकी स्वयंकी दुर्बलता ही उसके पारतन्त्र्यका कारण है। अन्य द्रव्योंका इसमें तनिक भी अपराध एवं निमित्तता नहीं है। जीवका अज्ञान ही इसमें अपराधी है और ज्यों ही यह अपने अज्ञानको दूर करता है, वह ज्ञानमय अर्थात् पूर्ण स्वातन्त्र्य-सम्पन्न हो जाता है।[३]

---

१. "धर्मास्तिकायाभावात्" —तत्त्वार्थसूत्र, १०।८।

२. "अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥"
—समयप्राभृत ३७२।

३. "यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्यबोधोऽस्मि बोधः॥"
—आचार्य अमृतचन्द्र, समयप्राभृत ३७२।

इस प्रकार यद्यपि जीव अपनी दुर्बलताके लिए स्वयं अपराधी है; परन्तु एकान्त रूपसे ऐसी बात नहीं है। जीवकी इस स्थितिके लिए कर्मको अवश्य ही निमित्त स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि वह संसारका मुख्य कारण है। उसके बिना जीव संसार-दशामें रह नहीं सकता। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि जीवकी संसार और मुक्ति दशाकी कुंजी कर्मके हाथमें है। अपनी दोनों दशाओंका कर्त्ता जीव ही है। जीव ही अपने अज्ञानके कारण कर्मनिमित्तक वैभाविक परिणमन करके संसार-बन्धका सृजन करता है और जीव ही अपने आत्म-बोधसे वैभाविक परिणतिको दूर कर निर्बन्ध होकर आत्म-स्वातन्त्र्यका लाभ करता है।

जीवकी यह अज्ञानमूलक दुर्बलता स्व-परविवेकके बिना दूर नहीं हो सकती। इसके होनेपर ही जीवको आत्म-स्वभाव तथा पर-द्रव्योंकी यथार्थ जानकारी होती है और इसके होनेपर ही यह अपने आत्म-स्वरूपमें रुचि रखता हुआ आत्म-स्वातन्त्र्य-लाभके लिए यत्नशील होता है। इस आत्म-जागरणको पुण्य वेलामें ही यह अपनी बन्ध-दशा और उससे मुक्त होनेके प्रश्नपर गम्भीर विचार करता है और शाश्वत मुक्ति प्राप्त करनेके लिए सुदृढ़ निश्चय करता है।

बन्ध और उसके कारण

जैन दर्शनमें जीवकी इस बन्ध और मुक्त दशाके स्वरूप और उसके कारणोंपर बड़ा वैज्ञानिक विवेचन उपलब्ध होता है। जीव और उसके पारस्परिक बन्धनका अर्थ है बन्ध। यह दो प्रकारका होता है — एक द्रव्यबन्ध और दूसरा भावबन्ध।[1] कर्मोंका आत्म-प्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध है और कर्मबन्धके कारण जीवके राग-द्वेष आदि विभाव भावबन्ध हैं। जीव और कर्म-पुद्गल — दोनोंमें बन्धकी योग्यता है। इस योग्यताके

१. "नानाप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" —तत्त्वार्थसूत्र ८।२४।

कारण जीव और कर्म-पुद्गलोंका प्रतिसमयपर गुणाकार परिणमन होता है।[1] अर्थात् जीवकी प्रतिसमयकी परिणति स्वतन्त्र न होकर पुद्गल-निमित्तक होती है और पुद्गलोंकी परिणति भी स्वतन्त्र न होकर जीवके परिणामोंके अनुरूप विविध प्रकारके कर्म रूपसे होती है। जीव और पुद्गलोंका यही बन्ध है, यही पारतन्त्र्य है। प्रस्तुत बन्धदशामें जीव, पुद्गलके अधीन रहता है और पुद्गल जीवके अधीन। यह लक्ष्यमें रखने-की बात है कि जिस समय जीव-द्वारा कर्म पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, उसी समय उनमें चार प्रकारके अंशोंका निर्माण होता है और वे अंश ही बन्धके प्रकार कहलाते हैं। जिस प्रकार गाय-भैंस आदिके द्वारा खाया गया घास आदि जिस समय दूधके रूपमें परिणत होता है उसी क्षण उसमें मधु-रता आदि स्वभाव तैयार होता है, उस स्वभावके किसी निश्चित समय तक उसी रूपमें बने रहनेकी काल-मर्यादा निर्मित होती है, उस माधुर्य स्वभावमें तीव्रता-मन्दता आदि विशेषताएँ भी निष्पन्न होती हैं; और साथ ही इस दूधका पौद्गलिक परिमाण भी निर्मित होता है; इसी प्रकार जीव-द्वारा गृहीत तथा आत्म-प्रदेशोंमें संश्लिष्ट कार्माण वर्गणाओंमें भी चार प्रकारके अंशोंका निर्माण होता है।

कर्म-पुद्गलोंमें जो ज्ञानको आवृत करना, सुख-दुःख देने आदिकी प्रकृति बनती है; यह प्रकृतिबन्ध है। स्वभाव बननेके साथ ही उस स्वभाव-के किसी निश्चित समय तक उसी रूपमें रहनेकी जो काल-मर्यादा निश्चित होती है, वह स्थितिबन्ध है। प्रकृति-निर्माणके साथ ही उसमें तीव्र-मन्द रूपसे फलानुभव करानेकी विशेषताएँ निष्पन्न होती हैं, जिसे अनुभागबन्ध कहा जाता है। इसी प्रकार जीवके द्वारा ग्रहण किये जानेपर विभिन्न

---

१. "बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात् पारिणामिकी।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः॥"

—पञ्चाध्यायी २।१३०।

प्रकृतिवाली कर्म-पुद्गलराशिका जब प्रकृतिके अनुसार निश्चित परिमाणमें विभाजन होता है, तब यह परिमाण-विभाजन प्रदेशबन्ध कहलाता है।

यद्यपि एक समयमें जीव जिस कर्म-पुद्गलराशिको ग्रहण करता है, वह अनेक स्वभावोंको लिये होती है और उसके प्रभाव भी असीम हुआ करते हैं, तथापि जैन-दर्शनमें मूल रूपसे उन स्वभावोंको ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके नामसे आठ भागोंमें विभक्त किया गया है। जिसके द्वारा विशेष ज्ञानका आवरण हो वह ज्ञानावरण है। जिसके द्वारा दर्शन – सामान्य अवलोकन – का आवरण हो वह दर्शनावरण है। जिसके द्वारा सुख-दुःखका अनुभव हो वह वेदनीय है। जिसके द्वारा आत्मामें मोह जागृत हो वह मोहनीय है। जिससे भव धारण किया जाये वह आयु है। जिससे गति जाति आदि प्राप्त हो वह नाम है। जिससे उच्चता और नीचता मिले वह गोत्र है और जो आत्माके दान-लाभ आदिमें विघ्नकारी हो वह अन्तराय है।[1]

जैनदर्शनमें कर्मबन्धके पाँच कारण बतलाये गये हैं[2] – १. मिथ्यादर्शन, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। मिथ्यादर्शनका अर्थ है मिथ्यादृष्टि अर्थात् असत्य दर्शन। मिथ्यादर्शनके निमित्तसे यह जीव यथार्थ आत्म-दर्शन नहीं कर पाता। आत्मदर्शन न कर सकनेके कारण इसकी रुचि आत्माभिमुख न होकर पराभिमुख रहती है जिसके कारण यह जीव पर-पदार्थोंमें ही निरन्तर राग-बुद्धि और आत्म-बुद्धि रखता है। शरीरकी उत्पत्तिको अपना जन्म मानता है और उसके विनाशको आत्मनाश। लौकिक ख्याति, लाभ और पूजाकी दृष्टिसे विभिन्न अनुष्ठान करता

---

१. जैन कर्म-सिद्धान्तके अध्ययनके लिए 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' (आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती) आदि ग्रन्थोंको देखिए।

२. "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः।"

—तत्त्वार्थसूत्र, ८।१।

है और उनमें धर्मकी गन्ध देखता है। अनेक मूढ़ताएँ अपनाता है। भय, आशा और स्नेहसे कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रकी उपासना करता है। जाति, ज्ञान, कुल आदिके अहंकारमें चूर रहता है और ऐहिक तथा पार-लौकिक आदि भयोंसे उसका आत्मा निरन्तर आक्रान्त रहता है। शंका, भोगैषणा, घृणा और द्वेष आदि दुर्वृत्तियाँ उसके जीवनको सदैव दूषित किये रहती हैं। यह सब मिथ्यादर्शन – आत्म-स्वरूपकी विस्मृतिका ही परिणाम है और कर्म-बन्धका प्रमुख कारण है। इस प्रकारकी दृष्टि-मूढ़ता आत्मामें दर्शनमोहनीय नामक कर्मके उदयसे उदित होती है।

जिसके कारण यह आत्मा निरन्तर जीव-हिंसा तथा इन्द्रिय-भोगमें आसक्त रहता है और इनसे विरत होनेकी तनिक भी प्रवृत्ति नहीं करता है वह अविरति है। इस प्रकारकी परिणति चारित्रमोह नामक कर्मके उदयसे होती है और फलस्वरूप न तो यह आत्मा गृहस्थके चारित्रका पालन कर पाता है और न मुनियोंके चारित्रका ही।

प्रमादका अर्थ है कर्त्तव्य कार्योंमें आदरभाव न होना। जब आत्मा पञ्चेन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त रहता है, क्रोध, मान, माया और लोभमयी प्रवृत्ति करता है, राजा, चोर, स्त्री एवं भोजन-कथाओंमें तन्मय रहता है तथा निद्रा और प्रणयका दास रहता है, तब कर्त्तव्य कार्योंसे यह विमुख हो जाता है। इस प्रकार आत्म-विकासी कर्त्तव्य-कार्योंके प्रति अनादर करनेसे प्रमाद परिणति बन्धकी ही जननी है।

कषायका अर्थ है कसना। अर्थात् जो आत्माके परम शान्त स्वरूपका घात कर उसे अशान्त और विकृत बनाये वह कषाय है। कषायके चार भेद हैं :

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ : यह कषाय स्वरूपाचरण चारित्रमें प्रतिबन्धक है और अनन्त संसारका कारण है। इसके निमित्तसे होनेवाली आत्म-मलिनता पत्थरकी रेखाके समान बड़ी कठिनाईसे दूर होती है।

२. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ : यह कषाय देश-चारित्र (गृहस्थचारित्र) में प्रतिबन्ध डालती है। इस कषायकी जाति मिट्टीकी रेखाके समान है।

३. प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ : यह कषाय सकल-चारित्र (मुनि-चारित्र) में बाधा डालती है। इसकी जाति धूलिगत रेखाके समान है।

४. संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ : यह कषाय पूर्ण चारित्रमें कुछ दोष उत्पन्न करती है और यथाख्यात चारित्रमें प्रतिबन्ध करती है। इसकी जाति जल-रेखाके समान है।

उक्त चारों कषाएँ कर्म-बन्धमें कारण हैं और आत्म-स्वरूपको विकृत करनेवाली हैं।

योगका अर्थ है मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाला आत्म-प्रदेशोंका परिस्पन्द। इस प्रकार मनोयोग, वचनयोग तथा काययोगसे जो आत्म-प्रदेशोंमें क्रिया होती है वह कर्म परमाणुओंसे बन्ध करानेमें निमित्त होती है, अतः योग-परिणति भी बन्धका कारण है। इस योग-परिणतिके कारण जीवन्मुक्त दशामें भी आत्मामें पूर्ण निर्मलता नहीं आने पाती है। योगातीत-सिद्ध दशामें ही यह आत्मा पूर्ण विशुद्ध एवं निर्विकार हो पाता है।

जहाँ उक्त मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्धके कारण हैं, वहाँ इन्हें आस्रव-कर्मागमनमें भी निमित्त माना गया है। यह आस्रव भी दो प्रकारका है—एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। आत्माके जिन भावों-द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है वह भावास्रव है और कर्मपुद्गलों-का आना द्रव्यास्रव है। इस प्रकार जबतक कर्मास्रवकी धारा और बन्ध-परम्परा गतिशील रहती है, जीवका संसारवास अधिकाधिक रूपसे स्थिरत्व ग्रहण करता रहता है।

परन्तु ज्यों ही आत्मामें स्व-परविवेककी ज्योति चमकने लगती है, वह अपनी चिरकालीन आत्म-विस्मृतिकी भूलका परिमार्जन करनेके लिए कटि-

बद्ध हो उठता है। अपना पारतन्त्र्य-पाश उसे असह्य प्रतीत होने लगता है और मनसा वाचा कर्मणा वह मुक्ति-मार्गका पथिक बन जाता है।

मोक्ष और उसके कारण

मुक्ति और मोक्ष नामान्तर हैं। मोक्षका अर्थ है बन्धके कारणोंका अभाव हो जाना और संचित कर्मोंका निर्जीर्ण हो जाना।[1] इस प्रकार जब आत्मा निखिल कर्म-मलसे निर्मल होकर निर्विकार हो जाता है और इसका अनन्त ज्ञान, सुख आदि गुणमय परम स्वातन्त्र्य अपनी अनुपम आभासे प्रभासित हो उठता है, आत्माकी यह परम वीतराग परिणति ही मोक्ष कहलाती है। संसार-दशामें वैभाविक शक्तिके कारण आत्माके ज्ञान आदि गुणोंका वैभाविक परिणमन होता रहता है; परन्तु मोक्ष-दशामें वैभाविक शक्तिका स्वाभाविक परिणमन होता है; फलतः आत्माके समस्त गुण अपने-अपने उपाधि-जन्य मालिन्यको दूर कर स्वाभाविक दीप्तिसे दीप्तिमान हो उठते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण आत्म-विकासका नाम ही मोक्ष है।

मोक्षके सम्बन्धमें विभिन्न दार्शनिकोंकी विभिन्न मान्यताएँ हैं। सांख्य-का सिद्धान्त है :[2]

पुरुषका स्वरूप चैतन्य है। ज्ञान चैतन्यसे पृथक् वस्तु है। ज्ञान प्रकृतिका धर्म है, यही ज्ञेय पदार्थोंको जानता है। चैतन्य पदार्थोंको नहीं जानता है। मोक्ष अवस्थामें आत्मा चैतन्यस्वरूप रहता है, ज्ञान-स्वरूप नहीं।

परन्तु इस सांख्य-सम्मत मोक्षकी मान्यतामें अनेक दूषण हैं। पहली बात तो यह है कि ज्ञानसे भिन्न चैतन्य कोई वस्तु नहीं है। चैतन्य, ज्ञान, बुद्धि आदि पर्यायवाची शब्द हैं, इनमें अर्थभेद नहीं है। चैतन्यका स्वरूप

---

१. "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।"
—तत्त्वार्थसूत्र, १०।२।

२. "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति" —योगभा०, १।९।
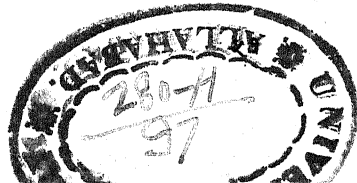
है, स्व-परपदार्थोका बोध। यदि चैतन्यमें यह स्व-परपदार्थबोधकता न हो तो वह असत् हो जायेगा। ज्ञेयको न जाननेवाला चैतन्य अपने-आपमें कोई वस्तु नहीं है।

वैशेषिककी मान्यता है कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार – आत्माके इन नौ गुणोंके आत्यन्तिक उच्छेदका नाम मोक्ष है।[1] ये विशेष गुण आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। यत: मोक्षमें आत्मा और मनका संयोग नहीं रहता, अतः इन गुणोंका उच्छेद स्वभावसिद्ध है।

प्रस्तुत वैशेषिक मान्यता भी सदोष है। यदि आत्माके बुद्धि आदि, विशेष गुणोंका नाश मोक्ष है तो आत्माका स्वरूप ही समाप्त हो जाता है। गुणोंके समुदायका नाम ही द्रव्य है और उनके अभावमें द्रव्यत्वकी स्थिति ही क्या है? अत: मोक्ष-विषयक वैशेषिक मान्यता निर्दोष नहीं कही जा सकती।

बौद्ध-परम्परामें मोक्ष अर्थात् निर्वाणके सम्बन्धमें दो प्रकारकी मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं। एक कल्पनाके अनुसार निर्वाणमें चित्-सन्तति निरास्रव हो जाती है और दूसरी कल्पनामें दीपकके समान चित्-सन्तति भी प्रशान्त हो जाती है[2] अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

---

१. "नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः।"

—प्रशस्तपाद, व्योमवती पृ० सं० ६३८।

२. "प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।"

—प्रमाणवार्तिकालंकार १।४५।

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"

—सौन्दरनन्द काव्य १६।२८-२९।

आचार्य कमलशीलने तत्त्वसंग्रह पंजिकामें संसार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला एक निम्नांकित प्राचीन पद्य उद्धृत किया है :

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"[1]

अर्थात् रागादि क्लेश-वासनाओंसे वासित चित् ही संसार है और रागादि क्लेश-वासनाओंसे निर्मुक्त चित् ही निर्वाण कहा जाता है । इस प्रकार निर्वाणकी विशुद्ध चित्-सन्ततिके रूपमें कल्पना तो युक्तिसंगत है, परन्तु प्रदीप-निर्वाणकी तरह चित्-सन्ततिका सर्वथा नाश निर्वाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस चित्-सन्ततिके सर्वथा नाशका अर्थ होगा आत्म-स्वरूपका विलोप, जो आत्माका यह आपतित उच्छेदवाद स्वयं बौद्ध मान्यतामें भी इष्ट नहीं है ।

मोक्षके कारण हैं संवर और निर्जरा । संवरका अर्थ है आस्रवका निरोध ।[2] अर्थात् जिन स्रोतोंसे कर्मास्रव होता है उनका निरोध कर देना संवर है । यह भी दो प्रकारका है – भावसंवर और द्रव्यसंवर । आत्माके जिन परिणामों-द्वारा आस्रवका निरोध होता है वह भावसंवर है और जिन कर्म-पुद्गलोंका निरोध होता है वह द्रव्यसंवर है । वस्तुतः आध्यात्मिक विकास आस्रव-निरोधपर ही आधारित है । ज्यों-ज्यों आस्रव-निरोध बढ़ता जाता है, आत्म-विकास भी उसी कोटिमें वर्धमान होने लगता है और आस्रव-निरोधकी अन्तिम कक्षामें पहुँचकर आत्मा अपनी सम्पूर्ण विकसित दशाको प्राप्त कर लेता है और विशुद्ध आत्म-स्वातन्त्र्यका उपभोग करने लग जाता है ।

इस आस्रव-निरोधात्मक संवरके भी कुछ उपाय हैं और वे हैं – गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्र । इसका अर्थ है इन

---

१. तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ० स० १०४ ।
२. "आस्रवनिरोधः संवरः ।" —तत्त्वार्थसूत्र ९।१ ।

साधनोंसे कर्मास्रवका निरोध होता है।

गुप्तिका अर्थ है रक्षा करना। अर्थात् मन, वाणी और कायकी स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका नियन्त्रण करना गुप्ति है।[1] मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे यह तीन प्रकारकी है।

समितिका अर्थ है प्रमादरहित होकर विवेकपूर्ण प्रवृत्ति करना। इसके पाँच भेद हैं। भलीभाँति देख-भालकर चलनेका नाम ईर्यासमिति है। हित मित और प्रिय वचन बोलनेका अर्थ भाषासमिति है। विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेनेकी प्रवृत्तिको एषणासमिति कहते हैं। प्रत्येक वस्तुको भली प्रकार देखकर और उसे प्रमार्जित कर रखने-उठानेका नाम आदान-निक्षेपणसमिति है तथा जन्तु-विहीन स्थानपर मल-मूत्र आदिको डालना उत्सर्गसमिति है। इन प्रवृत्तियोंमें जितना निवृत्ति-अंश है वह सब संवरका कारण है।

इसी प्रकार धर्म भी संवरका कारण है। धर्मका अर्थ है आत्मस्वभाव-में स्थिर करनेवाले गुण या प्रवृत्तियाँ। यह दस प्रकारका है: क्रोधके निमित्तके उपस्थित होनेपर भी आत्म-शान्तिको स्खलित न होने देना, उत्तम क्षमा है। प्रत्येक प्रकारके अहं भावका परित्याग कर चित्तकी मृदुता-को स्थिर रखना उत्तम मार्दव है। मन, वाणी और कायकी कुटिलताको छोड़कर भाव-विशुद्धि बनाये रखना उत्तम आर्जव है। लोभका परित्याग-कर आत्म-विशुद्धि बढ़ाना उत्तम शौच है। सम्भाषण व्यवहारमें हित, मित और प्रिय वचनोंका प्रयोग करना उत्तम सत्य है। प्राणियोंकी रक्षा तथा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना उत्तम संयम है। समस्त प्रकारकी इच्छाओं-का निरोध करना उत्तम तप है। पर-कल्याणके लिए धन आदिका त्याग तथा आत्म-लाभके लिए दुर्वासनाओंका परित्याग उत्तम त्याग है। परिग्रह-मात्रमें ममत्व बुद्धि दूर करके आत्म-चैतन्य मात्रको अपनी निधि मानना

---

१. ''सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।'' —तत्त्वार्थसूत्र ९।३७।

उत्तम आकिंचन्य है। भोगैषणासे विरत होकर विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। यह दशधा धर्म जीवकी प्रवृत्तिको आत्माभिमुखी करता है और फलतः योग-निरोधके बलसे कर्मास्रवके निरोधमें सहायक होता है।

अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन भी संवरमें सहायक होता है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है ऐसी भावना जो जीवकी दृष्टिको आत्माभिमुखी रखकर आत्मामें समसुख जागृत करती है। अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं। पर-वस्तुओंसे आत्म-बुद्धि दूर करनेके लिए उनकी अनित्यताका चिन्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है। लोकमें जन्म, जरा और मरणसे आक्रान्त जीवकी अशरण स्थितिका विचार करना अशरण-अनुप्रेक्षा है। संसारके स्वरूप और उसके दुःखोंका विचार करना संसार-अनुप्रेक्षा है। आत्मा अकेला जन्मता है और अकेला मरता है तथा अकेला ही अपने कर्म-फलका अनुभव करता है। कोई किसीके भी सुख-दुःखमें साझी नहीं हो सकता, इस प्रकारका चिन्तन करना एकत्व-अनुप्रेक्षा है। जीवका शरीर आदिसे पृथक् चिन्तन करना अन्यत्व-अनुप्रेक्षा है। शरीरकी अपरिहार्य अशुचिताका विचार करते हुए उससे विरक्त होना अशुचि-अनुप्रेक्षा है। कर्मोंके आस्रवकी प्रक्रियाका चिन्तन करना और उसे अनन्त संसार-बन्धका कारण समझना आस्रव-अनुप्रेक्षा है। संवरके स्वरूपका चिन्तन करना संवर-अनुप्रेक्षा है। कर्मकी निर्जरा और उसके कारणोंके सम्बन्धमें विचार करना निर्जरा-अनुप्रेक्षा है। लोकके स्वभाव और आकार आदिका चिन्तवन करना लोक-अनुप्रेक्षा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप बोधिकी दुर्लभताका चिन्तन करना बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा है। धर्मके स्वरूपका विचार कर आत्माको धर्ममय बनानेका चिन्तन करना धर्मभावना है।

परीषह-जय भी संवरका कारण है। आत्म-विकासके मार्गपर चलता हुआ साधक भूख-प्यास, शीत-उष्ण, दंश-मशक, चर्या और शय्यामें आनेवाली बाधाओंसे विचलित नहीं होता है और आक्रोश, वध, मल-तृणस्पर्श

एवं रोगजनित कष्टोंको शान्तिसे झेलता है। निन्दा और स्तुतिमें समदृष्टि रहता है। अपने विशिष्ट ज्ञानका अहंकार नहीं करता है और उसके अभावमें खिन्न नहीं होता है। अनेक दिनों तक आहार न मिलनेपर खेद नहीं करता है और न ही याचना करता है। नग्न वेषमें रहते हुए भी स्त्री आदिको देखकर मनमें किसी प्रकारका विकार नहीं आने देता है। यह सब परीषह-जय है और इससे आस्रव रुकता है।

चारित्रका अर्थ है आत्माकी अपने विशुद्ध स्वरूपमें अवस्थिति। परिणामोंकी क्रमिक विशुद्धिकी दृष्टिसे चारित्र पाँच प्रकारका है। अशुभ प्रवृत्तियोंको छोड़कर आत्माका समभावमें लीन होना सामायिक चारित्र है। व्रतोंमें दूषण आनेपर उनमें फिरसे स्थिर होना छेदोपस्थापना चारित्र है। जिसके कारण सर्वत्र गमनागमन करते हुए भी जीव-हिंसा नहीं होती वह परिहारविशुद्धि-चारित्र है। जिसमें केवल लोभ कषायका अति सूक्ष्म अंश शेष रह जाता है, वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। जिसमें किंचित् भी कषायांश नहीं रहता है और आत्मा अपनी विशुद्ध वीतराग दशाको प्राप्त कर लेता है, वह यथाख्यात चारित्र है। इस चारित्रपूर्ण प्रवृत्तिके कारण भी कर्मास्रवका निरोध होता है।

इस प्रकार उक्त संवर जहाँ मोक्षका कारण है, वहाँ निर्जराका भी मोक्ष-कारणोंमें प्रमुख स्थान है; क्योंकि संवर-होनेपर भी यदि तप और ध्यानके द्वारा संचित कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है तो उनके अस्तित्वमें आत्माका मोक्ष-स्वभाव प्राप्त करना एकदम असम्भव है। अतः मोक्षके लिए निर्जराकी भी अनिवार्यरूपसे आवश्यकता है।

निर्जराका अर्थ है निर्जीर्ण होना अर्थात् कर्मोंका झड़ जाना। यह दो प्रकारकी है—एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। जहाँ कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है और तप आदिके द्वारा समयके पहले ही जहाँ कर्म फल देकर झड़ते हैं वह अविपाक निर्जरा है।

आत्म-स्वातन्त्र्यके साधन

ऊपरसे लेखसे आत्म-विकासके अभिलाषी साधकके सामने जीवकी बद्ध और मुक्त दशाका एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। अब वह आत्म-स्वातन्त्र्यके लाभके लिए अनुरूप साधनोंका अवलम्बन करता है और अन्तमें अपने चिर-अभिलषित लक्ष्यकी प्राप्तिमें सफल होता है। आत्म-स्वातन्त्र्यके साधन हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों मिलकर आत्म-स्वातन्त्र्य अर्थात् मोक्षके साधन हैं। अकेला सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र आत्मस्वातन्त्र्यके साधन नहीं हैं। नैयायिकोंकी मान्यतामें ज्ञान ही मोक्षका साधन माना गया है। इनके मतमें चारित्रका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पूर्णतामें होता है। कोई श्रद्धानमात्रसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं। मीमांसक क्रियाकाण्डी चारित्रसे ही मोक्ष-प्राप्ति स्वीकार करते हैं; परन्तु जिस प्रकार कोई रोगी औषधके केवल ज्ञान, आचरण अथवा श्रद्धा मात्रसे अथवा श्रद्धा बिना ज्ञान-आचरण मात्रसे अथवा ज्ञान बिना आचरण-श्रद्धा मात्रसे अथवा आचरण बिना ज्ञान और श्रद्धा मात्रसे रोग-मुक्त होकर आरोग्य-लाभ नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जीवका यह भव-रोग भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी साधनत्रयके ऐक्यके बिना दूर नहीं हो सकता। जीवके आत्म-स्वातन्त्र्यका लाभ इन तीनोंकी पूर्णतापर ही आधारित है।

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्म-विकास एवं आत्म-स्वातन्त्र्यके लाभके लिए आत्मा और पर पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ दर्शन। जबतक सम्यग्दर्शन आत्मामें उदित नहीं होता, यह जीव अपने आत्म-स्वभावको भूला रहता है। पर-वस्तुओंमें आत्म-कल्पना करता है और उनमें सुखको खोजता है। राग-द्वेष, अहंकार और ममकार जितनी भी दुर्वृत्तियाँ हैं, सब सम्यग्दर्शनके अभाव और मिथ्यादर्शनके प्रभावके परिणाम हैं, सम्यग्दर्शनके होते ही इसे

आत्म-स्वरूप एवं पर-वस्तुओंका स्पष्ट प्रतिभास हो जाता है। सम्यग्दर्शनके होनेपर जीवकी आत्म-विस्मृति तत्काल पलायन कर जाती है। वह सोचने लग जाता है, "मेरा स्वभाव स्वयं अनन्त सुख-ज्ञान-दर्शनमय है, मैं अपनी वस्तुको बाह्य पदार्थोंमें खोज रहा था। उनमें मेरी वस्तु कहाँ मिल सकती थी? कितनी बड़ी भूल थी मेरी। अब मैं देखता हूँ कि मेरी समस्त शाश्वत विभूति मेरे ही अन्दर विद्यमान है। आवश्यकता है केवल आत्माश्रित क्रिया-के द्वारा उस विभूतिको आवृत करनेवाले कारणोंके समूल उच्छेदकी। ज्यों ही ये प्रतिबन्धक कारण दूर होंगे, मैं अपनी अनन्त विभूतिका भोक्ता हो जाऊँगा।" सम्यग्दृष्टि चिन्तन करता है:

"एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥"

मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत है और ज्ञान-दर्शन स्वभावमय है। इसमें अन्य जितने भी भाव दिखलाई देते हैं वे सब संयोग-निमित्तक हैं।

वह सोचता है कि मेरे रागादिरूप वैभाविक परिणमनके कारण ही पुद्गलोंका कर्मरूपसे परिणमन होता है और कर्मपुद्गलोंके निमित्तसे मेरे अन्दर रागादिरूप वैभाविक परिणति होती है। मैं स्वयं उपादान बन-कर न पुद्गलके गुणरूपसे परिणमन कर सकता हूँ और न पुद्गल उपादान बनकर हमारे गुणरूपसे ही परिणमन कर सकता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण ही हम दोनोंका परिणमन होता है। उपादानरूपसे मैं अपने भावोंका कर्ता हूँ, पुद्गल कर्मोंका नहीं।[1] फलतः मैं ही अपनी बद्ध और मुक्त दशाका स्वतन्त्र कर्ता हूँ। मैं अपने वैभाविक परिणमनके कारण

---

१. "जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥
णवि कुणदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण॥"

—समयप्राभृत ८६, ८८।

संसार-सागरमें गोते लगा रहा हूँ और अपनी स्वाभाविक परिणतिके कारण मैं स्वयं ही बन्धन-मुक्त होकर आत्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त कर सकता हूँ।"

इस प्रकार आत्माको आत्म-विस्मृतिके अन्धकारसे निकालकर आत्म-भानके आलोकसे आलोकित कर देना सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य है।

जैन-मान्यतामें यद्यपि सम्यग्दर्शनकी विभिन्न व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं; किन्तु आत्माभिमुख दर्शनमात्रमें ही उनका पर्यवसान होता है। सम्यग्-दर्शनकी एक व्याख्या है—आत्म-विकासकी दृष्टिसे किया गया जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप तत्त्वोंका यथार्थ दर्शन।[1] दूसरी व्याख्या है, सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका, तीन मूढ़ताओं तथा आठ मदोंसे रहित और आठ-अंगसहित यथार्थ श्रद्धान।[2] और तीसरी व्याख्याके अनुसार स्वानुभूतिमयी श्रद्धा सम्यग्दर्शन बतलाया गया है।[3]

सम्यग्दर्शनकी उक्त तीनों व्याख्याओंमें शाब्दिक अन्तर होते हुए भी अर्थत: कोई अन्तर नहीं है। आत्म-जागरणकी वेलामें साधक अपने आत्मा-से सम्बद्ध अजीव तत्त्वकी जानकारी करता है। और इसके बाद उसके बन्धके कारण तथा बन्धन-मुक्तिके कारणोंको हृदयंगम कर अन्तमें विशुद्ध आत्मानुभूतिको ही उपादेय मानकर अपनी रुचि आत्म-स्वभावमें ही केन्द्रित कर लेता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप प्रथम व्याख्या स्वानुभूतिमयी श्रद्धासे बाह्य नहीं ठहरती।

---

१. "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।"

—तत्त्वार्थसूत्र १-२।

२. "श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्॥"
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥"

—रत्नकरण्डश्रावकाचार १-३।

३. "तस्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
ततोऽस्ति योगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिमत्॥"

—पञ्चाध्यायी २, ४१६–४२३।

सम्यग्दर्शनकी दूसरी व्याख्यामें सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका तीन मूढ़ता और आठ मदसे रहित तथा आठ अंगसहित यथार्थ श्रद्धान बतलाया गया है। सम्यग्दर्शनकी यह व्याख्या भी स्वात्मानुभूतिकी ही साधिका है।

जिसमें क्षुधा, प्यास, जन्म, जरा, मरण, भय, स्मय, राग-द्वेष और मोह आदि अठारह दोष नहीं पाये जाते हैं, जो सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है, वह सच्चा देव है।[1] जो सत्य देवके द्वारा प्रतीत हो, प्रत्यक्ष और अनुमानसे जिसमें कोई बाधा न आवे, जिसकी वस्तु-विवेचनापूर्ण वैज्ञानिक हो, जो विश्व हितकारी और सन्मार्ग-प्रकाशक हो वह सच्चा शास्त्र है।[2] जो विषयाभिलाषा और लोकैषणाओंसे अतीत हो, आरम्भरहित हो, निःसंग हो और निरन्तर ज्ञान, ध्यानमें तल्लीन रहता हो, वह सच्चा गुरु है।[3]

धर्म समझकर समुद्र या नदीमें स्नान करना, बालू या पत्थरका ढेर लगाना, पहाड़से गिरना और अग्निप्रवेश करना आदि जितना भी निष्फल एवं अज्ञानमूलक लोकाचार है वह सब लोकमूढ़ता है।[4]

---

१. "क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते॥"

—रत्नकरण्डश्रावकाचार १।६।

२. "आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
सर्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥"

—वही १।६।

३. "विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते॥"

—वही १।१०।

४. "आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥"

—वही १।२२।

अदेवमें देव-बुद्धि, अधर्ममें धर्म-बुद्धि, अगुरुमें गुरु-बुद्धि रखना देवादि-मूढ़ता है।[1] ऐहिक सुख और धन-धान्यादिकी प्राप्तिके लिए जो सदोष एवं कामी देवी-देवताओंकी आराधना की जाती है वह भी देवमूढ़ता ही है।

जिसका आचार कुत्सित है, जो शल्य और परिग्रहसे युक्त है, वह कुगुरु है और ऐसे कुगुरुको अपने जीवन-निर्माणके लिए आदर्श मान्य करना गुरु-मूढ़ता है।[2]

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरके भेदसे मद आठ प्रकारका है। सम्यग्दृष्टिके मनमें इनमें-से एकका भी अहंकार नहीं होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि विवेकशील होता है। और उक्त चीज़ोंके अहंकार मूढ़ दृष्टिके सूचक हैं और अज्ञानके परिणाम हैं। फिर आत्म-स्वातन्त्र्यका साधक इन सब चीज़ोंको आत्म-बाह्य वस्तु मानता है और इनमें उसकी अहंबुद्धि उसे उसके साधना-मार्गसे चलित कर देती है। फलतः वह इस 'अहम्' की मिथ्या दृष्टिसे निरन्तर अस्पृष्ट रहता है।

सम्यग्दर्शनके उदित होते ही आत्माकी दृष्टि परम विवेकशालिनी हो जाती है अतः उसकी दृष्टि उस समस्त लोकाचारको अस्वीकार करती है जो उसके आत्मविकासमें साधक नहीं है। यही कारण है कि वह नदी और समुद्रमें स्नान तथा अग्निप्रवेश आदिमें श्रद्धा नहीं रखता है और लोकके अन्धानुसरणसे कोसों दूर रहता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि देवमूढ़तासे भी रहित होता है। आत्म-विकास-की साधनामें वह अर्हन्त (जीवन्मुक्त) और सिद्ध (पूर्ण निष्कलंक परमात्मा) को अपना आदर्श देव मानता है और उनका आदर्श सामने रखकर ही

---

१. "अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता॥"

—पञ्चाध्यायी २।५९५।

२. "कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः।"

—पञ्चाध्यायी २।६०१।

आत्म-स्वातन्त्र्यके मार्गपर अग्रसर होता है। उक्त देव-पूजामें सम्यग्दृष्टिकी यह बुद्धि नहीं होती कि ये देव अपने सामर्थ्यसे मुझे भी सकल कर्म-मल-रहित करके परमात्मा बना देंगे। अर्हन्त और सिद्ध, व्यक्तिको इष्टानिष्ट फलके दाता हैं, सुख-दुःखके विधाता हैं, सम्यग्दृष्टिका विवेक इस प्रकारकी देवमूढ़ताको स्वीकार नहीं करता।

गुरुके सम्बन्धमें भी सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि बड़ी सुलझी हुई रहती है। आत्म-विकासका पथिक सम्यग्दृष्टि ऐसे गुरुओंको कभी भी अपनी साधनाका आदर्श नहीं बनाता है, जो सकामी आरम्भी और परिग्रही हों और जिनका जीवन प्रतिक्षण परावलम्बनकी शृंखलाओंसे जकड़ा हुआ हो।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टिका जीवन उक्त तीनों मूढ़ताओंसे शून्य तो होता ही है उसमें निम्नांकित आठ अंग (गुण) भी पाये जाते हैं :

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपबृंहण, सुस्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इन आठ अंगोंका बड़ा महत्त्व है। इन आठ अंगोंकी पूर्णतामें ही आत्मामें सम्यग्दर्शनका उदय होता है और वह आत्म-स्वातन्त्र्यका साधक होता है। जिस प्रकार एकाध अक्षरसे शून्य मन्त्र विषकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता, उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-सन्ततिका उच्छेद नहीं कर सकता।[1]

सम्यग्दर्शनकी पहली विशेषता आत्मामें निःशंकित भावका उदय होना है। शंकाका अर्थ है – भय और अविचल श्रद्धाका अभाव। सम्यग्दृष्टिका जीवन इन दोनों ही दूषणोंसे निर्मुक्त होता है। वह स्व-परपदार्थका सम्यक् ज्ञाता होता है। सदैव आत्म-निष्ठ रहता है। पर-पदार्थोंके परिणमनमें कभी भी आत्म-बुद्धि नहीं करता है। इसलिए वह सदैव निर्भय रहता है

---

१. "नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम्॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार।

और भयके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी आत्मस्वरूपसे चलित नहीं होता है।[1] साथ ही सम्यग्दृष्टिका जीवन पूर्ण श्रद्धावान् होता है। जिन वीतराग सर्वज्ञ देवने अपने पूर्ण विशुद्ध आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त कर लिया है उनकी पूर्ण स्वावलम्बनमयी साधना और वस्तु-तत्त्वका सम्यक् व्याख्यान करनेवाली तत्त्वदेशनाके सम्बन्धमें उनकी अविचल श्रद्धा होती है। फलत: सम्यग्दृष्टि इन दोनों विशेषताओंको आत्मसात् किये रहता है। निर्भयताकी दृष्टिसे न उसे इस लोकका भय होता है और न परलोकका; न वेदनाभय होता है और न अत्राणका। इसी प्रकार न अगुप्तिभय होता है और न मृत्युभय। और न ही आकस्मिक भय उसके मनमें क्षणमात्रके लिए भी घर कर सकता है।

इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि स्व-परविवेक न होनेसे निरन्तर स्त्री-पुत्र तथा धन-धान्यादिके वियोगसे तथा अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे भयभीत बना रहता है। परलोकमें दुर्गति-प्राप्तिकी आशंकासे उसका जीवन व्याकुल रहता है। शरीरमें किसी व्याधिके निकल जानेपर वह उसकी वेदनामें विकल हो जाता है। पर्यायके नाशमें आत्मनाशकी कल्पना करता है और निरन्तर त्रस्त रहता है। द्रव्यके स्वरूपकी यथार्थ जानकारी न होनेसे वस्तु-की अस्थिरताका भय भी उसे व्याकुल किये रहता है। इसी प्रकार मृत्यु और आकस्मिक दुर्घटनाओंके भय भी उसकी मानस-भूमिको निरन्तर कुरेदते रहते हैं।

पर सम्यग्दृष्टि वस्तु-स्थितिका ज्ञाता और आत्म-स्वरूपका द्रष्टा होता है, फलत: उसका आत्मा इस शंका-भीतियोंसे एकदम अछूता रहता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका यह प्रथम अंग है जो आत्मामें नि:शंकित रूपसे प्रकट होता है।

---

१. "परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम्॥"

—पञ्चाध्यायी २।४९५।

दूसरा गुण है निःकांक्षित। व्रतादिक क्रियाओंको करते हुए उनसे अन्य भवके लिए भोगोंकी अभिलाषा करना, कर्म और कर्मफलमें आत्मीय बुद्धि रखना और अन्य दृष्टिकी प्रशंसा करना कांक्षा है।[1] इस प्रकारकी कांक्षा—अभिलाषा—से रहित जो गुण है वह निःकांक्षित है। सम्यग्दृष्टिमें इस गुण-का भी पूर्ण रूपसे विकास रहता है। यद्यपि वह दान, पूजा आदि शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त रहता है; किन्तु उसके मूलमें आत्म-शोधन और विकासका ध्येय ही क्रियाशील रहता है। लौकिक दृष्टिमें जो पूजा आदिका अर्थ होता है, सम्यग्दृष्टि उस ओर भूलकर भी अपनी दृष्टि नहीं रखता। वह चाह-दाह-से एकदम अस्पृष्ट रहकर आत्म-विकासमें ही निरन्तर संलग्न रहता है।

सम्यग्दर्शनका तीसरा गुण निर्विचिकित्सा है। अपनेको उच्च और दूसरेको नीच मानना विचिकित्सा है।[2] यद्यपि संसारमें जीवकी विभिन्न पर्यायें देखी जाती हैं, जैसे कोई नारकी है, कोई पशु है, कोई देव है और कोई मनुष्य है। मनुष्योंमें भी अर्थगत और वर्णगत विभेदके कारण लौकिक ऊँच-नीचकी अनेक विषमताएँ उपलब्ध होती हैं; परन्तु सम्यग्दृष्टि उन सबमें पर्यायभेदके कारण अपनी दृष्टिमें किसी प्रकारके विकार अथवा ग्लानिको स्थान नहीं देता। इसके विपरीत वह इन सबमें एक अनन्त गुण-सम्पन्न आत्म-द्रव्यके दर्शन करता है।

चौथा गुण अमूढ़दृष्टि है। अतत्त्वमें तत्त्वका श्रद्धान करना मूढ़दृष्टि है।

---

१. "कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात् कृतेऽमुष्य क्रियासु वा।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम्॥"
—पञ्चाध्यायी २।५४७।

२. "आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता मता॥"
—वही २।५७८।

सम्यग्दृष्टिके यह मूढ़दृष्टि नहीं होती, अतः वह अमूढदृष्टि कहलाता है।[1] उसकी दृष्टिमें जीव अजीव आदि तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ रूपसे स्पष्ट रहता है। अपने राग-द्वेषके प्रहाणको ही वह जीवनका मात्र लक्ष्य स्वीकार करता है। फ़लतः उसका दृष्टिकोण तथाकथित मूढताओंसे एकदम अस्पृष्ट रहता है और उसकी आत्मामें आत्म-स्वातन्त्र्यकी साधक आत्म-दृष्टि निरन्तर प्रकाशित रहती है।

पाँचवाँ गुण उपबृंहण है। आत्म-शुद्धिमें दुर्बलता न आने देना और उत्तरोत्तर आत्म-विकासके मार्गपर संलग्न रहना उपबृंहण है। दूसरे शब्दोंमें आत्माको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वभावसे चलित न होने देना उपबृंहण है।[2] सम्यग्दृष्टिमें यह गुण भी अपने पूर्ण स्वरूपमें उदित रहता है। वह बाह्य क्रियाओंका पालन करता हुआ भी निरन्तर अमूढदृष्टि रहता है और आत्म-विकासके मार्गमें क्षण-भरके लिए भी प्रमाद नहीं करता।[3]

सम्यग्दर्शनका छठा गुण स्थितीकरण है। जो धर्मसे चलित हो रहा हो उसे धर्ममें स्थित कर देना स्थितीकरण है। स्वस्थितीकरण और परस्थितीकरणके भेदसे यह दो प्रकारका है। मोहके उदयकी तीव्रताके कारण आत्म-स्थितिसे चलित आत्माको पुनः आत्म-स्वभावमें स्थिर रखना स्वस्थितीकरण

---

१. "अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥"
—पञ्चाध्यायी २।५८६।

२. "आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम्।
अर्थात् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत् ॥"

३. "नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥"
—पञ्चाध्यायी २।७७६, ७७८।

है[1] और अपने आत्म-स्वभावसे चलित हुए अन्य प्राणियोंको पुनः उनके आत्म-स्वभावमें स्थिर कर देना परस्थितीकरण[2] है। इस प्रकार यद्यपि कर्म-बद्ध होनेके कारण आत्माके जीवनमें स्व-स्वभावसे चलित होनेके अनेक अवसर आते हैं; परन्तु अपनी विवेकशक्तिके कारण वह प्रत्येक बार अपनेको सँभालता है। स्वयं जागरूक रहता है और दूसरोंको भी जागरूक रखता है। सम्यग्दृष्टिकी आत्म-साधनाके साथ परहित-साधना भी बराबर चलती रहती है।

सातवाँ गुण वात्सल्यका है। वात्सल्यका अर्थ है धर्म एवं धर्मके साधनोंके प्रति प्रगाढ़ अनुराग। यह भी स्व-वात्सल्य और पर-वात्सल्यके भेदसे दो प्रकारका है। विषम परीषहों और उपसर्ग आदिके उपस्थित होनेपर भी अपने विशुद्ध आचार, ज्ञान और ध्यानमें शैथिल्य न होना स्व-वात्सल्य है तथा सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारका संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) और शास्त्र – इनमें-से किसीपर भी उपसर्ग आनेपर उसे दूर करनेके लिए शक्ति-भर प्रयत्न करना पर-वात्सल्य है।[3]

आठवाँ गुण प्रभावना है। प्रभावनाका अर्थ है उत्कर्ष करना, प्रगति करना। सम्यग्दर्शनके साथ ही यह गुण भी आत्मामें अनिवार्य रूपसे प्रस्फुटित हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जहाँ अपने अन्तस्‌के कर्म-मलको दूर कर उत्तरोत्तर आत्मोत्कर्षके मार्गपर वर्धमान रहता है वहाँ वह दूसरोंके आत्म-विकासमें भी इसी भाँति सहायता करता है। स्वात्म-प्रभावनाका यही अर्थ है।

---

१. "तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात् स्वापरभेदतः।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात् परत्वे तु परस्य तत् ॥"—पञ्चाध्यायी २।७९२।

२. "सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥" —वही २।८००।

३. "वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥" —वही २।८०३।

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनमें उक्त आठ गुणोंका नियमतः समावेश रहता है। दूसरे शब्दोंमें आठों गुणोंकी पूर्णतापर ही सम्यग्दर्शनकी पूर्णता आधारित है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी यह द्वितीय व्याख्या स्वात्मानुभूतिको ही साधिका है; क्योंकि तथाकथित रूपसे किया गया सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका श्रद्धान आत्म-विकास और विशुद्ध स्वात्मानुभूतिका ही उत्प्रेरक है।

जैन आगममें सम्यग्दर्शनका बड़ा माहात्म्य गान किया गया है। आत्म-दर्शन एवं आत्म-स्वातन्त्र्यके लाभके लिए यह एक प्रमुख साधन है। सम्यग्दर्शनके उदित होते ही आत्माकी दृष्टिका विकार दूर हो जाता है, वह निष्कलंक हो जाता है और निरन्तर आत्मोत्कर्षके मार्गपर अग्रसर रहना ही उसका एक मात्र लक्ष्य हो जाता है। सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट होनेपर आत्म-विकास असम्भव है। चारित्रसे भ्रष्ट होनेपर व्यक्तिका निर्वाण हो सकता है; परन्तु सम्यग्दर्शनसे चलित आत्माका निर्वाण असम्भव है।[1] सम्यग्दर्शन व्यक्तिके जीवनमें, उसके विचार एवं व्यवहारमें एक अभूतपूर्व क्रान्तिको जन्म देता है, और इसे पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न परमात्मा बना देता है।

सम्यग्ज्ञान

आत्म-स्वातन्त्र्यका दूसरा साधन सम्यग्ज्ञान है और यह सम्यग्दर्शनके उदित होते ही आत्मामें प्रस्फुटित हो जाता है। सम्यग्ज्ञानका अर्थ है प्रत्येक द्रव्यका उनकी अनन्तगुण पर्यायोंसहित और अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान।[2] इस प्रकार सम्यग्ज्ञानकी ही दो व्याख्याएँ हैं।

---

१. दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति॥"

—षट्प्राभृत।

२. "जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जोजि॥"
अप्पह केरउभावडउ णाणु मुणिज्जहि सोजि॥"

—परमात्मप्रकाश २।२९।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित जो तत्त्वज्ञान है वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूपका विशुद्ध ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके अभावमें जीव आत्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त नहीं कर पाता। ज्ञानके बिना जीवकी कोटि-कोटि वर्षोंकी साधना भी निष्फल हो जाती है; परन्तु स्व-परविवेकमय सम्यग्ज्ञानके उदित होते ही आत्मा योग-निरोधके द्वारा अल्प कालमें ही अपने समस्त संचित कर्म क्षीण कर डालता है और आत्म-स्वरूपका विशुद्ध ज्ञाता हो जाता है।[१] इस प्रकार मोक्षमार्गके साधनोंमें सम्यग्ज्ञानका भी वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसा सम्यग्दर्शनका।

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग—आत्म-स्वातन्त्र्यकी अन्तिम सीढ़ी है। सम्यक्चारित्रका अर्थ है जब आत्मा पूर्ण वीतराग और कर्ममलसे निष्कलंक होकर अपने विशुद्ध आत्मभावमें रममाण हो जाता है।[२] यहाँ आकर आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र और आत्मस्थ हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि आत्मविकासकी इस अन्तिम भूमिकाको प्राप्त करनेके पूर्व आत्माको गृहस्थ और मुनियोंके आचार-मार्गका अवलम्ब लेना पड़ता है। और इस प्रकार क्रमशः सदाचारके मार्गपर प्रगति करता हुआ अन्तमें सम्यक्चारित्रकी पूर्णताके साथ ही वह आत्म-स्वातन्त्र्यकी परम विशुद्ध दशामें प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ आकर आत्माका पर-द्रव्यसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने

---

१. कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म जरें जे,
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते।
मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख-लेश न पायो।"

—छहढाला ४।४।

२. "जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर-भाउ चएइ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ॥"

—परमात्मप्रकाश २।३०।

विशुद्ध चैतन्य स्वभावकी अनुभूतिमें मग्न हो जाता है ।

उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी पूर्णतापर ही आत्म-स्वातन्त्र्य—मोक्ष आधारित है। दूसरे शब्दोंमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय ही आत्म-स्वातन्त्र्य है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक जैन आध्यात्मिक किस प्रकार विश्वका यथार्थ रूपमें दर्शन करता है और जड़तत्त्वसे पृथक् आत्म-स्वातन्त्र्यका अनुभव करता हुआ उसके लाभके लिए स्वावलम्बनके पथका अनुवर्त्ती बनता है ।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्त्ता

हम पहले लिख आये हैं कि श्रीमद्भागवतके उल्लेखानुसार भगवान् ऋषभदेव जैन अध्यात्मके प्रथम प्रवर्त्तक थे । इसके पश्चात् भगवान् महावीर तक शेष जैन तीर्थंकरोंने भी इसी आत्म-स्वातन्त्र्यका विधिवत् प्रतिपादन करनेवाले जैन अध्यात्मका समय-समयपर व्याख्यान किया । भगवान् पार्श्वनाथका समकालीन श्रमण-वर्ग भी इसी अध्यात्म- साधनाके पथका अनुगमन करता हुआ आत्म-विकासमें संलग्न रहा । भगवान् महावीरके समयमें स्वयं भगवान् महावीरने और उनके अनुयायी साधक वर्गने अपने व्यक्तिगत जीवनमें प्रस्तुत अध्यात्म-साधनाके आदर्शोंकी अवतारणा की और निष्कलंक एवं पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न आत्म-स्वातन्त्र्यका लाभ किया ।

भगवान् महावीरके बाद भी यह जैन अध्यात्म-धारा प्रवाहित रही और आज भी हम उसके लघुरूपके दर्शन उसके कतिपय साधकोंमें एवं विशाल रूपके दर्शन उस परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कर सकते हैं ।

यद्यपि अधिकांश जैन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक वाङ्मय मुख्य अथवा गौणरूपसे मोक्षमार्ग – आत्म-स्वातन्त्र्यका निरूपक होनेसे अध्यात्म-निष्ठ ही हैं, तथापि कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति, पूज्यपाद, जोइन्दु, गुणभद्राचार्य, अमृतचन्द्र सूरि, रामसिंह तथा राजमल्ल प्रभृति आचार्योंने मुख्यतया

अध्यात्म-मार्गका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। यहाँ हम ऐसे ही अध्यात्म-के पुरस्कर्त्ता कतिपय मनीषियोंका संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्त्ताओंमें आचार्य कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मके यह उच्च कोटिके विद्वान् थे। यद्यपि इनका दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दि[1] था, तथापि 'कोण्डकुन्दपुर' के अधिवासी होनेके कारण यह कोण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक विख्यात रहे और इसी नामपर इनकी वंश-परम्परा 'कुन्दकुन्दान्वय' के रूपमें स्थापित हुई और विभिन्न शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त होकर प्रसरित हुई।

यह मूलसंघके प्रमुख आचार्य थे। बड़े संयमी, पवित्रात्मा और चारण ऋद्धिसे सम्पन्न थे। श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखसे[2] स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्दने भरतक्षेत्रमें श्रुत (जैन आगम) की प्रतिष्ठा की और उसकी मान्यता एवं प्रतिष्ठाको स्वयंके आचरण-द्वारा समुन्नत किया। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त तक फैली हुई थी। देवसेनकृत दर्शनसार (वि० सं० ९९०) की एक गाथा[3]से प्रतीत होता है कि उन्हें विदेह क्षेत्रस्थित भगवान् श्री-

---

१. "तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥"

—श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ४०।

२. "वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारुचारण-कराम्बुज-चञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥"

—श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ५४।

३. "जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥"

—दर्शनसार ४३।

सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें जाने और वहाँ भगवान्के श्रीमुखसे साक्षात् दिव्योपदेश सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जैन परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुड ग्रन्थोंके कर्त्ताके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं, परन्तु इनके उपलब्ध २२, २३ ग्रन्थ इनके अगाध पाण्डित्य एवं तलस्पर्शी तत्त्वज्ञानके परिचायक हैं। शास्त्र-वाचन आरम्भ करनेके पूर्व प्रत्येक पाठक मंगलाचरणके रूपमें पढ़ता है :

"मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥"

अर्थात् भगवान् महावीर मंगलमय हैं, गौतम गणधर मंगलमय हैं, आर्य कुन्दकुन्दाचार्य मंगलमय हैं और जैनधर्म मंगलमय है।

इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि जैन-वाङ्मय और उसके उपासकोंमें आचार्य कुन्दकुन्दका कितना गौरवपूर्ण स्थान है। दिगम्बर साधु अपने-आपको कुन्दकुन्दान्वयी कहलानेमें गर्वका अनुभव करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्यकी रचनाओंमें प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकायका प्रमुख स्थान है। उक्त तीनों ही ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और इनमें जैन तत्त्वज्ञान और अध्यात्मका बहुत सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। प्रवचनसारमें ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र रूप तीन अधिकारोंमें इन विषयोंका सारगर्भित विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थपर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाके अनुसार इसमें २७५ गाथाएँ हैं और जयसेनाचार्यकी टीकाके अनुसार ३११। इसमें दीक्षा लेनेवाले साधकके लिए आत्म-साधनोपयोगी तत्त्वज्ञान और चारित्रका दार्शनिक शैलीमें गुम्फित किया गया ऐसा प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है, जिसे देखनेसे प्रतीत होता है कि वह किसी यथार्थ आत्म-द्रष्टाकी सन्तुलित लेखनीसे उद्भूत हुआ है।

समयसारमें अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाके अनुसार ४१५ गाथाएँ हैं और जयसेनकी टीकाके अनुसार ४३९। इसमें आत्मतत्त्व एवं उसकी बद्ध और

मुक्त दशाके कारणोंपर प्रकाश डालते हुए विशुद्ध आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेका बड़ा तात्त्विक विवेचन किया गया है। कर्म-बन्धनसे मुक्तिकी आकांक्षा रखनेवाले तथा पारमार्थिक सुखाभिलाषीके लिए बार-बार इस बातका उपदेश दिया गया कि वह परमात्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करे[1] और परमात्म-तत्त्वमें ही सदा लीन, तुष्ट और तृप्त रहे[2]। इसमें बतलाया गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-आपमें स्वतन्त्र है और अपने-अपने गुणपर्यायोंका कर्त्ता है। एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्यमें किसी प्रकारकी भी विशेषता नहीं आती। कुन्दकुन्दाचार्यका कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान है, दूसरा उसका निमित्त हो सकता है, उपादान नहीं; उसी प्रकार आत्मा उपादान दृष्टिसे अपने भावोंका कर्त्ता है, पुद्गलके ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमनका कर्त्ता नहीं है। इस प्रकार आत्माको अपना पर-द्रव्य-निरपेक्ष आत्मस्वरूप समझकर विशुद्ध आत्म-स्वातन्त्र्यके लाभके लिए निरन्तर स्वालम्बनके मार्गपर अग्रसर रहना चाहिए। इस प्रकार जैन अध्यात्म-रहस्यको वर्णित करनेवाली रचनाओंमें समयसारका सर्वोत्तम स्थान है।

पञ्चास्तिकायमें अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाके अनुसार १७२ गाथाएँ हैं और जयसेनाचार्यकी टीकाके अनुसार १८१। इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच द्रव्योंका विशेष रूपसे वर्णन किया गया है।

---

१. "णाणगुणेण विहीणा एदं तु पयं बहूवि ण लहंति।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं॥"
—समयसार २०५।

२. "एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्च मेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होइदि तुह उत्तमं सोक्खं॥"
—वही २०६।

३. "अण्ण दवियेण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥"
—वही ३७२।

पाँच अस्तिकाय द्रव्योंका बारीकीसे विवेचन करनेवाली यह महत्त्वपूर्ण रचना है।

नियमसार भी कुन्दकुन्दाचार्यकी एक अध्यात्म-प्रतिपादिका रचना है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रको मोक्ष-प्राप्तिका साक्षात् उपाय बतलाया गया है। इसमें १८७ गाथाएँ हैं और इसपर पद्मप्रभ-मलधारिदेवकी एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

कुन्दकुन्दाचार्यकी अन्य आध्यात्मिक रचनाओंमें दंसणपाहुड, चारित्त-पाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, बोधपाहुड, रयणसार और मूलाचार महत्त्व-पूर्ण हैं।

दंसणपाहुडमें ३६ गाथाओं-द्वारा सम्यग्दर्शनकी महत्ताका सुन्दरताके साथ वर्णन किया गया है। इसमें बतलाया है कि आत्म-विकासपर चलने-वाले साधककी आत्मामें पूर्ण आत्म-स्वातन्त्र्यलाभके लिए सम्यग्दर्शन गुण-का विकसित होना सर्वप्रथम रूपसे आवश्यक है। सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल है और जो आत्मा इस गुणसे भ्रष्ट है, उसका मोक्षलाभ कदापि सम्भव नहीं है। ज्ञान और चारित्रकी यथार्थता भी इसी सम्यग्दर्शन गुणपर आधारित है।

चारित्तपाहुडमें ४४ गाथाओं-द्वारा सम्यक्त्व चारित्रका संक्षेपमें विवेचन किया गया है। सम्यक्‌चारित्रकी मीमांसाके प्रसंगमें उसे सम्यक्त्व चरण और संयम चरणमें विभक्त किया गया और संयम चरणको भी सागार तथा अनगारके रूपमें दिखलाकर श्रावक तथा मुनिधर्मका अनतिविस्तृत वर्णन किया गया है।

भावपाहुडमें १६३ गाथाएँ हैं। इसमें दिखलाया गया है कि आत्मा-की संसार और मुक्त दशा भावोंकी अशुद्धि और शुद्धिपर ही आधारित है। भाव-शुद्धिसे ही संसार-वास उच्छिन्न होता है और भावोंकी अशुद्धि-के कारण ही आत्मा बन्धन-बद्ध रहता है। बाह्य त्याग और तपस्याकी सफलता भी भाव-शुद्धिपर ही अवलम्बित है।

मोक्खपाहुड भी कुन्दकुन्दाचार्यकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें आत्माको बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके रूपोंमें विभक्त कर उनके स्वरूपपर प्रकाश डाला गया है और दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक बहिरात्मा स्वावलम्बनके पथका पथिक होता हुआ परमात्म-पदको प्राप्त कर लेता है। इसमें १०६ गाथाएँ हैं।

रयणसारमें गृहस्थ और मुनियोंके रत्नत्रयात्मक धर्मका सुन्दरतासे विवेचन किया गया है। यद्यपि माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला बम्बई-द्वारा प्रकाशित 'षट्प्राभृतादिसंग्रह'में इस ग्रन्थकी गाथा-संख्या १६७ दी है, तथापि इसकी विभिन्न उपलब्ध प्रतियोंमें न्यूनाधिक गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं।

मूलाचार भी आचार्य कुन्दकुन्दकी एक अनुपम रचना है।[1] यह दिगम्बर-परम्पराका एक मौलिक आचार ग्रन्थ है। इसमें मुनियोंके आचारका बड़ा ही सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थकी रचना उस समय हुई जब कि द्वितीय भद्रबाहुके समकालीन द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण कतिपय साधु भगवान् महावीरके द्वारा उपदिष्ट आचार-मार्गमें शैथिल्यका पोषण करने लगे थे और अचेलकताके विरुद्ध सचेलता या अल्पचेलताका समर्थन करने लगे थे। ठीक ऐसे ही समयमें भगवान् महावीर-द्वारा प्रतिपादित मूल आचार-परम्पराकी रक्षाकी दृष्टिसे कुन्दकुन्दाचार्यने मूल आचारांगको बारह अधिकारोंमें संक्षिप्त करके प्रस्तुत मूलाचार नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका प्रणयन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन अध्यात्मका सर्वांगपूर्ण विवेचन करने-

---

१. मूलाचारके कर्त्ता अबतक वट्टकेराचार्य माने जाते रहे; किन्तु वट्टकेराचार्यके सम्बन्धमें अबतक इतिहासवेत्ता अभ्रान्त न थे। हाल ही में पण्डित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीकी खोजसे यह निश्चित हो चुका है कि मूलाचारके कर्त्ता वट्टकेराचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं।
—'मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १२, किरण ११।

वाले आचार्योंमें कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान वस्तुतः सर्व-प्रधान है। अपने पुण्य जन्मसे दूर दक्षिण देशकी वसुन्धराको अलंकृत करते हुए उन्होंने अपने वाङ्मयमें जिस आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको गर्भित किया, उसके आलोकमें आत्म-विस्मृत आत्माएँ युग-युगों तक आत्म-दर्शन करते हुए निस्सन्देह आत्म-कल्याणके मार्गमें अग्रसर रहेंगे। कविवर वृन्दावनदासने उनके महत्तर व्यक्तित्वका चित्रण करते हुए ठीक ही कहा है कि कुन्दकुन्दाचार्य-जैसे विशुद्ध तत्त्वज्ञानी मुनीन्द्र इस निरवधिकालकी सीमामें न हुए हैं, न है और न होंगे।[1] इनका आविर्भावकाल विक्रमकी प्रथम शताब्दी माना जाता है।[2]

आचार्य उमास्वाति

आचार्य उमास्वातिका नाम भी अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें मूर्धन्य है। इनका अध्यात्म-विषयका प्रतिपादन करनेवाला तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध है। यह कुछ पाठ-भेदके साथ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर – दोनों परम्पराओंमें समान रूपसे आदरणीय एवं मान्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ दस अध्यायोंमें विभक्त है। इन अध्यायोंमें मुख्य रीतिसे अध्यात्म-विषयका ही निरूपण किया गया है। यतः आत्म-कल्याण मोक्षमें है, अतः मोक्षके मार्गका निर्देश करते हुए आचार्य उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रका प्रारम्भ ही **"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"** इस सूत्रसे किया है। यद्यपि इसके पाँचवें अध्यायमें अजीव-तत्त्वकी व्याख्याके प्रसंगमें वस्तु-तत्त्वका – अर्थात् पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका – भी सर्वांगीण स्वरूप चर्चित किया गया है, तथापि शेष अध्यायोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी विस्तृत व्याख्या करते हुए तीनोंकी एकता ही मोक्ष-

---

१. "विशुद्ध बुद्धि वृद्धिदा, प्रसिद्ध ऋद्धि-सिद्धिदा,
हुए, न हैं, न होहिंगे मुनिन्द कुन्दकुन्द-से॥"

२. जैन पुरातन वाक्यसूची-(वीरसेवा-मन्दिर, सरसावा) —पृ० सं० १२।

प्राप्तिकी साधिका दिखलायी गयी है। दूसरे शब्दोंमें तत्त्व-मीमांसाकी दृष्टिसे आचार्य उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र – इन तीन तत्त्वोंकी समान रूपसे बड़ी तलस्पर्शिनी मीमांसा की है। जहाँ वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शनमें मुख्य रीतिसे ज्ञेय-तत्त्वकी मीमांसा मीमांसित की गयी है और योग एवं बौद्धदर्शनमें मुख्यतया चारित्र मीमांसा अपनायी गयी है, वहाँ आचार्य उमास्वातिने प्रस्तुत ग्रन्थमें तीनों तत्त्व-मीमांसाओंका जैन दृष्टिके अनुरूप सुन्दर किन्तु समन्वयात्मक चित्र उपस्थित किया है।

जैन सम्प्रदायमें आचार्य उमास्वातिकी इस रचनाका बड़ा महत्त्व है। यही कारण है कि परवर्त्ती आचार्योंने जैन तत्त्वज्ञानको युगानुरूप व्यवस्थित और विकसित करनेकी दृष्टिसे इस ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ लिखीं। इन व्याख्याओंमें पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि', अकलंकदेवके 'तत्त्वार्थ-राजवार्तिक' और विद्यानन्दके 'श्लोकवार्तिक' का बड़ा मूल्य है। ये तीनों व्याख्याएँ दिगम्बर आचार्यों-द्वारा लिखी गयी हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय-मान्य तत्त्वार्थ-सूत्रपर एक स्वोपज्ञ भाष्य रूप व्याख्या भी उपलब्ध होती है। आचार्य उमास्वातिका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी है।[1]

आचार्य पूज्यपाद

आचार्य पूज्यपादने पाँचवीं शताब्दीमें 'समाधिशतक'की रचना करके अध्यात्म-विषयका बड़ा ही मर्मस्पर्शी एवं प्रामाणिक विवेचन किया है। इसमें उन्होंने आत्माकी बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा दशाओंका वर्णन करते हुए दिखलाया है कि किस प्रकार आत्माकी समाधि-दशा उसे परमात्मा बना देनेमें समर्थ है। योगीन्दुके परमात्मप्रकाश तथा प्रस्तुत समाधिशतकमें घनिष्ठ समानता है और अनेक स्थलोंपर योगीन्दुने समाधि-

१. स्वामी समन्तभद्र। पण्डित सुखलालजी इन्हें विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका अनुमानित करते हैं। देखिए, ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना।

शतकका अक्षरशः अनुसरण किया है।[1]

पूज्यपादका दूसरा नाम देवनन्दि और जिनेन्द्रबुद्धि भी है।[2] इनका जैनेन्द्र व्याकरण एक सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ है। इनकी अन्य उपलब्ध रचनाओंमें सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश और दशभक्ति उल्लेखनीय हैं और सर्वार्थसिद्धि तो आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर विस्तृत विवृति है, जिसमें अध्यात्म-विद्याके मर्मका सूक्ष्मरीतिसे विश्लेषण किया गया है।

योगीन्दु

योगीन्दु एक महान् अध्यात्मवेत्ता हो गये हैं। इनका आविर्भाव-काल ईसाकी छठी शताब्दी है। इनकी परमात्मप्रकाश तथा योगसार नामक दो आध्यात्मिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। योगीन्दुने इन्हें उच्चकोटिकी रचनाओंमें प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोड़कर जो तत्कालीन लोक-प्रचलित अपभ्रंश भाषामें निबद्ध किया, इससे प्रतीत होता है कि वह एक ऐसे लोक-मंगलाभिलाषी सन्त थे जिनका हृदय जनसाधारणके दुःख-दैन्य और अज्ञानसे दयार्द्र था और स्वयंके आत्मसाक्षात्कारकी परमानन्द-मयी अनुभूति ही जिन्हें लोक-देशनाके लिए निरन्तर उत्प्रेरित किये रहती थी। यद्यपि यह एक जैन आध्यात्मिक विद्वान् हैं, किन्तु उनकी दृष्टि बहुत विशाल है और यही कारण है कि उनके अधिकांश वर्णन साम्प्रदायिकतासे अस्पृष्ट हैं। वेदान्तियोंका मत है कि आत्मा सर्वगत है; मीमांसकोंका कथन है कि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता; जैन उसे शरीर-प्रमाण बतलाते हैं

१. समाधिशतक ४–५ और परमात्मप्रकाश १, ११–१४; स. श. ३१ और प. प्र. २, १७५, १, १२३; स. श. ६४–६६ और प. प्र. २, १७८–८०; स. श. ७० और प. प्र. १, ८०; स. श. ७८ और प. प्र. २, ४६ आदि।

२. "यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥"
—श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ४० (६४)।

और बौद्ध कहते हैं कि वह शरीरके सिवा कुछ भी नहीं। किन्तु योगीन्दु-ने जैन अध्यात्मके प्रकाशमें नयोंकी सहायतासे इन समस्त मान्यताओंके तात्त्विक अभिप्रायको समझानेका प्रयत्न किया है।[1] परमात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें भी यद्यपि इनकी एक सुनिश्चित मान्यता है फिर भी वह उसे एक निश्चित नामसे अभिहित करनेपर ज़ोर नहीं देते। वे अपने परमात्मा-को जिन, ब्रह्म, शान्त, शिव, बुद्ध आदि संज्ञाएँ देते हैं।[2] एक स्थानपर उन्होंने 'हंसाचार' शब्दका प्रयोग किया है[3] और परमात्मप्रकाशके संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवने 'हंस'का परमात्मा अर्थ किया है, जो हमें उपनिषदोंमें आत्माके अर्थमें प्रयुक्त हंस शब्दकी स्मृतिको उद्बुद्ध करता है।

योगीन्दुका परमात्मप्रकाश अथसे लेकर इति तक विशुद्ध आध्यात्मिक विज्ञानका ग्रन्थ है। इसमें आत्मा, परमात्मा, कर्म और उनके स्वभावका तात्त्विक विवेचन किया गया है और बतलाया गया है कि आत्मा ही पर-

---

१. "अप्पा कम्मविवज्जियउ केवल-णाणें जेण।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण॥
जे णिय-बोह-परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु।
इंदिय जणियउ जोइया तिं जिउजडु वि वियाणु॥
कारणविरहिउ सुद्ध-जिउ वड्ढइ खिरइ ण जेण।
चरम-शरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिं तेण॥
अट्ठवि कम्मइँ बहुविहइँ णव णव दोस वि जेण।
सुद्धहँ एक्कु वि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण।"

—परमात्मप्रकाश १, ५२–५३–५४–५५।

२. "णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु बिण्हु बुद्धु सिवु संतु।
सो परमप्पा जिण-भणिउ एहउ जाणि णिभंतु॥"

—योगसार ९।

३. "जोइय भिल्लहिं चिन्तजइ तो तुट्टइ संसारु।
चिंतासंतउ जिणवरु वि लहइ ण हंसाचारु॥"

—परमात्मप्रकाश २, १७०।

मात्मा है, किन्तु कर्मबन्धनके कारण यह परमात्मा नहीं हो सकता। आत्म-विज्ञानसे वह कर्म-बन्धनका उन्मूलन करता है और स्वतन्त्र होकर परमात्मा हो जाता है। स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षासे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। आत्माकी ही संसार और मोक्ष – दो अवस्थाएँ हैं। संसार दशामें कर्मके कारण आत्म-शक्तियाँ प्रकट नहीं होने पातीं, किन्तु मुक्त दशामें आवरणके दूर हो जानेसे आत्माकी – अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रभृति प्रत्येक शक्तिका अपने विशुद्ध स्वभावमें स्फुरण हो जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मुक्तिका मार्ग है।[१]

परमात्मप्रकाशमें महासमाधि[२]का भी बड़ा प्रभावपूर्ण बर्णन है। प्रस्तुत महासमाधिमें मन, वचन और कायकी एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय आत्मा योग-निरोध करके मोह दूर करता है और परमात्माका साक्षात्कार करता है, वह परम समाधि है। आत्माकी यह परम समाधि दशा अर्हन्त और सिद्ध अवस्थामें ही निष्पन्न होती है। सिद्ध अष्ट कर्म-मुक्त होकर निरन्तर परम समाधिमें संलग्न रहते हैं; परन्तु लोक-कल्याणमें भी योगदान करनेके कारण अर्हन्त सदाके लिए परम समाधिमें तल्लीन नहीं रह पाते।

योगीन्दुके परमात्मप्रकाशमें जैनसिद्धान्ताविरुद्ध रहस्यवाद या गूढ़वाद

१. "जो जिण सो हउँ सो जि हउँ एहउ भाउ णिभंतु।
मोक्खहँ कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु॥"

—योगसार ७५।

२. "मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु-णिसासु।
केवल-णाणु वि परिणमइ अंबरि जाहँ णिवासु॥
जो आयासइ मणु धरइ लोया-लोय-पमाणु।
तुट्टइ मोहु तडत्ति तसु पावहि परहँ पवाणु॥"

—परमात्मप्रकाश २, १६३–१६४।

सम्बन्धी सामग्री भी उपलब्ध होती हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द और पूज्यपादके ग्रन्थोंमें भी इसका अभाव नहीं है।

योगसार योगीन्दुकी दूसरी रचना है। इसकी विषय-विवेचना भी परमात्मप्रकाश-जैसी है। इसमें आत्माको संसारकी प्रत्येक वस्तुसे सर्वथा पृथक् अनुभव करनेका उपदेश दिया गया है।[2] ग्रन्थकार कहते हैं कि संसारसे भयभीत और मोक्षके लिए उत्सुक प्राणियोंकी आत्माको जगानेके लिए जोगिचन्द्र साधुने इन दोहोंकी रचना की है।[3] योगीन्दुने १०८ दोहे प्रमाण लघुकाय रचनामें जैन अध्यात्म विषयको वस्तुतः गागरमें सागरकी तरह भर दिया है।

गुणभद्राचार्य

गुणभद्राचार्य एक महान् आध्यात्मिक एवं जैन सिद्धान्तके परम पारगामी विद्वान् हो गये हैं। यह भगवज्जिनसेन और दशरथ गुरुके शिष्य थे। इन्होंने भगवज्जिनसेन-द्वारा विरचित अपूर्ण आदिपुराणके १६२० पद्योंकी रचना कर उसे पूर्ण किया और इसके पश्चात् उत्तरपुराणकी रचना की, जो १८००० श्लोकोंमें समाप्त हुआ।[4]

इनकी आत्मानुशासन नामक एक अल्पकाय आध्यात्मिक कलाकृति है

---

१. डॉ० ए० एन० उपाध्ये-द्वारा लिखित परमात्मप्रकाश (रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई) की भूमिका।

२. "देहादिउ जे परिकहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहि ॥"

—योगसार ११।

३. "संसारहँ भय-भीयहँ मोक्खहँ-लालसयाहँ।
अप्पा-संबोहण-कयइ दोहा एक्कमणाहँ ॥"

—वही, ३।

४. गुणभद्राचार्यके विशेष परिचयके लिए देखिए, 'जैन साहित्य और इतिहास' (श्री पं० नाथूराम प्रेमी) का 'तीन महान् ग्रन्थकर्त्ता' शीर्षक लेख।

जिसमें २७२ पद्यों-द्वारा आत्म-विकास एवं आत्म-स्वातन्त्र्यकी प्राप्तिके लिए बड़ी प्रभावपूर्ण शैलीमें प्रकाश डाला गया है। इनका जन्मकाल शक सं० ७४० के लगभग माना जाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र

जैन अध्यात्म-विद्याका प्रसार करनेवाले विद्वानोंमें आचार्य अमृतचन्द्र-का स्थान बहुत उच्च कोटिका है। यदि भगवान् कुन्दकुन्द आध्यात्मिक लोकके देदीप्यमान सूर्य हैं तो आचार्य अमृतचन्द्र चन्द्रमा। कुन्दकुन्दाचार्यके बाद जैन अध्यात्मके सर्वाधिक प्रसारका कार्य यदि किसीने किया है तो वह अमृतचन्द्राचार्य ही हैं। इतना ही नहीं, कुन्दकुन्दाचार्यकी प्राकृतभाषामें निबद्ध समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार-जैसी मूल्यवान् आध्यात्मिक रचनाओंपर नितान्त प्रौढ और मर्मस्पर्शिनी संस्कृत टीकाएँ लिखकर भगवान् कुन्दकुन्दके आध्यात्मिक सन्देशको उनकी रुचि और स्वानुभूतिके अनुरूप विशाल लोकमानस तक पहुँचानेका श्रेय अमृतचन्द्राचार्यको ही हैं। इन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यके उक्त ग्रन्थोंपर संस्कृत टीकाएँ ही नहीं लिखीं, अपितु पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार नामकी दो स्वतन्त्र कृतियोंका प्रणयन भी किया। पुरुषार्थ-सिद्धयुपायमें श्रावक (गृहस्थ) के आचारका बड़ा विशद विवेचन किया गया है और तत्त्वार्थसार उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका अतिशय स्पष्ट, सुसम्बद्ध और कुछ पल्लवित संस्कृत पद्यानुवाद है। आचार्य अमृतचन्द्रका समय विक्रमकी नौवीं शताब्दीके बादका नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्र एक महान् अध्यात्मवेत्ता हो गये हैं। उनका ज्ञाना-र्णव एक अनुपम अध्यात्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है। इसमें अनादिकालीन अविद्याको दूर करने और आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेके साधनोंका बड़े विस्तारसे विवेचन किया गया है। आत्म-साक्षात्कारकी

प्रक्रियामें ध्यानकी बड़ी महत्ता दिखलायी गयी है। उसके विभिन्न भेदों और स्वरूपोंकी इस ग्रन्थमें बड़ी सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है। प्रस्तुत ग्रन्थका अपर नाम 'योगप्रदीप' है और इसके ४२ प्रकरणोंमें उक्त विषयोंका अनेक साधनोंके साथ सुन्दर विवेचन है। ज्ञानार्णवका रचना-काल विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके अन्तिम पादसे भी पहलेका है।[१]

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह उच्चकोटिके अध्यात्म-रसिक थे। इनका समय जोइन्दुके बाद और हेमचन्द्राचार्यके पूर्व अनुमानित किया जाता है।[२] इनकी 'दोहा पाहुड'[3] नामक एक सुन्दर आध्यात्मिक रचना है और इसमें परमात्मप्रकाशके समान ही उच्चकोटिका स्वानुभव-सुलभ अध्यात्म-रस मिलता है। ग्रन्थकारने इसमें आत्म-तत्त्व एवं उसकी मुक्ति-प्राप्तिके सम्बन्धमें बहुत ही स्पष्ट एवं मर्मस्पर्शी शैलीमें विवेचना की है। उन्होंने स्वानुभवशून्य ज्ञानवाद[४] और आत्मविज्ञानशून्य क्रियाकाण्ड[५]को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया है। धर्मके नामपर लोकप्रचलित अनेक मूढ़ताओं और पाखण्डोंका इसमें स्पष्ट शब्दोंमें निरसन किया गया है। मुनि रामसिंह कहते हैं—"घटके अन्तरमें बसने-

---

१. 'जैन साहित्य और इतिहास' (श्री पं० नाथूराम प्रेमी) में 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेख।

२. 'डॉ० ए० एन० उपाध्ये-द्वारा सम्पादित 'परमात्मप्रकाश' (रायचन्द्र शास्त्र-माला, बम्बई) की भूमिका।

३. 'पाहुड दोहा' (डॉ० हीरालालजी जैन-द्वारा सम्पादित तथा कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा, बरार-द्वारा प्रकाशित)।

४. "णाण तिडिक्की सिक्ख वढ़ किं पढियइं बहुएण।
जा सुंधुक्की णिड्डहइ पुरणु वि पाउ खणेण॥"

—दोहापाहुड।

५. "मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुंडिय चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहँ मुंडणु जिं कियउ, संसारहँ खंडणु तिं कियउ॥"

—वहीं।

वाले देवके दर्शन करो। क्यों तीर्थोंमें भटकते हो।" और – "यह देह ही देवालय है। इसमें अनन्त शक्तिसम्पन्न परमदेव अधिष्ठित है। उसीकी आराधना करो।"

रामसिंह सर्वात्मना आत्म-बुद्धि एवं स्वपरविज्ञानी थे। साम्प्रदायिकता-का मोह तो उन्हें छू तक नहीं गया था। समस्त जीवात्माओंमें उन्हें अपनी ही आत्मा दिखलाई देती थी।[२] विशुद्ध आत्म-तत्त्वकी उपलब्धिके लिए इन्होंने एकाग्रचिन्तानिरोधमय ध्यानकी भी महत्ता प्रतिपादित की है। समग्र 'दोहापाहुड' एक प्रांजल और सुबोध शैलीमें लिखा गया है। यद्यपि यह एक आध्यात्मिक रचना है; परन्तु कोई भी सहृदय इसे पढ़ते समय काव्य-रसानुभूतिसे उद्वेलित हुए बिना नहीं रह सकता।

कवि राजमल्ल

जैन अध्यात्मके मर्मज्ञ और प्रसार करनेवाले विद्वानोंमें कवि राजमल्ल-का स्थान भी शीर्षस्थानीय है। यह अध्यात्म और स्याद्वाद विद्याके ही पारं-गत विद्वान् नहीं थे, किन्तु छन्दःशास्त्र प्रभृति शास्त्रोंका भी उनका गम्भीर अध्ययन था। कविवर सत्रहवीं शताब्दीके उस कालमें हुए हैं जब कि अकबर बादशाह भारतका शासक था। अबतककी शोधसे यह निश्चित हो चुका है कि इन्होंने लाटीसंहिता, जम्बूस्वामिचरित, अध्यात्मकमल-मार्तण्ड, छन्दोविद्या और पंचाध्यायी ग्रन्थोंकी रचना की थी। एक अन्य रचना 'समयसार कलशकी हिन्दी टीका' भी इनकी कृति बतलायी जाती

---

१. 'मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं॥" —वही।

१. "कासु समाहि करउं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं॥
हल सहि कलह केण संमाणउं।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउं॥"

—दोहापाहुड।

है। इनमें लाटीसंहिता, पंचाध्यायी और अध्यात्मकमलमार्तण्ड महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक कृतियाँ हैं। लाटीसंहिता सात सर्गोंमें समाप्त हुई है और इसमें मुख्य रीतिसे श्रावकाचारका एक सजीव किन्तु अनुपम सुबोध शैलीमें विवेचन किया गया है। इसकी रचना वि० सं० १६४१ आश्विन शुक्ला १० रविवारके दिन पूर्ण हुई। लाटीसंहिता और पंचाध्यायीके ४३८ पद्योंमें समानता पायी जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि उक्त दोनों रचनाएँ एक ही ग्रन्थकर्त्ताकी हैं।[1]

पंचाध्यायी लगभग डेढ़ अध्याय प्रमाण अपूर्ण रचना है। पहला अध्याय ७६८ पद्योंमें समाप्त हुआ है और दूसरा ११४१ पद्योंमें अपूर्ण रह गया है। प्रस्तुत रचनाके पहले पद्यसे[2] प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार इस ग्रन्थराजको पाँच अध्यायोंमें समाप्त करना चाहते थे; परन्तु असमयमें काल-कवलित हो जानेसे यह अपूर्ण ही रह गया। इसके प्रणयनमें कविने अपने विशुद्धतर परिणाम और सर्वोपकारिणी बुद्धिको ही अन्तरंग कारण बतलाया है।[3] पंचाध्यायीका समग्र विषय-विवेचन आध्यात्मिक है और इसमें द्रव्यस्वरूप, नय-निरूपण तथा आत्म-स्वातन्त्र्यके प्रमुख साधन सम्यग्दर्शनकी सर्वांगपूर्ण विस्तृत विवेचना की गयी है।

कवि राजमल्लकी 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' अध्यात्म-रहस्यका प्रतिपादन करनेवाली अनुपम रचना है। यह चार अध्यायोंमें समाप्त हुई है। इसके प्रथम अध्यायमें निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्-

---

१. पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार लिखित 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड'की प्रस्तावना।

२. "पञ्चाध्यायावयवं मम कर्त्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥"

—पञ्चाध्यायी १–१।

३. "अत्रान्तरङ्गहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥"

—वही १–५।

ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का, दूसरेमें जीवादि सात तत्त्वोंके वर्णन-क्रमसे द्रव्य, गुण और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका, तीसरेमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका तथा चौथेमें आस्रवादि शेष तत्त्वोंका मर्मस्पर्शी विवेचन किया गया है। इसके एक पद्यसे प्रतीत होता है कि कविवरने कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्र सूरिके समयसार प्रभृति ग्रन्थोंका गम्भीरतासे आलोडन किया था।[१]

जम्बूस्वामीचरित[२] कविवरका एक चरितग्रन्थ है, जो १३ सर्गोंमें समाप्त हुआ है। उसमें मुख्यतया अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी तथा उनके दिव्योपदेशसे सन्मार्गमें संलग्न 'विद्युच्चर'की कथाका काव्यात्मक शैलीमें बड़ा हृदयग्राही वर्णन है। इसके प्रथम सर्गके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि अकबर बादशाहके समय मथुराके आस-पास लगभग ५१४ जैन स्तूप थे, जिनका साहू टोडरने जीर्णोद्धार कराया और वि० सं० १६३१ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशीके दिन इस तीर्थक्षेत्रकी प्रतिष्ठा की गयी, किन्तु कालकी विकरालता और धर्मान्धताने उन्हें धराशायी कर दिया और उनमें-से एक भी आज मथुरामें शेष नहीं है।

छन्दोविद्या (पिंगल), छन्दःशास्त्रकी अनुपम रचना है। इसे कविने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी—इन चार भाषाओंमें ग्रथित किया है। उपलब्ध भारतीय वाङ्मयमें इस प्रकार अनेक भाषाओंमें निबद्ध की गयी कदाचित् ही कोई अन्य रचना उपलब्ध हो।

इस प्रकार कविवर राजमल्लकी रचनाओंके अध्ययनसे यह बात निर्भ्रान्त है कि वह अध्यात्मशास्त्रके पारगामी पण्डित थे और उनका समग्र

---

१. "जीवाजीवादितत्त्वं जिनवरकथितं गौतमाद्िप्रयुक्तं
वक्रग्रीवादिसूक्तं सदमृतविधुसूर्यादिगीतं यथावत्।"

—अध्यात्मकमलमार्तण्ड १–१।

२. यह ग्रन्थ वि० सं० १९९३में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई'-द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

अध्यात्म-तत्त्वका विवेचन विशुद्ध स्वानुभूति-प्रधान था। वे एक निरहंकार एवं संसार-भावसे निर्लिप्त विद्वान् थे। यही कारण है कि इतने महान् और गम्भीर ग्रन्थोंका प्रणयन करनेके बाद भी उन्होंने इनमें अपना तनिक भी परिचय नहीं दिया है। इसके विपरीत एक स्थानपर उन्होंने कहा है—"मैं परब्रह्मस्वरूप आत्मा हूँ, विशुद्धात्मा हूँ, चिद्रूप हूँ और रूपवर्जित हूँ। यहाँतक कि जो राजमल्ल संज्ञा (नाम) है, वह भी मेरी नहीं है; क्योंकि जो जानता है वह नाम नहीं है और जो नाम है वह ज्ञानवान् नहीं है। दोनोंमें उपलब्ध होनेवाले इस तात्त्विक भेदके कारण नामको कैसे कर्त्ता कहा जा सकता है"[1] और – "भो विद्वानो, वस्तुतः यह रचना शब्द और अर्थ-द्वारा ही गुम्फित हुई है। इस नवीन काव्यके सृजनमें विद्वान् राजमल्ल-का कोई हाथ नहीं है।"[2]

बनारसीदास

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें कविवर बनारसीदासका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इनका जन्म माघ सुदी ११ सं० १६४३ को जौनपुर नगरमें हुआ था। इनके पिताका नाम खरगसेन था। ये बड़े ही प्रतिभा-शाली कवि थे और थे अध्यात्मविद्याके प्रकाण्ड पण्डित एवं व्याख्याता। यद्यपि इनका जन्म श्रीमाल कुलमें हुआ था और जन्मना यह श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे; परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य विरचित समयसार ग्रन्थके

---

१. "सोऽहमात्मा विशुद्धात्मा चिद्रूपो रूपवर्जितः।
अतः परं यका संज्ञा सा मदीया न सर्वतः॥
यज्जानाति न तन्नाम यन्नामापि न बोधवत्।
इतिभेदात्तयोर्नाम कथं कर्तृ नियुज्यते॥"

—जम्बूस्वामीचरित १, १४५–१४६।

२. "भो विज्ञाः, परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि॥"

—अध्यात्मकमलमार्तण्ड ४–२०।

सटीक स्वाध्यायसे इनके विचारोंमें एक क्रान्ति आयी और यह बाह्य क्रिया-काण्डसे विरक्त विशुद्ध अध्यात्मी बन गये। उनकी इस बौद्धिक क्रान्तिसे तत्कालीन समाज भी अस्पृष्ट नहीं रह सका। उनकी प्रस्तुत आध्यात्मिक मान्यतामें यथार्थ आत्म-कल्याणके बीज निहित देखकर उस समाजके व्यक्ति भी अच्छी संख्यामें उनके मतके अनुयायी बने। आगे चलकर हम देखते हैं कि कविवरकी इस मान्यताने लोक-मानसको इतना अधिक प्रभावित किया कि कतिपय श्वेताम्बर आचार्योंकी दृष्टिमें उसका यह वर्धमान प्रभाव असह्य हो उठा और उन्होंने न केवल इस मान्यताको 'साम्प्रतिक अध्यात्म-मत', 'आध्यात्मिक' या 'वाणारसीय' नामोंसे पुकारा अपितु उसके विरोधमें स्वतन्त्र ग्रन्थोंका निर्माण कर उसकी साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे कटु आलोचना भी की। महोपाध्याय यशोविजयने बनारसी-मतके विरोधमें 'अध्यात्म-मत-परीक्षा'[1] और 'अध्यात्ममत-खण्डन'[2] नामकी दो रचनाएँ लिखीं। पहली रचनामें १८४ प्राकृत गाथाएँ स्वोपज्ञ संस्कृत टीकासे युक्त हैं और दूसरी केवल १८ संस्कृत पद्योंमें स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित है।

पहली रचनामें कतिपय दिगम्बर मान्य सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए बनारसी-मतको 'नाम अध्यात्म' संज्ञासे अभिहित किया है और एक स्थान-पर कहा है कि इस प्रकार जो अध्यात्म भावके कथनसे बाह्य क्रियाओंका लोप करता है वह उन्मार्गकी प्ररूपणा करता है और बोधि (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) के बीजका नाश करता है।[3]

दूसरे ग्रन्थमें मुख्य रीतिसे केवलीके कवलाहारका प्रतिपादन किया

---

१. आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर-द्वारा प्रकाशित।

२. जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर-द्वारा प्रकाशित, यशोविजय ग्रन्थमालाकी प्रथम जिल्द।

३. "लुंपइ वज्झं किरिअं जो खलु अज्झप्पभावकहणेण।
सो हणइ बोहिबीजं उम्मगपरूवणं काउं॥"

—अध्यात्ममतपरीक्षा ४२।

गया है और अन्तमें लिखा है कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्मोदयके कारण जो विपरीत प्ररूपणा करते हैं ऐसे दिगम्बरों और उनके अनुयायी आध्यात्मिकोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए, यह हमारा हितोपदेश है। इस प्रकार साम्प्रत कालमें उत्पन्न हुए आध्यात्मिक मतको नष्ट करनेमें दक्ष यह ग्रन्थ रचा गया।[1]

उल्लिखित दो संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंके अतिरिक्त यशोविजयने एक छोटा-सा ग्रन्थ 'दिक्पट चौरासी बोल'[2] नामका भाषाछन्दोबद्ध भी लिखा है, जो पण्डित हेमराजके 'सितपट चौरासी बोल' का उत्तर है। यह भी 'नाम अध्यातमी'[3] अर्थात् बनारसीदासके पन्थके विरोधमें लिखा गया है।

महोपाध्याय मेघविजयने भी प्रस्तुत बनारसी मतके खण्डन करनेके उद्देश्यसे 'युक्तिप्रबोध'[4] नामक ग्रन्थकी रचना की। इसे इन्होंने २५ प्राकृत गाथाओंमें ग्रथित किया और स्वयं ४५०० संस्कृत पद्योंमें विस्तृत टीका भी लिखी।

---

१. "मिथ्यात्वमोहनीयकर्मोदयवशाद्विपरीतप्ररूपणाप्रवणा दिगम्बराः, तन्मतानुयायिनश्चाध्यात्मिका दूरतः परिहरणीया इत्यस्माकं हितोपदेश इति ॥१८॥
एवं साम्प्रतमुद्भवदाध्यात्मिकमतनिर्दलनदक्षम्।
रचितमिदं स्थलममलं विकचयतु सतां हृदयकमलम् ॥१९॥"

—अध्यात्ममतखण्डन।

२. श्री यशोविजयोपाध्याय विरचित गुर्जरसाहित्य संग्रह, प्रथम भाग, पृ० सं० ५७२–९७।

३. "जैन कहावैं नामतैं, तातैं बढ़यो अंकूर।
तनुमल ज्यों फुनि संतनै, कियौं दूरतैं दूर॥
भस्मकग्रह रज भसममय, तातैं बेसर रूप।
उठे 'नाम अध्यातमी', भरम जाल अंधकूप॥"

—दिक्पट चौरासी बोल १०–११।

४. ऋषभदेव – केसरीमल श्वेताम्बर संस्था रतलाम-द्वारा प्रकाशित।

यद्यपि कविवर बनारसीदासकी आध्यात्मिक मान्यता कोई स्व-बुद्धि कल्पित नवीन वस्तु नहीं थी और वह सम्पूर्णतया जैन तीर्थंकरों तथा कुन्द-कुन्दाचार्य आदि जैनाचार्यों-द्वारा विवेचित अध्यात्म-मान्यतापर आधारित थी; परन्तु उसके बढ़ते हुए प्रभावने विभिन्न सम्प्रदायके धर्माचार्योंके मानसको भी झकझोर दिया और उन्होंने अपने अनुयायियोंको बनारसी-मतानुयायी होते जानेके भयसे न केवल उसका विरोध ही किया, अपितु उसका व्याख्यान भी ग़लत रूपसे किया।[1]

बनारसीदासजीकी रचनाओंमें नाममाला, नाटक समयसार, बनारसी-विलास और अर्द्धकथानक ही उपलब्ध हैं। इनकी सबसे पहली रचना नवरस[2] थी, जिसे इन्होंने चौदह वर्षकी अवस्थामें छन्दोबद्ध किया था। नवरसमय होनेपर भी यह शृंगार-प्रधान थी और कविवरने इसे एक हज़ार दोहा-चौपाइयोंमें लिखा था। परन्तु अपनी उन्नीस वर्षकी अवस्था (वि० सं० १६६२) में आत्म-भान होते ही इन्होंने उसे अपने ही हाथोंसे गोमती-की धारामें प्रवाहित कर दिया।

---

१. श्री नाथूरामजी प्रेमी-द्वारा सम्पादित 'अर्द्धकथानक' (हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई) की भूमिका।

१. "पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा–चौपाई ॥१७८॥
तामें नवरस रचना लिखी, पै विसेस वरनन आसिखी।
ऐसे सुकवि बनारसी भए, मिथ्या ग्रन्थ बनाये नए ॥१७९॥
—अर्द्धकथानक।

३. "एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीनी हाथ ॥२६४॥
नदी गोमती के बिच आइ, पुल के ऊपर बैठे जाइ।
बाँचै सब पोथी के बोल, तब मन मैं यह उठी कलोल ॥२६५॥
एक झूठ जो बोलै कोइ, नरक जाइ दुख देखै सोइ।
मैं तो कलपित बचन अनेक, कहे झूठ सब साँचु न एक ॥२६६॥

नाटक समयसार[1] कविवरकी सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक रचना है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्यका समयप्राभृत, उसकी अमृतचन्द्राचार्यकृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका एवं राजमल्लकृत बालबोध भाषाटोका—इन तीन रचनाओंके आधारपर प्रस्तुत छन्दोबद्ध ग्रन्थका प्रणयन हुआ है और इस दृष्टिसे कविकी यह कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है, फिर भी भाव, भाषा एवं शैलीकी दृष्टिसे यह एक प्रसन्न प्रतिभा-प्रसूत मौलिक ग्रन्थ-जैसा ही प्रतीत होता है। कविवरने मूल ग्रन्थके हार्दको पूर्णतया आत्मसात् करके ही प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना की है, फलतः उसे पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई विशुद्ध आध्यात्मिक अपनी स्वानुभवपूर्ण वाणीमें ही मर्मस्पर्शी विवेचना कर रहा है। इसमें दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, अडिल्ल, कुण्डलिया, सवैया और कवित्त छन्दोंका प्रयोग किया गया है और काव्यकलाकी दृष्टिसे यह एक सर्वांगसुन्दर रचना है। इनमें १७०७ पद्य हैं और आश्विन शुक्ला त्रयोदशी वि० सं० १६९३ में इस ग्रन्थकी समाप्ति हुई है।

नाटक समयसार विशुद्ध आध्यात्मिक रचना है। इसमें आत्मस्वातन्त्र्य लाभके साधकतम साधन एवं आत्म-विकासी मार्गका विधिवत् विवेचन किया

कैसे बनै हमारी बात, भई बुद्धि यह अकसमात।
यहु कहि देखन लाग्यौ नदी, पोथी डार दई ज्यों रदी ॥२६७॥
हाइ हाइ करि बोले मीत, नदी अथाह महा भयभीत।
तामैं फैलि गये सब पत्र, फिरि कहु कौन करे एकत्र ॥२६८॥
घड़ी द्वैक पछतानै मित्र, कहैं कर्म की चाल विचित्र।
यहु कहिकैं सब न्यारे भए, बनारसी अपने घर गए ॥२६९॥
तिस दिन सौ बनारसी, करै धरम की चाह।
तजी आसिखी फासिखी, पकरी कुल की राह ॥२७१॥

—अर्द्धकथानक।

१. यह ग्रन्थ मूल रूपमें अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। एक गुजराती तथा दो हिन्दी टीकाओंके साथ भी इसका प्रकाशन हो चुका है।

गया हैं। कविवरने एक स्थलपर स्वानुभवको ही आत्मसिद्धिका द्वार बतलाया है।[1] अन्यत्र वह स्वानुभवी व्यक्तिको साहूकार तथा स्वानुभव-शून्यको चोर बतलाते हैं।[2]

बनारसी-विलास कविवरकी ५७ छोटी-बड़ी रचनाओंका संग्रह है। इसे पं० जगजीवनने चैत्रशुक्ला द्वितीया वि० सं० १७०१ में संग्रह किया था और उन्होंने इसका यह नामकरण किया था। यह आगरानिवासी थे और कविवरके बड़े भक्त थे।

[3]अर्द्धकथानक कविवर बनारसीदासकी आत्म-कथा है, जिसमें उन्होंने

---

१. "भैया जगवासी तू उदासी ह्वै कै जगत सौं,
एक छै महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवासु पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौं ही जानु रे॥
—नाटक समयसार २–३।

२. "साधी-दधिमंथ मैं अराधी रस-पंथनि मैं,
जहाँ तहाँ ग्रंथनि मैं सत्ता ही कौ सोर है।
ग्यान भान सत्ता मैं सुधा-निधान सत्ता ही मैं,
सत्ता की दुरनि साँझ सत्ता मुख भोर है।
सत्ता कौ सरूप मोख सत्ता मूल यहै दोष,
सत्ता के उलंघे धूप-धाम चहूँ ओर है।
सत्ता की समाधि मैं विराजि रहै सोई साहू,
सत्ता से निकसि और गहै सोई चोर है॥"
—नाटक समयसार ९–२३।

३. श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी-द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई-द्वारा प्रकाशित।

अपने ५५ वर्षोंके[1] वैचित्र्यपूर्ण जीवन-ऐतिह्यका अत्यन्त सजीव एवं सुबोध शैली-में गुम्फन किया है। हिन्दी साहित्यका यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण आत्मचरित ग्रन्थ है। इसके सम्बन्धमें श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदीने लिखा है :

"कविवर बनारसीदासजीके आत्मचरित्र 'अर्द्धकथानक' को आद्योपान्त पढ़नेके बाद हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें इस ग्रन्थका एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है जो इसे अभी कई सौ वर्ष और जीवित रखनेमें सर्वथा समर्थ होगी। सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता-का ऐसा जबरदस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तककी इतनी सरल है और साथ ही यह इतनी संक्षिप्त भी है, कि साहित्यको चिरस्थायी सम्पत्तिमें इसकी गणना अवश्यमेव होगी। हिन्दीका तो यह सर्वप्रथम आत्मचरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओंमें इस प्रकारकी और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं। और सबसे अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि कविवर बनारसीदासका दृष्टिकोण आधुनिक आत्मचरित लेखकों-के दृष्टिकोणसे बिलकुल मिलता-जुलता है। अपने चारित्रिक दोषोंपर उन्होंने परदा नहीं डाला है, बल्कि उनका विवरण इस ख़ूबीके साथ किया है मानो कोई वैज्ञानिक तटस्थवृत्तिसे कोई विश्लेषण कर रहा हो। आत्माकी ऐसी चीर-फाड़ कोई अत्यन्त कुशल साहित्यिक सर्जन हो कर सकता था।.... सबसे बड़ी ख़ूबी इस आत्मचरितकी यह है कि वह तीन सौ वर्ष पहलेके साधारण भारतीय जीवनका दृश्य ज्योंका-त्यों उपस्थित कर देता है।"[2]

---

१. "बरस पंच पंचास लौ, भाख्यौ निज विरतंत।
आगे भावी जो कथा, सो जाने भगवंत॥
बरस पचावन ये कहे, बरस पचावन और।
बाकी मानुष आउ मैं, यह उतकिष्टी दौर॥"

—अर्द्धकथानक ६३३–३४।

२. पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी-द्वारा लिखित 'हिन्दीका प्रथम आत्मचरित' शीर्षक लेख (अर्द्धकथानक)।

इस प्रकार यद्यपि अर्द्धकथानकमें कविके जीवनसे सम्बन्धित प्रत्येक घटनाका बड़ा हृदयग्राही चित्रण है, किन्तु इसके उपसंहारमें उन्होंने जिस भुक्तभोगीकी करुण अनुभूतिके साथ आत्म-बोधका चित्र अंकित किया है उसने तो वस्तुतः इस रचनाको आध्यात्मिक रचनामें ही पर्यवसित कर दिया है।[1]

नाममाला[2] कविवरकी उपलब्ध रचनाओंमें सर्वप्रथम रचना है। यह एक लघुकाय शब्दकोष है, जो १७५ दोहोंमें समाप्त हुआ है। रचना बहुत सुबोध और प्रांजल है और इसे कविवरने आश्विन शुक्ला १० वि० सं० १६७० को जौनपुरमें लिखकर समाप्त किया था।

उक्त विवरणसे स्पष्ट है कि कविवर बनारसीदासने न केवल अपने पूर्ववर्त्ती आचार्योंकी परम्परासे प्राप्त जैन अध्यात्मकी धाराको सम्पन्न ही किया, अपितु अपनी उग्र आध्यात्मिकताके कारण वह अपने समयके ऐसे 'अध्यात्म मत' के प्रवर्त्तक बने, जो आगे चलकर दिगम्बर सम्प्रदायके 'तेरह पन्थ' को व्यवस्थित रूप देनेमें समर्थ हुआ और उसने शिथिलाचारी भट्टारकोंके विरुद्ध विद्रोह करके उनके समाजगत एकाधिपत्यको सर्वथा निर्मूल कर दिया।[3]

उस समय तक अधिकांश साहित्य-सृजनका कार्य प्रायः संस्कृत, प्राकृत

---

१. "नौ बालक हूए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यौं तरवर पतझार ह्वै, रहै ठूठ से होइ॥
तत्त्व-दृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भाँति।
ज्यौं जाकौ परिगह घटै, त्यौं ताकौ उपसांति॥
संसारी जानै नहीं, सत्यारथ की बात।
परिगह सौं मानै विभौ, परिगह बिन उतपात॥"

—अर्द्धकथानक ६४३, ४४–४५।

२. यह रचना 'वीर-सेवा-मन्दिर' सरसावा-द्वारा प्रकाशित हो चुकी है।

३. 'जैन साहित्य और इतिहास' (श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी) में 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षक लेख, पृ० सं० ३४७–६६।

अथवा अपभ्रंश भाषामें हुआ करता था; किन्तु बनारसीदास और उनके अनुयायियोंने तत्कालीन प्रचलित देश-भाषामें ग्रन्थ-रचना करके एक ऐसी लोक-कल्याणकारिणी परम्पराको जन्म दिया, जिससे न केवल जैन धर्म और अध्यात्मके तात्त्विक स्वरूपका प्रसार ही हुआ किन्तु उस कालमें प्रचलित लोक-मूढताओंका निरास भी। धर्मचर्चाकी प्रवृत्तिको भी प्रोत्साहन मिला। धर्म-चर्चा करनेवाले श्रावकोंकी गोष्ठियाँ 'सैली' या 'ज्ञानियोंकी मण्डली' के नामसे प्रसिद्ध हुई।[1] ये ही सैलियाँ ऐसे गृहस्थ विद्वानोंको जन्म देनेमें निमित्त बनीं जिन्होंने संस्कृत-प्राकृत भाषामें निबद्ध अधिकांश जैन साहित्यको देश-भाषामें अनूदित करके सर्वसाधारणके लिए सुलभ कर दिया।

रूपचन्द

पण्डित रूपचन्द अध्यात्म-विद्याके उच्चकोटिके विद्वान् हो गये हैं। यह कविवर बनारसीदासजीके समकालीन थे। इतना ही नहीं, कविवरने इनका अपने 'अर्द्धकथानक' में गुरुके रूपमें उल्लेख किया है और लिखा है कि उनकी तत्त्वचर्चाने ही उन्हें 'दृढ़ जैनी' बना दिया।[2] नाटक समय-

---

१. बनारसीविलासके संग्रहकर्त्ता जगजीवनने अपनी मण्डलीका निम्न रूपमें उल्लेख किया है :

"समै जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयौ,
ज्ञानिन की मंडली में जिसकौ विकास है।"

—बनारसीविलास।

पण्डित द्यानतरायजी (वि० सं० १७३३–८०) ने आगरेमें मानसिंह और दिल्लीमें सुखानन्दजीकी सैलीकी इस प्रकार चर्चा की है :

"आगरे में मानसिंह जौहरी की सैली हुती,
दिल्ली माँहि अब सुखानन्दजी की सैली है॥"

—धर्मविलास।

२. "पाँड़े रूपचन्द गुरु पास। सुन्यौ ग्रन्थ मन भयौ हुलास॥
सुनि सुनि रूपचन्द के बैन। बानारसी भयौ दिढ़ जैन॥"

—अर्द्धकथानक ६३४–३५।

सारमें भी बनारसीदासने इन्हें पाँच पुरुषोंमें उद्भट विद्वान् बतलाया है।[1] इन्होंने 'परमार्थी दोहाशतक' नामक अल्पकाय रचनामें अध्यात्मतत्त्वका महत्त्व बड़ी सुन्दरताके साथ प्रतिपादित किया है। 'जैन हितैषी'[2] में यह रचना 'रूपचन्द शतक' नामसे प्रकाशित हो चुकी है। प्रत्येक दोहेके पूर्वार्द्ध-में एक आध्यात्मिक तत्त्वका समावेश है और उसके उत्तरार्द्धमें उसी तत्त्व-का सोदाहरण समन्वय। इसमें उन्होंने आतम-बोधके माहात्म्यका बड़ा गुण-गान किया है। वह कहते हैं—"आतम-परिचयके बिना जप, तप–सब व्यर्थ हैं।[3] आतम-बोधके बिना ही वैभाविक परिणति रुचिकर प्रतीत होती है।[4] अपनी वस्तु स्वयं अपने भीतर है। मनुष्य भ्रमसे उसे भूला हुआ है और बाहर खोजता है।[5]

---

१. "रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगोतीदास नर, कौरपाल गुनधाम॥
धर्मदास ये पंचजन, मिलि बैठे इक ठौर।
परमारथ चरचा करैं, इनके कथा न और॥"
—नाटक समयसार, अन्तिम प्रशस्ति २६, २७।

२. जैन हितैषी, भाग ६, अंक ५, ६।

३. "चेतन चित्परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ॥
चेतनसौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि बिहूनें खेत की, वृथा बनावत वारि॥"
—परमार्थी दोहाशतक।

४. "बिना तत्त्व-परिचय लगत, अपर भाव अभिराम।
ताम और रस रुचत हैं, अमृत न चाख्यौ जाम॥"
—वही।

५. "भ्रमतैं भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट माँहि।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखै घर चाहि॥
घट भीतर सो आपु है, तुमहिं नहीं कछु यादि।
वस्तु मुठी में भूलि कै, इत-उन देखत वादि॥"
—वही।

पण्डित रूपचन्दकी एक 'गीत परमार्थी' नामक भी अन्य रचना है, जो अबतक अविकल रूपमें उपलब्ध नहीं हुई है। इसके छह पदोंका संग्रह 'परमार्थ जकड़ी संग्रह' में उपलब्ध होता है। यह रचना भी अध्यात्मरससे ओत-प्रोत है। एक पदमें पण्डितजीने कहा है – "आत्मन्, अत्यन्त आश्चर्य-की बात है कि जब सद्गुरु तुम्हें अपनी अमृतमय वाणी-द्वारा आत्म-बोध करा रहे हैं और तुम स्वयं ज्ञान-दर्शनमय हो, फिर भी आत्मतत्त्वकी कथा तुम्हारे अन्तस्तलमें घर नहीं करती। इसके विपरीत विषय-चातुरी और कुविद्या गुरूपदेशके बिना ही तुममें सर्वात्मना स्फुरित हो रही है!!"[१]

पण्डितजीकी एक 'मंगलगीत प्रबन्ध'[२] नामक लघुकाय रचना भी बड़ी सुन्दर है।

कुँवरपाल

कुँवरपाल कविवर बनारसीदासजीके पाँच मित्रोंमें-से थे। कविवरने अपने नाटक समयसारमें इनकी अध्यात्म विषयके पाँच प्रकाण्ड पण्डितोंमें चर्चा की है। और पाँड़े हेमराज (अठारहवीं शताब्दीका प्रथम पाद) ने अपनी प्रवचनसारटीकामें इन्हें उच्चकोटिका अध्यात्म-मर्मज्ञ बतलाया है। महोपाध्याय मेघविजयने युक्तिप्रबोधमें लिखा है कि बनारसीदासके

---

१. "चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै॥
सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै, अरु तुमहू हौ ज्ञानी।
तब हू तुमहिं न क्यौं हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी॥
विषयान की चतुराई कहिए, को सरि करै तुम्हारी।
बिन गुरु फुरत कुविद्या कैसैं, चेतन अचरज भारी॥"

—परमार्थ-जकड़ी-संग्रह।

२. यह रचना जैन समाजमें 'पंचमंगल' के नामसे सुप्रसिद्ध है और 'जैन साहित्य-प्रसारक कार्यालय, बम्बई'से प्रकाशित भी हो चुकी है।

स्वर्गवासी होनेके बाद कुँवरपालने उनके मतका प्रवर्तन किया और वह बनारसी मतानुयायियोंमें गुरुके समान बहुत मान्य हुए।[1]

यद्यपि कुँवरपालकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है; परन्तु बनारसीदास-विरचित सूक्तिमुक्तावलीमें इनके द्वारा रचे गये कुछ पद्य[2] अवश्य मिलते हैं; जिनके देखनेसे प्रतीत होता है कि इनमें कवित्व-शक्तिका भी सुन्दर विकास हुआ था।

पाँड़े हेमराज

पाँड़े हेमराज अध्यात्मतत्त्वके बहुत अच्छे ज्ञाता हो गये हैं। यह पण्डित रूपचन्दके शिष्य थे।[3] इन्होंने गद्य-पद्य दोनोंमें रचनाएँ की हैं। कुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारकी हिन्दी-टीका इन्होंने १७०९ में समाप्त की[4] और इसके बाद पञ्चास्तिकायकी टीका लिखी। दोनों टीकाएँ तत्कालीन

---

१. "अह तम्मि हु कालाए कुँवरपालेण तम्मयं धरियं।
जाओ तो बहुमण्णो गुरुव्व तेसिं स सव्वेसिं॥"

—युक्तिप्रबोध १६।

२. लोभकी निन्दाका एक पद्य निम्न प्रकार है:
"परम धरम-बन दहै, दुरित अम्बरगति धारहि।
कुयश धूम उदगरै, भूरि भय भस्म विथारहि॥
दुख फुलिंग फुंकरै, तरल तृष्णा कल काढ़हि।
धन इंधन आगम सँजोग, दिन दिन अति बाढ़हि॥
लहलहै लोभ-पावक प्रवल, पवन मोह उद्धत बहै।
दज्झहि उदारता आदि बहु, गुण-पतंग 'कुंवरा' कहै॥५६॥"

—बनारसीविलास।

३. "यह श्री रूपचन्द गुरुके प्रसादका पाँड़े श्री हेमराजने अपनी बुद्धि माफिक लिखत कीना।"—पञ्चास्तिकाय टीका, अन्तिम अंश।

४ "सत्रह सय नव उत्तरै, माघ मास सित पाख।
पंचमि आदितवार कौ, पूरन कीनी भाख॥"

हिन्दी-गद्यके सुन्दर उदाहरण हैं।[1] इन ग्रन्थोंमें इन्होंने जैन अध्यात्म-रहस्यका बड़ी सूक्ष्मता और स्पष्टताके साथ उद्घाटन किया है। तीसरी रचना मानतुंगसूरि विरचित संस्कृत भक्तामरका हिन्दी पद्यानुवाद है, जो इस बातका सूचक है कि पाँड़ेजी आध्यात्मिक लेखक होनेके अतिरिक्त सुकवि भी थे।[2]

इनके अतिरिक्त गोम्मटसार और नयचक्रकी भाषावचनिका तथा 'चौरासी बोल' नामकी अन्य छन्दोबद्ध रचनाएँ भी इनकी उपलब्ध होती हैं। इनका समय सत्रहवीं शताब्दीका चतुर्थ पाद तथा अठारहवीं शताब्दीका प्रथम पाद है।[3]

भैया भगवतीदास

भैया भगवतीदास कविवर बनारसीदासके समान ही अध्यात्म-तत्त्वज्ञ और प्रतिभाशाली कवि थे। यह आगराके रहनेवाले थे। इनकी जाति ओसवाल थी और गोत्र कटारिया। इनके पिताका नाम लालजी था और

---

१. इनके गद्यका एक उदाहरण देखिए :
"जो जीव मुनि हुवा चाहै है सो प्रथम ही कुटुम्ब लोककौं पूछि आपकौं छुटावै है बंधु लोगनिसौं इस प्रकार कहै है—अहो इस जनके शरीरके तुम भाई बंध हौ, इसि जनका आत्मा तुम्हारा नहीं, यों तुम निश्चय करि जानौ।"
—प्रवचनसार टीका।

२. इनके पद्यका एक उदाहरण देखिए :
"प्रलय पवन करि उठी आग जो तास पटंतर।
वम फुलिंग शिखा उतंग पर जलै निरंतर॥
जगत समस्त निगल्ल भस्म करहैगी मानो।
तड़तड़ात दव अनल जोर चहुँ दिशा उठानो॥
सो इक छिन में उपशमै, नाम-नीर तुम लेत।
होइ सरोवर परिनमै, विकसित कमल समेत॥"
—भाषा भक्तामर ४१।

३. 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास' (श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी)।

पितामहका दशरथसाहु, प्रस्तुत भैया भगवतीदासजी कविवर बनारसीदास-द्वारा उल्लिखित 'पंच पुरुष'के पण्डित भगवतीदाससे भिन्न थे। इनका उपनाम 'भैया' था और इनकी छोटी-मोटी ६७ रचनाओंका संग्रह ''ब्रह्मविलास' में प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचनाएँ भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों दृष्टियोंसे उच्च कोटिकी हैं। इनमें सिद्धान्त और अध्यात्म तथा नीति और वैराग्यकी बहुत ही ऊँची और गम्भीर अभिव्यंजना हुई है। इनका एक आध्यात्मिक पद देखिए और देखिए कि उसमें कैसा अमृत-रससे सिंचित स्वानुभव उद्वेलित हो रहा है :

''कहा परदेशी को पतियारो;
मन मानै तब चलैं पंथ कौं, साँझ गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छाँड़ि इतही पुनि, त्यागि चलै तन प्यारो ॥१॥
दूर दिसावर चलत आप ही, कोउ न राखन हारो।
कोऊ प्रीति करौ किन कोटिक, अंत होयगौ न्यारौ ॥२॥
धन सौं राचि धरम सौं भूलत, झूलत मोह मँझारो।
इहि विधि काल अनन्त गमायौ, पायौ नहिं भव पारो ॥३॥
साँचे सुख सौं विमुख होत है, भ्रम-मदिरा-मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे 'भैया', आप ही आप संभारो ॥४॥
कहा परदेशी को पतियारो ॥''

भूधरदास

भूधरदास एक उच्चकोटिके अध्यात्म-रसिक सुकवि थे। यह आगरेके निवासी थे और जातिके खण्डेलवाल थे। यह अठारहवीं शताब्दीके अन्त तक विद्यमान रहे। इनकी जैनशतक, पार्श्वपुराण और पदसंग्रह नामक तीन महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं।

कविवरने जैनशतककी रचना वि० सं० १७८१ पौष कृष्ण त्रयोदशी-को समाप्त की। इसकी रचना शाह हरीसिंहके धर्मानुरागी वंशजोंकी

प्रेरणासे हुई।[1] इसमें कविने अध्यात्म, नीति एवं वैराग्यकी जो त्रिवेणी प्रवाहित की है, उसमें अवगाहन करके प्रत्येक सहृदय पाठक आत्म-प्रबुद्ध हो सकता है। संसारी मानवकी प्रगाढ़ रागान्धताका कवि-कल्पना-प्रसूत एक चित्र देखिए :

"देखौ भर जोबन मैं पुत्र कौ वियोग आयौ,
तैसैं ही निहारी निज नारी काल मग मैं।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं या मही पै,
रंक भए फिरैं तेऊ पनही न पग मैं॥
एते पै अभाग धन-जीतव सौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहूँगो अलग मैं।
आँखिन विलोकि अन्ध सूसेकी अँधेरी करै,
ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मैं॥"[2]

अन्यत्र देखिए, कविवर अपने विशुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभके लिए कितने उत्कण्ठित हैं। उनकी स्वानुभव-प्रधान वाणीका रस लीजिए :

"कब गृह वास सौं उदास होय वन सेऊँ,
वेऊँ निजरूप गति रोकूँ मन-करि की।

---

१. "आगरे में बाल बुद्धि भूधर खंडेलवाल,
बालक के ख्यालसौं कवित्त कर जानै है!
ऐसे ही करत भयो जैसिंघ सवाई सूबा,
हाकिम गुलाबचंद आये तिहि थाने है॥
हरीसिंह शाहके सुवंश धर्मरागी नर,
तिनके कहे सौं जोरि कीनी एक ठानै है।
फिरि-फिरि प्रेरे मेरे आलस को अन्त भयो,
उनकी सहाय यह मेरो मन मानै है॥"
—जैनशतक, प्रशस्ति।

२. जैनशतक (जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई)।

रहिहौं अडोल इक आसन अचल अंग,
सहि हौं परीसा शीत-घाम-मेघ-झरी की ॥
सारंग समाज खाज कबधौं खुजैहै आनि,
ध्यान-दल जोर जीतूँ सेना मोह अरि की ।
एकल विहारी जथाजात लिंग धारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की ॥"

भूधरदासकी दूसरी रचना पार्श्वपुराण है। इसमें तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथका चरित्र वर्णित किया गया है और कविने जैन सिद्धान्त तथा अध्यात्मकी निर्मल निर्झरिणी बहायी है। रचना उच्चकवित्वविभूषित तथा प्रसादगुणसे सम्पन्न है।

कविवर कहते हैं[1], "शरीर और दुर्जनके स्वभावमें तनिक भी अन्तर नहीं है। शरीरका पोषण और शोषण उसी प्रकार दुःख-दोष तथा शान्ति उत्पन्न करता है जिस प्रकार दुर्जनका। अतः शरीरमें रागभाव न रखकर आत्महित-साधनामें ही इसका सदुपयोग करना चाहिए।" दूसरे स्थलपर वह कहते हैं[2], "जरा मृत्युकी छोटी बहन है, फिर भी मनुष्य वृद्धावस्थामें आत्महित-साधना नहीं करता। कितनी महान् भूल है इस मानवकी!"

भूधरदासकी एक अन्य रचना पदसंग्रह है, जिसमें पद-पदपर अध्यात्म, वैराग्य और शान्तरस उच्छलित होता है। इसमें कुल मिलाकर ८० पद हैं और कतिपय स्तुतियाँ भी।

---

१. "पोखत तो दुख दोख करै सब, सोखत सुख उपजावै।
दुर्जन-देह-स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै॥
राचनजोग स्वरूप न याकौ, विरचनजोग सही है।
यह तन पाय महातप कीजे, यामैं सार यही है॥"

—पार्श्वपुराण।

२. "जरा मौत की लघुबहिन, यामैं संशय नाहिं।
तौ भी सुहित न चिन्तवै, बड़ी भूल जग माँहि॥"

—वही ६२।

द्यानतराय

कविवर द्यानतराय सुकवि होनेके साथ-साथ अध्यात्म-विद्याके पारगामी पण्डित थे। यह आगराके रहनेवाले थे और जाति थी खण्डेलवाल। इनका जन्म वि० सं० १७३३ में हुआ था। यह श्यामदासके पुत्र और वीरदासके पौत्र थे। उस समय आगरेमें मानसिंह जौहरीकी 'सैली' थी, जो जैन अध्यात्मकी प्रभावना और प्रसारमें संलग्न थी। द्यानतराय भी इस 'सैली' के अध्यात्म-प्रसारसे प्रभावित हुए। उन्होंने मानसिंह और बिहारीदासको अपना मार्गदर्शक बनाया और उनके हितोपदेशसे यह दृढ़निष्ठावान् जैन हो गये। कुछ दिनोंके पश्चात् यह आगरा छोड़कर दिल्ली आ गये। यहाँ आकर इन्हें सुखानन्दजीकी 'सैली' का समागम मिला और इनकी अध्यात्म-निष्ठा उत्तरोत्तर विकसित होती गयी। इनकी एक धर्म-विलास नामक विशाल रचना उपलब्ध है, जिसमें इनकी छोटी-मोटी समस्त रचनाएँ संग्रहीत हैं। इसकी रचना आगरेमें प्रारम्भ हुई और दिल्लीमें आकर १७८० में समाप्त हुई। प्रस्तुत संग्रहमें ३३३ अध्यात्म-रस-पूर्ण पद हैं तथा कतिपय पूजाओंके अतिरिक्त ४५ विषय और हैं जिन्हें कविवरने अपनी प्रसादगुणपूर्ण कमनीय कवितामें गुम्फित किया है।

कविवर विशुद्ध आध्यात्मिक थे, अतः अभिमान तो उन्हें छू तक नहीं गया था। एक उत्कृष्ट कोटिकी अध्यात्मरसपूर्ण रचना करनेपर भी अन्तमें उन्होंने एक अनुपम विनय-विवेकसमन्वित पद्धतिसे उसके कर्तृत्वका परिहार किया है। उन्होंने कहा[1] है, "अक्षरोंसे तुक हुई और तुकसे छन्द। छन्द

---

१. "अच्छर सेती तुक भई, तुक सौं हूए छन्द।
छंदनिसौं आगम भयौ, आगम अरथ सुछंद॥
आगम अरथ सुछंद, हमौं ने यह नहिं कीना।
गंगा का जल लेइ, अरघ गंगा कौ दीना॥
सबद अनादि अनन्त, ग्यान कारन बिन मच्छर।
मैं सबसेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अच्छर॥"
—धर्मविलास, अन्तिम प्रशस्ति।

और अर्थ मिलकर आगम बना। यह सब अचेतन हैं और मैं ज्ञानमय चैतन्य पिण्ड हूँ। मैंने इस ग्रन्थके निर्माणमें कुछ नहीं किया है और न मेरा कर्तृत्व बतलाना संगत भी है।" एक अन्य स्थानपर वह कहते हैं :

"संसार स्वार्थमय है और इसमें तनिक भी सुख नहीं है। दुर्लभ मनुष्य-भवकी सफलता इसमें है कि हम क्रोध, मान, माया और लोभ रूप दुर्वृत्तियों-को तनिक भी मनमें स्थान न दें। आत्म-स्वातन्त्र्यको प्राप्त करनेके लिए मनमें यही आ रहा है कि समस्त संगसे विनिर्मुक्त होकर योगी हो जायें।"[1]

जगजीवन

जगजीवन अध्यात्म रहस्यवेत्ता होनेके साथ ही अपने समयके सुप्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी थे। यद्यपि कविवर बनारसीदासने अपनी रचनाओंमें कहीं भी इनका नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि वह उनके द्वारा प्रवर्तित 'अध्यात्म-मान्यता'के पूरे अनुयायी थे। इन्होंने वि० सं० १७०१ में बनारसीदासकी समस्त रचनाएँ संकलित कीं और उसे बनारसी-विलासका नाम दिया।[2]

---

१. "सरसों समान सुख नहीं कहूँ गृह माहिं,
दुःख तौ अपार मन कहाँ लौं बताइए।
तात मात सुत नारि स्वारथ के सगे भ्रात,
देह तौ चलै न साथ और कौन गाइए।
नरभौ सफल कीजै और स्वाद छाँड़ि दीजै,
क्रोध मान माया लोभ चित्त मैं न लाइए।
ज्ञान के प्रकासन कौ सिद्धनाथ वासन कौं,
जी मैं ऐसी आवै है कि जोगी होइ जाइए॥"

—धर्मविलास ७८।

२. "नगर आगरे मैं अगरवाल आगरौ,
गरगगोत आगरे मैं नागर नवलसा।
संगही प्रसिद्ध अभैराज राजमान नीके,
पंच बाला नलिनि मैं भयौ है केवलसा॥

जगजीवन आगराके निवासी थे और गर्गगोत्री अग्रवाल थे। इनके पिताका नाम संघवी अभयराज और माताका मोहनदे था। इन्होंने शाह-जहाँनाबाद निवासी पं० हीरानन्दसे कुन्दकुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकायके हिन्दी पद्यानुवाद करनेकी प्रेरणा की और फलतः इसी प्रेरणाके परिणाम-स्वरूप पण्डितजीने वि० सं० १७११ में इस महत्त्वपूर्ण रचनाको सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत रचनासे प्रतीत होता है कि जगजीवन, जाफ़रख़ाँ नामक किसी उमरावके दीवान भी थे।

आनन्दघन

आनन्दघन श्वेताम्बर सम्प्रदायके एक पहुँचे हुए महात्मा और सिद्ध पुरुष थे। अध्यात्म-विषयके यह मर्मज्ञ विद्वान् थे। जनश्रुति है कि इनका उपाध्याय यशोविजयसे साक्षात्कार हुआ था। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक स्तवनावली है, जिसमें गुजराती भाषामें २४ स्तोत्र गुम्फित हैं और दूसरी हिन्दीकी 'आनन्दघन बहत्तरी' है। यह रचना पदात्मक है और प्रत्येक पद अध्यात्म रससे आप्लावित है।

आनन्दघनकी दृष्टि बड़ी उदार और विशाल थी। विभिन्न मत-मतान्तरों-के प्रति वह समदृष्टि और सहिष्णु थे। उनकी वाणी शान्तरसमयी और अन्तरको भेदनेवाली है। जगत्की आशा-शृंखलाके सम्बन्धमें एक स्थान-पर उन्होंने कहा है,[1] "संसारकी आशारूपी ज़ंजीरकी गति बड़ी विचित्र और विपरीत है। आशा-ज़ंजीरमें जकड़ा हुआ प्राणी तो जगत्में दौड़

ताके परसिद्ध लघु मोहनदे संघइनि,
जाके जिन माथ विराजत धवलसा।
ताही कौ सुपूत जगजीवन सुदिढ़ जन,
बनारसी बैन जाके हिय मैं सबलसा॥
—बनारसीविलास, अन्तिम प्रशस्ति।

१. "जग आशा-जंजीर की, गति उलटी कछु और।
जकर्यौ धावत जगत मैं, रहै छुटौ इक ठौर॥"

लगाता है और इससे उन्मुक्त हुआ व्यक्ति एक स्थानपर (अर्थात् मोक्षमें) ठहरता है।" आत्मानुभवरूपी पुष्पकी नवीन रीतिका उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है :

"आतम-अनुभव-फूल की, एक नवेली रीत।
नाक न पकरै वासना, कान गहै न प्रतीत॥"

यशोविजय

यशोविजय श्वेताम्बर परम्परामें एक महान् ख्यातिप्राप्त विद्वान् हो गये हैं। यह संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी – इन चारों भाषाओंके विशिष्ट कवि थे। न्याय, सिद्धान्त और अध्यात्मके यह प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने संस्कृतमें लगभग ५०० छोटे-बड़े ग्रन्थोंका निर्माण किया है। इनके हिन्दी पदोंका संग्रह 'जसविलास'के नामसे प्रकाशित हो चुका है, जिसमें ७५ आध्यात्मिक पदोंका समावेश है। 'आनन्दघन अष्टपदी' नामकी एक अन्य रचना भी इससे पृथक्से दी गयी है।

यशोविजयका जन्म सं० १६८० के लगभग हुआ था और स्वर्गवास सं० १७४५ में। यह नयविजय मुनिके शिष्य थे। इनकी पदावलीके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषापर भी इनका असाधारण अधिकार था, यद्यपि उसमें यत्र-तत्र गुजराती भाषाके शब्दोंका भी प्रयोग हुआ है।

विनयविजय

विनयविजय एक विशिष्ट आत्मानुभूतिसम्पन्न विद्वान् हो गये हैं। यह कीर्तिविजयके शिष्य थे और यशोविजयके समकालिक थे। यह संस्कृत और हिन्दीके ख्यातनामा ग्रन्थकार और सुकवि थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है और प्रायः सभी उपलब्ध हैं। इनका एक नवकर्णिका नामक दर्शन-ग्रन्थ अँगरेज़ी टीकाके साथ भी प्रकाशित हो चुका है। इनमें हिन्दी-पदोंका संग्रह 'विनय-विलास'के नामसे प्रकाशित हो चुका है। इसमें सैंतीस पद संगृहीत हैं और प्रत्येक पदसे आत्मानुभवका सुमधुर स्रोत फूट रहा है। एक पदमें इन्होंने आत्माको अश्वारोहीके रूपमें चित्रित करते हुए शरीर-

रूपी अविनीत घोड़ेकी गतिसे पूर्ण परिचित होने तथा उसे विनीत कर स्वात्म-लाभ करनेके लिए एक नितान्त सुन्दर सालंकार शैलीमें सम्बोधित किया है।[1]

विनयविजयने काशीमें रहकर अनेक शास्त्रोंका गहन अध्ययन किया था और यह वि० सं० १७३९ तक विद्यमान रहे।

पण्डित दौलतराम

पण्डित दौलतराम जैन तत्त्वज्ञान और अध्यात्मके उच्चकोटिके विद्वान् थे। यह खण्डेलवाल जातीय थे और गोत्र काशलीवाल था। इनके पिताका नाम आनन्द था। यद्यपि इनकी जन्मभूमि बसवा थी; परन्तु जयपुरमें रहते थे और राजाके प्रमुख कर्मचारी थे। इनकी रचनाओंके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीके विशिष्ट विद्वान् थे। सं० १७९५ में उन्होंने अपना 'क्रियाकोश' समाप्त किया। उस समय वह किसी जयसुत राजाके मन्त्री थे और उदयपुरमें रहते थे।[2] हरिवंश-

---

१. "घोरा भूठा है रे तू मत भूले असवारा।
तोहि मुधा ये लागत प्यारा, अंत होयगा न्यारा ॥घोरा०॥
चरै चोज अरु डरै कैद सौं, ऊबट चलै अटारा।
जीन कसै तब सोया चाहै, खाने कौं होशियारा ॥२॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, द्यो सब न्यामत चारा।
असवारी का अवसर आवै, गलिया होय गँवारा ॥३॥
छिनु ताता छिनु प्यासा होवै, खिजमत बहुत करावन हारा।
दौर दूर जंगल में डारै, भूरै धनी बिचारा ॥४॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, द्यो चाबुक दो चारा।
इस घोरे कौं 'बिनय' सिखावो, ज्यौं पावो भव पारा ॥५॥
—विनय-विलास।

२. "आनन्द सुत जयसुत कौ मन्त्री, जयकौ अनुचर जाहि कहै।
सो दौलत जिनदासनि-दासा, जिन मारग की शरण गहै॥"
—क्रियाकोश, अन्तिम प्रशस्ति।

पुराणकी-भाषावचनिकामें उन्होंने लिखा है कि जयपुरके दीवान प्राय: जैन-सम्प्रदायके होते हैं। इनके समकालीन दीवान रतनचन्द्र थे।

पण्डित दौलतरामने जयपुरके एक धार्मिक गृहस्थ राजमल्लकी प्रार्थना-पर सं० १८२३ में पद्मपुराणकी हिन्दी टीका की थी। इसके बाद ही सं० १८२४ में आदिपुराणका तथा १८२९ में श्रीपालचरित्रका हिन्दी गद्य-में अनुवाद किया। तदनन्तर योगीन्दुदेव विरचित परमात्मप्रकाशकी भी ब्रह्मदेव विरचित संस्कृत टीकाके आधारपर हिन्दी व्याख्या की। इसके अतिरिक्त सं० १८२७ में इन्होंने पण्डितप्रवर टोडरमल्ल रचित पुरुषार्थ-सिद्धयुपायकी अपूर्ण टीकाको भी पूर्ण किया।

उपरिलिखित पुराणोंका अनुवाद कार्य करके पण्डित दौलतरामने जैन सिद्धान्त और अध्यात्मके प्रचार तथा प्रसारकी दिशामें वस्तुत: एक महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। डॉ० ए० एन० उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी भूमिकामें लिखा है[1]: "परमात्मप्रकाशके पठन-पाठनमें पण्डित दौलतरामजीका उतना ही हाथ है, जितना समयसार और प्रवचनसारके पठन-पाठनमें राजमल्ल और पाँड़े हेमराजका।"

पण्डितजीकी हिन्दी भाषाका नमूना निम्नप्रकार है :

"बहुरि-तिनि सिद्धनिके समूहिकूँ मैं बन्दू हूँ। जे सिद्धनिके समूहि निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठे हैं, अरि विवहारिनय करि सर्व लोकालोककूँ नि:सन्देहपणैं प्रतक्ष देखैं हैं। परन्तु परपदार्थनिविषै तन्मयी नाहीं, अपने स्वरूपविषै तन्मयी हैं। जो परपदार्थनिविषै तन्मयी होई तो पराये सुख-दुख करि आप सुखी दुखी होई, सो कदापि नाहीं। विवहारिनय-करि स्थूल-सूक्ष्म सकलिकूँ केवलज्ञानिकरि प्रतक्ष नि:सन्देह जानैं हैं। काहू पदार्थ सुँ रागि-द्वेष नाहीं। रागिके हेतुकरि जो काहूँको जाने तो रागद्वेषमई होय, सो यह बड़ा दूषण है। तातैं यही निश्चय भया जो निश्चयनयकरि अपने स्वरूप विषै तिष्ठै हैं, पर विषैं नाहीं। अरि अपनी ज्ञायक शक्ति करि

१. परमात्मप्रकाशकी डॉ० ए० एन० उपाध्ये-द्वारा लिखित भूमिका।

सबिकूँ प्रतक्ष देखे हैं जानै हैं। जो निश्चयकरि अपने स्वरूपविषै निवास कह्या सो अपना स्वरूप ही आराधिवे योग्य है यह भावार्थ है।"[1]

पण्डित टोडरमल

ऋषिकल्प पण्डित टोडरमल जैनसिद्धान्त एवं अध्यात्मके असाधारण मर्मज्ञ विद्वान् हो गये हैं। यह जयपुरनिवासी खण्डेलवाल जैन थे और जनश्रुति है कि जयपुर राज्यके दीवान अमरचन्द्रने इन्हें अपने पास रखकर विद्याध्ययन कराया था। १५, १६ वर्षकी अवस्थामें ही यह ग्रन्थ-रचनामें प्रवृत्त हो गये थे। यह अनेक भाषाओं और शास्त्रोंके तलस्पर्शी आचार्य थे। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'गोम्मटसार वचनिका' है, जिसमें लब्धि-सार और क्षपणासार भी सम्मिलित हैं। यह नेमिचन्द्राचार्यके प्राकृत गोम्मट-सारकी भाषाटीका है, जिसकी श्लोक-संख्या लगभग पैंतालीस हज़ार है। इसमें जैनसम्मत जीव और कर्म-सिद्धान्तका बहुत विस्तृत, विशद एवं सूक्ष्म विवेचन किया गया है। दूसरी रचना त्रैलोक्यसार वचनिका है। इसमें जैनभूगोल और खगोलका विस्तारसे वर्णन किया गया है। इसकी श्लोक-संख्या लगभग दस-बारह हज़ार श्लोक प्रमाण है। तीसरी रचना गुणभद्रा-चार्य विरचित आत्मानुशासनकी भाषावचनिका है, जिसमें बड़ी हृदयहारिणी शैलीमें जैन अध्यात्म चर्चित किया गया है।

पण्डित टोडरमलकी शेष दो रचनाएँ अपूर्ण हैं। एक अमृतचन्द्राचार्य विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी भाषावचनिका है, जिसे बादमें वि० सं० १८२७ में पण्डित दौलतरामजीने समाप्त किया। दूसरी रचना मोक्षमार्ग-प्रकाश है, जो अनेक ग्रन्थमालाओं[2] से प्रकाशित हो चुका है। स्व० ब्रह्मचारी

---

१. पण्डित दौलतरामकृत परमात्मप्रकाशकी भाषाटीका।

२. सर्वप्रथम यह ग्रन्थ 'अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला', बम्बई-द्वारा प्रकाशित हुआ। इसका आधुनिक हिन्दी रूपान्तर पं० लालबहादुर शास्त्रीने किया, जो भा० दि० जैन संघ चौरासीसे प्रकाशित हो चुका है। गुजराती रूपान्तर भी इसका हो चुका है।

शीतलप्रसादजीने इसे आधुनिक हिन्दीमें अपने ढंगसे पूर्ण करनेका एक प्रयत्न किया है।[1]

मोक्षमार्ग-प्रकाश पण्डितजीकी एक स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण मौलिक रचना है। आत्म-स्वातन्त्र्यके मार्गका विशद विवेचन करनेके पवित्र उद्देश्य-से यह अपूर्व रचना प्रारम्भ की गयी थी; किन्तु अकालमें ही काल-कवलित हो जानेसे यह अपूर्ण ही रह गयी यद्यपि अपने अपूर्ण रूपमें भी यह ५०० पृष्ठोंकी विशालकाय रचना है। यह ३२, ३३ वर्षकी अवस्थामें ही स्वर्ग-वासी हो गये। श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने इनका जन्म वि० सं० १७९३ के लगभग अनुमानित किया है।

पण्डित जयचन्द्र

पण्डित जयचन्द्र उन्नीसवीं शताब्दीके असामान्य विद्वान् हो गये हैं। जैन सिद्धान्त, दर्शन एवं अध्यात्मके यह असाधारण विद्वान् थे। यह जय-पुरके निवासी तथा छावड़ागोत्री खण्डेलवाल थे। यह प्राकृत और संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थोंपर महत्त्वपूर्ण भाषावचनिकाएँ लिखी हैं, जिनकी एकत्रित श्लोक-संख्या साठ हजारके लगभग होती है:

१. सर्वार्थसिद्धि	वि० सं० १८६१
२. परीक्षामुख	,, १८६३
३. द्रव्यसंग्रह	,, १८६३
४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	,, १८६६
५. आत्मख्याति समयसार	,, १८६४
६. देवागम स्तोत्र	,, १८८६
७. अष्टपाहुड	,, १८६७
८. ज्ञानार्णव	,, १८६९
९. भक्तामरचरित्र	,, १८७०

---

१. मोक्षमार्ग-प्रकाशक उत्तरार्द्ध (दि० जैन पुस्तकालय चन्दाबाड़ी, सूरत)।

१०. सामायिक पाठ
११. चन्द्रप्रभकाव्यके द्वितीय सर्गका न्याय भाग
१२. मत-समुच्चय
१३. पत्र परीक्षा

इन रचनाओंमें निर्माण-कालका उल्लेख नहीं है ।

कतिपय ग्रन्थोंको छोड़कर उपरिलिखित समस्त ग्रन्थ उच्चकोटिके दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक हैं। गद्य-रचनाके साथ-साथ पद्य-रचनामें भी यह प्रवीण थे। इन्होंने कतिपय पद और स्तुतियाँ भी लिखी हैं, जिनमें पद-पद-पर स्वानुभूति और वैराग्य छलक रहा है। इनका द्रव्य-संग्रहका पद्यानुवाद भी उपलब्ध है। वि० सं० १८७० में लिखित एक छन्दोबद्ध पत्र भी आपका 'वृन्दावनविलास' में प्रकाशित हो चुका है।

जयचन्द्रकी उक्त रचनाओंमें-से अधिकांश रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

वृन्दावन

कविवर वृन्दावनका जन्म शाहाबाद जिलेके बारा नामक ग्राममें सं० १८४८ को हुआ था। इनके पिताका नाम धर्मचन्द्र था। जिस समय इनकी अवस्था बारह वर्षकी थी, इनके पिता काशीमें आकर रहने लगे। काशीमें बाबर शहीदकी गलीमें इनका मकान था। इनके वंशज अब भी आरामें रहते हैं।

कविवर वृन्दावनकी दृष्टि बड़ी धार्मिक और विशाल थी। यह एक प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी सर्वोत्तम रचना कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत प्रवचनसारका हिन्दी पद्यानुवाद है। इस कृतिको सर्वश्रेष्ठ बनानेके लिए इन्होंने तीन बार परिश्रम किया और तब कहीं इन्हें कुछ सन्तोष हुआ।[1]

---

१. "तब छन्द रची पूरन करी, चित न रुची तब पुनि रची।
सोऊँ न रुचो तब अब रची, अनेकान्त रससों मची॥"
—प्रवचनसार, अन्तिम प्रशस्ति।

दूसरी रचना 'चतुर्विंशतिजिनपूजापाठ' है और तीसरी है 'तीस चौबीसी पूजापाठ'। दोनों रचनाओंमें अलंकृत शैलीमें जैन तीर्थंकरोंकी पूजाएँ हैं।

चौथी रचना छन्दशतक है। छन्द:शास्त्रकी यह एक अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना कविवरने अपने पुत्र अजितदासको छन्दोज्ञान करानेकी दृष्टिसे सं० १८९८ में की थी।

पाँचवीं रचना 'वृन्दावन-विलास' है। इसमें कविकी समस्त स्फुट कविताओं, पदों एवं स्तुतियों आदिका समावेश है। एक अन्य रचना 'पासा केवली' है जिसमें पासा डालकर शुभाशुभ जाननेकी पद्धति निर्दिष्ट की गयी है।

बुधजन

कविवर बुधजन एक उच्चकोटिके आध्यात्मिक सुकवि थे। इनका पूरा नाम विरधोचन्द था। यह जयपुरनिवासी तथा खण्डेलवाल जातीय थे। इनकी सर्वप्रथम रचना 'तत्त्वार्थबोध' है। इसमें आत्म-स्वातन्त्र्य प्राप्त करनेके सुपथका काव्यमय शैलीमें बड़ी सुन्दरताके साथ प्रतिपादन किया गया है। कविवरने इसे वि० सं० १८७१ में पूर्ण किया।

दूसरी रचना 'बुधजनसतसई' है, जो अन्य सतसई-रचनाओंकी शैलीपर विरचित की गयी है और जिसमें बड़ी कला-कुशलताके साथ अध्यात्म-वैराग्य और सदाचारकी त्रिधारा प्रवाहित की गयी है। इनकी रचना वि० सं० १८८१ में हुई।

कविवरकी तीसरी रचना कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत पंचास्तिकायका हिन्दी पद्यानुवाद है। इसका निर्माणकाल वि० सं० १८९१ है।

चौथी रचना 'बुधजन-विलास' है। इसमें कविकी स्फुट कविताओं एवं पदों आदिका संकलन है। इन्हें पढ़कर प्रत्येक सहृदय आत्म-विभोर हो जाता है। इसका संकलन वि० सं० १८९२ में किया गया है।

दीपचन्द्र

दीपचन्द्र अध्यातम तत्त्वके अद्भुत विद्वान् थे। यह आमेर (जयपुर)-

के निवासी थे तथा काशलीवालगोत्रीय खण्डेलवाल थे। इन्होंने गद्य और पद्य — दोनोंमें रचनाएँ लिखी हैं। इनकी रचनाएँ हैं : ज्ञानदर्पण, अनुभव-प्रकाश, अनुभव-विलास, आत्मावलोकन, चिद्विलास, परमात्मपुराण, स्वरूपानन्द, उपदेशरत्न और अध्यात्मपच्चीसी। ये समस्त रचनाएँ स्वतन्त्र और मौलिक हैं, और इनमें अध्यात्म-रहस्यके मर्मका बड़ी सूक्ष्मतासे उद्घाटन किया गया है।

उक्त रचनाओंमें निर्माण-कालका कोई निर्देश नहीं है; परन्तु श्री पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने इन्हें उन्नीसवीं शताब्दीका विद्वान् अनुमानित किया है।[1] इनकी गद्यशैलीका नमूना देखिए :[2]

"इस शरीर-मन्दिरमें यह चेतन दीपक सासता है। मन्दिर तो छूटै पर सासता रतनदीप ज्यौंका त्यौं रहै। व्यवहारमें तुम अनेक स्वांग नटकी ज्यौं धरै। नट ज्यौंका त्यौं रहै। वह स्पष्ट भाव कर्मको है। तौऊ कमलिनी-पत्रका नाईं कर्मसौं न बंधै न स्पर्शै।"

चिदानन्द

चिदानन्दका पूरा नाम कर्पूरविजय था। यह एक महान् योगी तथा सम्प्रदाय-निर्मोही महात्मा थे। अध्यात्मतत्त्वके यह असामान्य ज्ञाता थे। इनके पद अध्यात्म रससे ओत-प्रोत हैं। स्वरशास्त्रके भी यह विशेषज्ञ थे। और 'स्वरोदय' नामक एक प्रबन्ध भी इनका उपलब्ध है। इनकी रचना आनन्दघन-जैसा ही स्वानुभवपूर्ण एवं मर्मस्पर्शिनी है। कहते हैं कि वि० सं० १९०५ तक विद्यमान रहे।[3] इनका एक पद देखिए :

"जौं लौं तत्त्व न सूझ पड़ै रे।

तौ लौं मूढ भरमवश भूल्यो, मम ममता गहि जग सौं लड़ै रे॥

---

१. 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास' (श्री प० नाथूरामजी प्रेमी)।

२. अनुभवप्रकाश।

३. 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास' (श्री प० नाथूरामजी प्रेमी)।

अकररोग शुभ कंप असुभ लख, भवसागर इम भाँति मड़ै रे ।
धानकाज जिम मूरख खितहड, उखर भूमि को खेत खड़ै रे ॥
उचित रीति ओलख विन चेतन, निश-दिन खोटो छाट छड़ै रे ।
मस्तक मुकुट उचित मणि अनुपम, पग भूषण अज्ञान जड़ै रे ॥
कुमता वश मन वक्र तुरग जिम, गहि विकल्प मग मांहि अड़ै रे ।
'चिदानन्द' निज रूप मगन भया, तब कुतर्क तोहि नाहिं नड़ै रे ॥

सदासुख

पण्डित सदासुख जैन अध्यात्म एवं सिद्धान्तके उच्चकोटिके विद्वान् हो गये हैं। इनका रत्नकरण्डश्रावकाचारका हिन्दी भाष्य एक बहुत विशाल एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। यह रचना लगभग १५, १६ हजार श्लोक प्रमाण है। दूसरी रचना अर्थप्रकाशिका है जो आचार्य उमास्वामिकृत तत्त्वार्थ-सूत्रका विस्तृत हिन्दी भाष्य है। यह भी पहली रचना-जैसी ही विशाल है। इनकी तीसरी रचना भगवती-आराधनाकी टीका है जो लगभग बीस हजार श्लोक प्रमाण है। वि० सं० १९०८ में इसका निर्माण हुआ है। तीनों रचनाएँ मूल ग्रन्थोंकी भाष्यात्मक टीकाएँ होनेपर भी तत्त्व-विवेचन-की दृष्टिसे मौलिक रचनाओंसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त बनारसीदासकृत नाटक समयसारकी एक अन्य सुन्दर टीका भी उन्होंने लिखी है।

भागचन्द्र

कविवर भागचन्द्र ईसागढ़ (ग्वालियर) के निवासी थे और जातिसे दिगम्बर ओसवाल थे। संस्कृत और हिन्दीके यह उच्चकोटिके विद्वान् एवं सुकवि थे। इन्होंने ज्ञानसूर्योदय, उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला, अमितगति श्रावकाचार, प्रमाणपरीक्षा और नेमिनाथपुराण — इन ग्रन्थोंकी महत्त्वपूर्ण गद्य टीकाएँ लिखी हैं। इसके अतिरिक्त इनका एक उच्च कवित्व-विभूषित पदसंग्रह भी उपलब्ध है। इन पदोंमें स्वानुभूति एवं अध्यात्मकी तलस्पर्शिनी छाया विद्यमान है।

दौलतराम

पण्डित दौलतराम सासनीनिवासी पल्लीवाल थे। यह जैन अध्यात्म एवं सिद्धान्त ग्रन्थोंके मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनकी छहढाला नामक एक महत्त्वपूर्ण लघुकाय रचना है, जिसमें जैनधर्म एवं अध्यात्मका प्रायः सम्पूर्ण सार गागरमें सागरकी तरह समाया हुआ है। आपका एक सुन्दर पदसंग्रह है जो भाव और भाषाकी दृष्टिसे बहुत उच्चकोटिका है। इनके पदोंका जैन-समाजमें बड़ा प्रचार है और वे सहस्रों अध्यात्म-प्रेमियोंके कण्ठहार बने हुए हैं।

वैदिक-परम्परामें अध्यात्म

जैन-परम्पराके समान वैदिक-परम्परा भी यद्यपि अध्यात्मकी गवेषक और आराधक है, फिर भी वैदिक साहित्यके अध्ययनसे स्पष्ट है कि वैदिक आर्योंका आदि धर्म मानवीय देवतावाद (Anthropomorphism) था और वह आधिदैविक संस्कृतिके उपासक थे[1]। प्रारम्भमें इन्हें आत्मगरिमा और आत्म-शक्तिका भान नहीं था और इनकी दृष्टि ऐहिक एषणाओं तक ही सीमित थी। यही कारण है कि उस समय इनका जीवन-चिन्तन केवल बाह्य धन-धान्य समृद्धि, पुत्र-पौत्रोत्पत्ति[2], रोग-निवृत्ति, शत्रुदमन[3]-जैसी लौकिक आकांक्षाओं और उनकी सिद्धिके लिए की गयी विभिन्न देवताओंको प्रार्थनाओंमें पर्यवसित दृष्टिगोचर होता है। इनमें लौकिक जीवनसे इतर आध्यात्मिक शोध और बोधकी ओर किसी प्रकारकी जिज्ञासा और उत्क्रान्ति दिखलाई नहीं देती। ऋग्वेदका अधिकांश भाग इसी प्रकारकी अभिलाषाओं और प्रार्थनाओंसे आपूर्ण है।

---

१. डॉ० राधाकृष्णन् – 'इण्डियन फिलोसफी' प्रथम जिल्द, प्रथम अध्याय। तथा प्रो० ए० मैकडोनल – 'वैदिक मिथोलाजी' जिल्द द्वितीय तथा तृतीय।
२. ऋग्वेद – २–२।
३. वही – १०–२५–१०–२३, ६–१५–२।

वैदिक आर्यगणके देवता मानव-जैसे ही सजीव, सचेष्ट और आकृति-प्रकृतिके हैं। वे मनुष्यकी तरह ही भोजन-पान करते हैं और वस्त्राभूषण पहनते हैं। मानवीय राजाओंके समान वाहन, अस्त्र, शस्त्र, सेना, मन्त्री आदि राज-विभूतियोंसे सम्पन्न हैं। रुष्ट होनेपर महामारी, दुर्भिक्ष, अति-वृष्टि, अनावृष्टि आदि विपत्तियोंसे विनाशके लिए सन्नद्ध रहते हैं और तुष्ट होनेपर धन-धान्य, पुत्र-पौत्रादिसे भक्तोंको सुखी एवं सन्तुष्ट करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन देवताओंमें द्युस्, वरुण, मित्र, सूर्य, मरुत्, अग्नि, उषा और अश्विन् आदि प्रमुख देवता थे और इन्हें प्रसन्न करनेके लिए ही आर्योंने स्तुति, प्रार्थना तथा मन्त्रोंके साथ याज्ञिक क्रियाकाण्डका भी प्रवर्त्तन किया। यही कारण है कि वैदिक साहित्यमें स्थान-स्थानपर यज्ञका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

ऋग्वेदमें,[१] इन प्रश्नोंके उत्तरमें कि – 'पृथ्वीका अन्त क्या है, संसारकी नाभि क्या है और शब्दका परम धाम क्या है?' कहा गया है कि यज्ञवेदी ही पृथ्वीका अन्त है, यहाँ ही संसारकी नाभि है और ब्रह्म (मन्त्र-स्तोत्र) ही शब्दका परम धाम है। इससे अधिक कल्याणकारिणी अन्य कोई वाणी नहीं है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें भी कहा गया है कि यज्ञ ही देवताओं-का अन्त है।[२] यज्ञ ही धर्मका मूल है।[३] यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है।[४] यज्ञके बिना मनुष्य अजातके समान है।[५]

इस प्रकार यज्ञकी प्रमुखताके साथ ही वैदिक आर्य-मान्यतामें बहु-

---

१. "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेजो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥"
—ऋग्वेद—१, १६४, ३५।

२. "यज्ञो वै देवतानाम् अन्नम्॥"—शतपथ ब्राह्मण, ८–१–२–१०।

३. "यज्ञो वै ऋतस्य योनिः॥" —वही, १–३–४–१६।

४. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म॥" —वही, १–७–१–५।

५. "अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न भजते स यज्ञेनैव जायते।"
—जैमिनि उपनिषद्, ३–१४–८।

देवतावादका उदय हो गया और ज्यों-ज्यों वैदिक ऋषियोंका अनुभव बढ़ा और विभिन्न लोक-शक्तियाँ दृष्टिमें आयीं इनके अधिनायक देवताओंकी संख्यामें वृद्धि होने लगी और अन्तमें यह संख्या पैंतीस तक पहुँच गयी। ऋग्वेदकी ३-९-९ की श्रुतिके अनुसार तो यह संख्या ३३३९ तक पहुँच गयी थी।[1] तैंतीस देवोंमें आठ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र), ग्यारह रुद्र (दस प्राण, एक आत्मा), द्वादश आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति सम्मिलित किये जाने लगे थे।[2] इसके पश्चात् सुविधाकी दृष्टिसे इन देवताओंको द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा पृथ्वीस्थानीयके रूपमें तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया[3] और क्रमशः सूर्य, वायु तथा अग्नि इनके प्रमुख देवता माने जाने लगे। परन्तु देवासुर तथा आर्य-दस्यु संग्रामोंमें प्रमुख सहायक होनेके कारण सर्वाधिक महत्ता तथा श्रेष्ठता इन्द्रको ही प्राप्त हुई। इस प्रकार बहुदेवतावादका उदय तो हो गया, परन्तु जब इन देवताओंकी पृथक्-पृथक् स्तुति तथा यज्ञ आदिका अनुष्ठान भक्तके लिए अपनी शक्तिसे बाहर हो गया तब एक ही बार 'विश्व देवा'के उच्चारण-द्वारा समस्त देवताओंका ग्रहण किया जाने लगा।[4]

आर्यसम्मत तैंतीस देवताओंमें जो ग्यारह रुद्र देवता हैं[5] वे यक्षजन एवं

---

१. ऋग्वेद, ३–९–९।

२. शतपथ ब्राह्मण, ४–५–७–२।

३. ऋग्वेद, १–१३९–११। भास्कराचार्यकृत निरुक्त (दैवतकाण्ड)। शौनक सर्वानुक्रमणी २–८।

४. ऋग्वेद १–८९ में 'विश्वदेवा' के नामसे समस्त देवताओंकी सम्मिलित रूपसे स्तुति की गयी है। "एते वै सर्वे देवा यद्विश्वे देवा।"—कौशीतकी ब्राह्मण, ४–१४–५–३। "विश्वे देवाः यतः सर्वे देवाः।"—गोपथब्राह्मण उत्तरार्द्ध १–२०।

५. "कतमे रुद्रा इति ? दश इमे प्राणा आत्मा एकादश, ते यदा अस्मात् शरीरात् मर्त्यान् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति तस्मात् रुद्रा इति॥"

—शतपथ ब्राह्मण, ११–६–३–७ तथा १४–७–५।

दस्युजनके प्राचीन देवता हैं और आर्योंने इन्हें इलावर्त और सप्तसिन्धु देशमें प्रवेश होनेके साथ ही वहाँके निवासी यक्ष और गन्धर्व जातियोंसे ग्रहण किया। इनका भारतीय योग-साधनाकी प्राचीन परम्परासे घनिष्ठ सम्बन्ध है और तान्त्रिक, पौराणिक तथा जैन साहित्यमें इनकी अक्षुण्ण मान्यता है। भारतीय अनुश्रुतिके अनुसार ये मृत्युको विकम्पित कर देनेवाले दीर्घतपस्वी ग्यारह महायोगियोंके नाम हैं। महाभारतमें भी इनका निम्न नामोंसे उल्लेख उपलब्ध होता है[१]: मृगव्याध, सर्प निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, दहन, ईश्वर, कपाली, स्थाणु तथा भग। इनमें-से अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, भग, स्थाणु आदि अनेक रुद्रोंका उपर्युक्त नामोंसे ऋग्वेदके विभिन्न सूक्तोंमें वर्णन किया गया है। इस प्रकार आर्योंके देवता-मण्डलमें 'आत्मा' नामक एक देवताका समावेश तो अवश्य हो गया; परन्तु वह स्वतन्त्र आत्मतत्त्व न होकर देवताके रूपमें ही प्रतिष्ठित बना रहा और उसे आत्मतत्त्व स्वीकार करनेकी स्थितिमें आर्योंको कालकी अनेक सीमाओंको पार करना पड़ा।

कालके प्रवाहसे आर्योंका जीवन बहुदेवतावादके बोझसे बोझिल हो उठा और उन्होंने अपनी मानसिक चेतनाको एक ऐसी शाश्वत, स्थायी एवं सर्वव्यापी सत्ताकी खोजमें प्रवृत्त किया जिसमें समस्त देवताओंका समावेश हो सके। फलतः एक देवताके दर्शन होनेके पूर्व इन देवताओंको लेकर ऋषियोंके अन्तःकरण विभिन्न शंकाओंके क्रीडास्थल बनने लगे।

"आकाशमें विहार करनेवाला यह सप्तर्षि चक्र दिनके समय कहाँ चला जाता है?[२]"

"द्युस् और पृथ्वीमें पहले कौन पैदा हुआ और कौन पीछे? ये किस-लिए पैदा हुए, यह बात कौन जानता है?"[३]

१. महाभारत आदि पर्व, ६६, ८, ३।
२. ऋग्वेद, १–२४–१०।
३. ऋग्वेद, १–१८५–१०।

"इन विभक्त देवोंमें वह कौन-सा देवाधिदेव है जो सबसे पहले पैदा हुआ, जो सब भूतोंका पति है, जो द्यु और पृथ्वीका आधार है, जो जीवन और मृत्युका स्वामी है ? इनमें-से हम किसके लिए हवि प्रदान करें ?"[१]

"जिस समय अस्थिरहित प्रकृतिने अस्थियुक्त संसारको धारण किया, उस समय प्रथम उत्पन्नको किसने देखा था ? मान लो पृथ्वीसे प्राण और रक्त उत्पन्न हुए; परन्तु आत्मा कहाँसे उत्पन्न हुआ ? इस रहस्यके ज्ञाताके पास कौन इस विषयकी जिज्ञासा लेकर पहुँचा ?"[२]

वैदिक ऋषियोंके मानसको आन्दोलित करनेवाली शंकाओंकी इस दीर्घ परम्पराके प्रवाहसे इन्द्र-जैसा अप्रतिभ विभूतिमान् देवता भी अस्पृष्ट न रह सका और क्रान्तदर्शी ऋषिगण उसके प्रति भी सशंक हो उठे[३] और दीर्घ चिन्तनके पश्चात् उनके अन्तस्‌से यह उद्‌घोष सुनाई दिया :[४]

"इन्द्रं वरुणं मित्रमग्निमाहरथो दिव्यः स सुवर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाह ॥"

मेधावी जन जिसे आज तक इन्द्र, वरुण, मित्र, अग्नि आदि अनेक नामोंसे पुकारते चले आये हैं, वह एक अलौकिक सुन्दर पक्षीके समान स्वतन्त्र है । वह अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक रूपात्मक नहीं है । वह तो एक रूप है ।

उक्त भावनाकी परिपक्वताके साथ ही अनेक देवताओंके स्थानपर एक देवता संसारकी समस्त शक्तियोंका स्रष्टा, संचालक तथा लोकजीवनके समस्त सुख-दुःखोंका एकमात्र आधार हो गया और ब्रह्मा, प्रजापति तथा विश्वकर्मा आदि विभिन्न नामोंसे उसका निर्देश होने लगा ।

---

१. "कस्मै देवाय हविषा विधेम"—ऋग्वेद, १०–१२१ ।

२. ऋग्वेद, १–१६४–४ ।

३. ऋग्वेद, १०–८६–१–२–१२–५ ।

४. ऋग्वेद, १–१६४–४६ ।

यहाँ आकर भी जीवन और जगत्के प्रति जागरित जिज्ञासा उपशान्त होकर अवरुद्ध नहीं होती, अपितु वह वर्धमान होती हुई उत्तरोत्तर प्रश्न करती चली जाती है।

अध्यात्म-चिन्ताकी ओर

"सृष्टिकालमें विश्वकर्माका आश्रय क्या था? कहाँसे और कैसे उसने सृष्टि कार्य प्रारम्भ किया। विश्वदर्शक विश्वकर्माने किस स्थानपर रहकर पृथ्वी और आकाशको बनाया? वह कौन-सा वन और उसमें कौन-सा वृक्ष है, जिससे सृष्टिकर्त्ताने द्यावा-पृथ्वीका निर्माण किया? विद्वानो! अपने मनसे पूछ देखो कि किस पदार्थके ऊपर खड़ा होकर ईश्वर सम्पूर्ण विश्वको धारण करता है?"[१]

"वह कौन-सा गर्भ था जो द्युलोक, पृथ्वी, असुर देवोंके पूर्व जलमें अवस्थित था और जिसमें इन्द्रादि सभी देवता रहकर समदृष्टिसे देखते थे[२]?"

"विद्वान् कहते हैं कि सृष्टिसे पहले सब ओर अन्धकार छाया हुआ था, सभी अज्ञात और सब जलमय थे। तपस्याके प्रभावसे वह एक तत्त्व (जीव) उत्पन्न हुआ।[3] उसके मनमें सृष्टिकी इच्छा उत्पन्न हुई। परन्तु इन बातोंको कौन जानता है? और किसने इन बातोंको बतलाया? यह किस उपादान कारणसे उत्पन्न हुई और देवता लोग तो इस विसृष्टिके बाद ही पैदा हुए। यह कौन जानता है कि सृष्टि उस प्रकारसे पैदा हुई, यह विसृष्टि उसमें-से पैदा हुई? जो इसका अध्यक्ष है वह परम व्योम-में रहता है, वही ये बातें जानता होगा और सम्भव है वह भी न

---

१. ऋग्वेद, १०–८१।

२. ऋग्वेद, १०–८२।

३. "तम आसीत्तमसा गुहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिता जायतैकम्॥"

—ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, ३।

जानता हो।[1]

इस तर्कपूर्ण वैदिक विचारणाके फलस्वरूप ईश्वर और सृष्टि-प्रलयवाद मूलक वैशेषिक तथा न्यायदर्शनका जन्म हुआ; सत्, असत्, सदसत् रूपमें तीन वादोंका विकास हुआ और एक ऐसी अभूतपूर्व क्रान्तिका जन्म हुआ जिसने वैदिक चिन्ताकी धाराको देवतावादसे विरत कर आत्मवादकी ओर प्रवृत्त कर दिया। यद्यपि आर्य-चिन्ताकी यह क्रान्ति भारतकी प्राचीनतम द्रविड़ संस्कृतिसे प्रभावित थी; परन्तु आत्मवादकी ओर प्रवृत्त होते ही उसने सर्वप्रथम आत्म-शक्तिका और उसके सम्पूर्ण विकास और बोधमें ही आत्म-सिद्धि एवं शाश्वत शान्तिका परम पावन सिद्धान्त हृदयंगम किया। आत्म-भान होते ही उसने उद्घोष किया कि ब्रह्मविद्या अर्थात् अध्यात्म-विद्या ही समस्त विद्याओंकी प्रतिष्ठा है,[2] उन सबमें अग्रणी है,[3] उनको दीपकके समान प्रकाश दिखानेवाली है[4] और उन्हें परिपूर्णता देनेवाली है। यही परम धर्म है और ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान है।[5] इस एकके जान लेनेपर सब कुछ ज्ञातव्य जान लिया जाता है और सभी कुछ करणीय कर लिया[6] जाता

---

१. ऋग्वेद, १०-१२९७।

२. "ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।" – मुण्डक० १।१।१; "अध्यात्मविद्यानाम्।"
— गीता १०।३०।

३. "सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥" — मनुस्मृति, १२-८५।

४. "प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥"
—कौटिलीय अर्थशास्त्र १, २।

५. "अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्।" —याज्ञवल्क्य, १।१।८। तथा
"आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्।" —महाभारत, शान्ति पर्व।

६. "यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते।" —गीता ७।२।
"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥" —वही, ३।१७।

है। इस आत्मविद्याके द्वारा राग-द्वेषकी प्रहाणि की जाती है[1] और यही परम पवित्र और सर्वोत्तम राजविद्या है।[2]

उपनिषदोंमें आत्मा और ब्रह्म

इस प्रकार उपनिषत्कालमें प्रवेश करते ही वैदिक विचारणा अध्यात्म-निष्ठ हो जाती है। उपनिषदोंमें ब्रह्म एक विश्वव्यापी तत्त्व और समस्त जीवात्माएँ उसके अंश माने गये हैं। अनेक स्थलोंपर आत्मा और ब्रह्म शब्दका एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार लोहेका एक टुकड़ा पृथ्वीके गर्भमें दब जानेके बाद पृथ्वीमें ही मिल जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा ब्रह्ममें समा जाता है। अविद्याके प्रभावसे प्रत्येक आत्मा अपनेको स्वतन्त्र समझता है; परन्तु वस्तुतः हैं सब ब्रह्मके ही अंश। प्रारम्भमें यह ब्रह्म एक शक्तिशाली ऋचाके रूपमें माना जाता था। पर आगे चलकर

"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति।"
—बृहदारण्यक, २।४।५।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।"
—छान्दोग्य, ६।१।३।

"न हि आत्मनोऽन्यत् तत् प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मव्यवहितं भूतं भविष्यद्वा वस्तु विद्यते।"—तैत्तिरीय शांकरभाष्य, ६।२; मुण्डक० १।१।३; प्रश्न० ४।१; ६।३।

"न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत् कृत्यमवशिष्यते।" —ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य ४।१।२।

१. "आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः।
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति॥" – शुक्रनीति, १।१५२।
तथा "आन्वीक्षिकीमात्मविद्याम्।" — मनुस्मृति, ७।४३; न्यायभाष्य, १।१।१।

२. "राजविद्याराजगुह्यमध्यात्मज्ञानमुत्तमम्।
ज्ञात्वा राघव राजानः परां निर्दुःखतां गताः॥" —योगवासिष्ठ, २।१८।
तथा "राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।" —गीता, ६।२।

वह उस महान् शक्तिका प्रतीक बन गया जो विश्वको उत्पन्न करती और नष्ट करती है। यद्यपि उपनिषत्साहित्यमें ब्रह्मकी निर्गुणताके निरूपक अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं; किन्तु निःसन्देह उसे एक ऐसे स्वतन्त्र, अनन्त और सनातन तत्त्वके रूपमें माना है, जिससे प्रत्येक वस्तु अपना अस्तित्व प्राप्त करती है। इस तरह उपनिषदोंमें ब्रह्म ही आत्मा है।

उपनिषद्-ब्रह्म और जैन परमात्मा

'ब्रह्म' शब्द वैदिक है और उपनिषदोंमें ब्रह्मको एक और अद्वितीय लिखा है। इनमें परमात्माकी अपेक्षा 'ब्रह्म' शब्दका अधिक प्रयोग किया गया है, यद्यपि 'नृसिंहोत्तरतापिनी' आदि ग्रन्थोंमें दोनोंको एकार्थवाची बतलाया गया है। उपनिषदोंका ब्रह्म एक है, जब कि जैन-परम्परा अनेक ब्रह्म स्वीकार करती है। जैन मान्यताके अनुसार परमात्मा कृतकृत्य हो जाता है और उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह विश्वको केवल जानता और देखता है; क्योंकि जानना और देखना उसका स्वभाव है। किन्तु उपनिषदोंका ब्रह्म प्रत्येक वस्तुका उत्पादक और आश्रय है। यद्यपि उपनिषदोंके ब्रह्म एवं जैनसम्मत परमात्मामें समानताएँ हैं किन्तु उनके अर्थमें अन्तर है। उदाहरणके लिए उपनिषदोंमें 'स्वयम्भू' शब्दका अर्थ 'स्वयं पैदा होनेवाला' और 'स्वयं रहनेवाला' है; किन्तु जैन मान्यताके अनुसार 'स्वयं परमात्मा होनेवाला' है।

उपनिषदोंके आत्मासे जैन आत्माकी तुलना

जैन मान्यतामें आत्मा और पुद्गल दोनों ही वास्तविक माने गये हैं। आत्माएँ अनन्त हैं और मुक्तावस्थामें भी प्रत्येक आत्मा अपने स्वतन्त्र अस्तित्वसे सम्पन्न रहता है। किन्तु उपनिषदोंमें आत्माके सिवाय – जो कि ब्रह्मका ही नामान्तर है, कुछ भी सत्य नहीं है। जैन-दृष्टिमें, उपनिषदोंके समान, आत्मा एक विश्वव्यापी तत्त्वका अंश नहीं है; किन्तु उसके भीतर परमात्मत्वके बीज वर्तमान रहते हैं और ज्यों ही वह कर्म-बन्धनसे मुक्त होता

है, परमात्मा बन जाता है। गीतामें अच्छे और बुरे कार्योंको कर्म कहा है, जब कि जैन मान्यतामें वह एक प्रकारका सूक्ष्म पदार्थ (Matter) है, जो आत्माकी प्रत्येक मानसिक, वाचिक तथा कायिक क्रियाके साथ आत्मासे सम्बद्ध होता रहता है और उसे भवचक्रमें भ्रमण कराता है। जैन मान्यताके अनुसार आत्मा और परमात्मा एक हो हैं; क्योंकि ये एक ही वस्तुकी दो अवस्था हैं। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। यह दृश्यमान संसार अनादि है और अगणित आत्माओंकी लीलाभूमि है। किन्तु वैदिक मान्यतामें आत्मा, परमात्मा और विश्व एक ब्रह्मस्वरूप ही है।

सैद्धान्तिक विभिन्नता

आत्मा और ब्रह्मके सिद्धान्तको मिलाकर उपनिषद् एक स्वतन्त्र अद्वैत-वादकी सृष्टि करते हैं। वास्तवमें आत्मवाद और ब्रह्मवाद – ये दोनों ही स्वतन्त्र सिद्धान्त हैं और एकसे दूसरेका विकास नहीं हो सकता। प्रथम सिद्धान्तके अनुसार अगणित आत्मा संसारमें भ्रमण कर रहे हैं। जब कोई आत्मा बन्धनमुक्त हो जाता है, परमात्मा बन जाता है। इसी प्रकार परमात्मा भी अगणित हैं, किन्तु उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है; अतः वे एक प्रकारकी एकताका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये परमात्मा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयमें कोई भाग नहीं लेते। इसके विपरीत, ब्रह्मवादके अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है और उसीमें लय हो जाती है। विभिन्न आत्माएँ एक परब्रह्मके ही अंश हैं। जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवादके सिद्धान्तको मानते हैं, जब कि वैदिक परम्परानुयायी ब्रह्मवादको। परन्तु उपनिषद् इन दोनों सिद्धान्तोंको मिला देते हैं और आत्मा तथा ब्रह्मकी एकताका समर्थन करते हैं।[१]

१. डॉ० ए० एन० उपाध्ये-द्वारा लिखित 'परमात्मप्रकाश तथा योगसार' (रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई) की विस्तृत प्रस्तावना।

बौद्ध-परम्परामें अध्यात्म

बुद्धने भी सांसारिक पदार्थोंसे आसक्ति हटाकर आत्म-गवेषणा[1] और आत्म-शान्ति-लाभ करनेका उपदेश दिया है। उन्होंने यह भी कहा कि "आत्म दीप होकर विहार करो, आत्म-शरण, अनन्यशरण" 'अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्जसरणा।" उन्होंने यह भी कहा कि निर्मोही ही अक्षय आध्यात्मिक सुखका अधिकारी होता है – 'सुखमक्षयमश्नुते।' और यह सुख बिना काम-सुखको छोड़े नहीं मिल सकता[2]। काम-सुख तो हीन और अनार्य है। जब साधक उसे छोड़ देता है, उसपर विजय प्राप्त कर लेता है, तो उसके हृदयमें एक निर्मल आध्यात्मिक सुख उत्पन्न होता है। यह सुख प्राप्त करनेपर फिर प्राणी किसी सांसारिक सुखकी तृष्णा[3]में नहीं पड़ सकता। यह आध्यात्मिक सुख ही राजाओंके राज-सुख और देवताओंके देवत्व-सुखसे बढ़कर है। यही आर्य-सुख है, समाधि-सुख है, जिसे जिस किसी क्षण इच्छा होनेपर फल-समाधिमें प्रवेश कर आर्य प्राप्त करते हैं।[4] इस प्रकार न केवल दुःखसे विमुक्ति बल्कि भावात्मक सुखकी प्राप्ति बौद्ध साधना का चरम लक्ष्य है।

बुद्धोपदिष्ट अनात्मवादका यह अर्थ नहीं है कि 'न आत्मा नामक कोई तत्त्व है, और न उसका परम सुख-शान्ति-लाभ जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।' इसके विपरीत उनके 'अनात्मा' का आशय रहा है पाँच स्कन्धों, बारह आयतनों तथा अठारह धातुओंमें ऐसा कुछ नहीं है जिसे यह कहा जा सके 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है।' "एतं मम, एसोऽहमस्मि,

---

१. बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन), पृष्ठ २३० ।

२. मागन्दिय-सुत्तन्त, मज्झिम० २।३।५ ।

३. महातण्हा संखय-सुत्तन्तं (मज्झिम० १।४।८) ।

४. "यथा हि राजा रज्जसुखं देवता दिव्वसुखं अनुभवंति, एवं अरिया अरियं लोकुत्तरं सुखं अनुभविस्सामीति"इच्छतिच्छतक्खणे फलसमापत्तिं समापज्जंति।" —विसुद्धिमग्ग २३।८ ।

एसो मे कत्ता'। बुद्धकी दृष्टिमें उपर्युक्त समस्त धर्म अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःख है। 'यदनिच्चं तं दुक्खं।' और जो दुःख है वह आत्मा नहीं है। 'यं दुक्खं तदनत्ता।' इसलिए स्वभावतः साधकको इस नाम रूप जगत्के सम्बन्धमें यह भावना करनी चाहिए कि 'यह मेरा नहीं है।' 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है।'– 'नेतं मम, नेसोऽहमस्मि, न मे सो अत्ता।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह निर्वेद-को प्राप्त करेगा, निर्वेदसे विरागको और रागके प्रहाण होनेपर दुःख रूप भवको तर जायेगा, विमुक्त हो जायेगा।

बुद्धने प्रस्तुत अनात्मवादक सिद्धान्त-द्वारा आत्माके सम्बन्धमें प्रचलित तत्कालीन शाश्वतवाद और उच्छेदवादकी विचारधाराओंका निरसन किया है। शाश्वतवादियोंकी मान्यता थी कि "यह जो मेरा आत्मा अनुभवकर्त्ता तथा अनुभव होने योग्य है, और जहाँ-तहाँ अपने भले-बुरे कर्मोंके विपाकको अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है और अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा।"[१]

उच्छेदवादियोंके मतका उल्लेख करते हुए बुद्धने स्वयं कहा है, "एक श्रमण और ब्राह्मण उच्छेदवादी हैं, जो विद्यमान सत्त्व (जीव, प्राणी) का उच्छेद, विनाश प्रज्ञापन करते हैं।"[२] उन्होंने शाश्वतवादियोंकी मान्यताको भरपूर मूर्खता 'परिपूरो बालधम्मो' कहा[3] तथा इसमें आत्मासक्ति मूलक तृष्णा और दुःखका उदय बतलाया। और उच्छेदवादियोंकी मान्यताका

---

१. "यो मे अयं अत्ता वेदो वेदेय्यो तत्र तत्र कल्लाणपापकानं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति, सो खो पन मे अयं अत्ता निच्चो धुवो सस्सतो अपरिणामधम्मो, सस्सतिसमं तथेव ठस्सतीति।" —सब्बासव-सुत्तन्त मज्झिम० १।१।२।

२. "सन्ति भिक्खवे एके समणा ब्राह्मणा उच्छेदवादा सतो सन्तस्स उच्छेद विनासं पंजपेन्ति।" —ब्रह्मजालसुत्त दीघ० १।१।

३. सब्बासवसुत्तन्त, मज्झिम० १।१।२।

आन्तरिक अशनि-त्रास बतलाकर निराकरण किया[1]। तथा इन्हें चित्तके मल दिखलाते हुए हेय प्रतिपादित किया। इसके विपरीत उन्होंने कहा कि जो इन मिथ्या मान्यताओंपर विजय प्राप्त कर लेता है वही शान्त मुनि कहलाता है। शान्तमुनि जन्म-जरा-मरणको प्राप्त नहीं होता, वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, वह कम्पित नहीं होता, स्पृहा नहीं करता।[2]

इस प्रकार बुद्धके द्वारा उपदिष्ट अनात्मवादका स्वरूप मुख्यतः साधनात्मक है। वह निर्वेद और विरागके लिए है। अनासक्ति और इन्द्रिय संयमके लिए है।[3] उनका **'अत्तदीप विहरथ, अत्तसरणा अनञ्ञसरणा'** – 'आत्मदीप होकर विहार करो, आत्मशरण, अनन्यशरण', सन्देश आध्यात्मिक विकासका ही सम्बोधक है।

इस प्रकार जैन, वैदिक और बौद्ध-परम्परा-मान्य अध्यात्मकी, जो भारतीय जीवन-साधनाका परम सत्य और लक्ष्य रहा है, एक हलकी-सी झाँकी है।

२० जुलाई १९५४ — *राजकुमार जैन*

---

१. अलगद्दूपमसुत्तन्त, मज्झिम० १।३।२।

२. धातुविभंगसुत्तन्त, मज्झिम० ३।४।१०।

३. प्रो० श्री भरतसिंह उपाध्याय एम० ए० 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन'।

अध्यात्म-पदावली
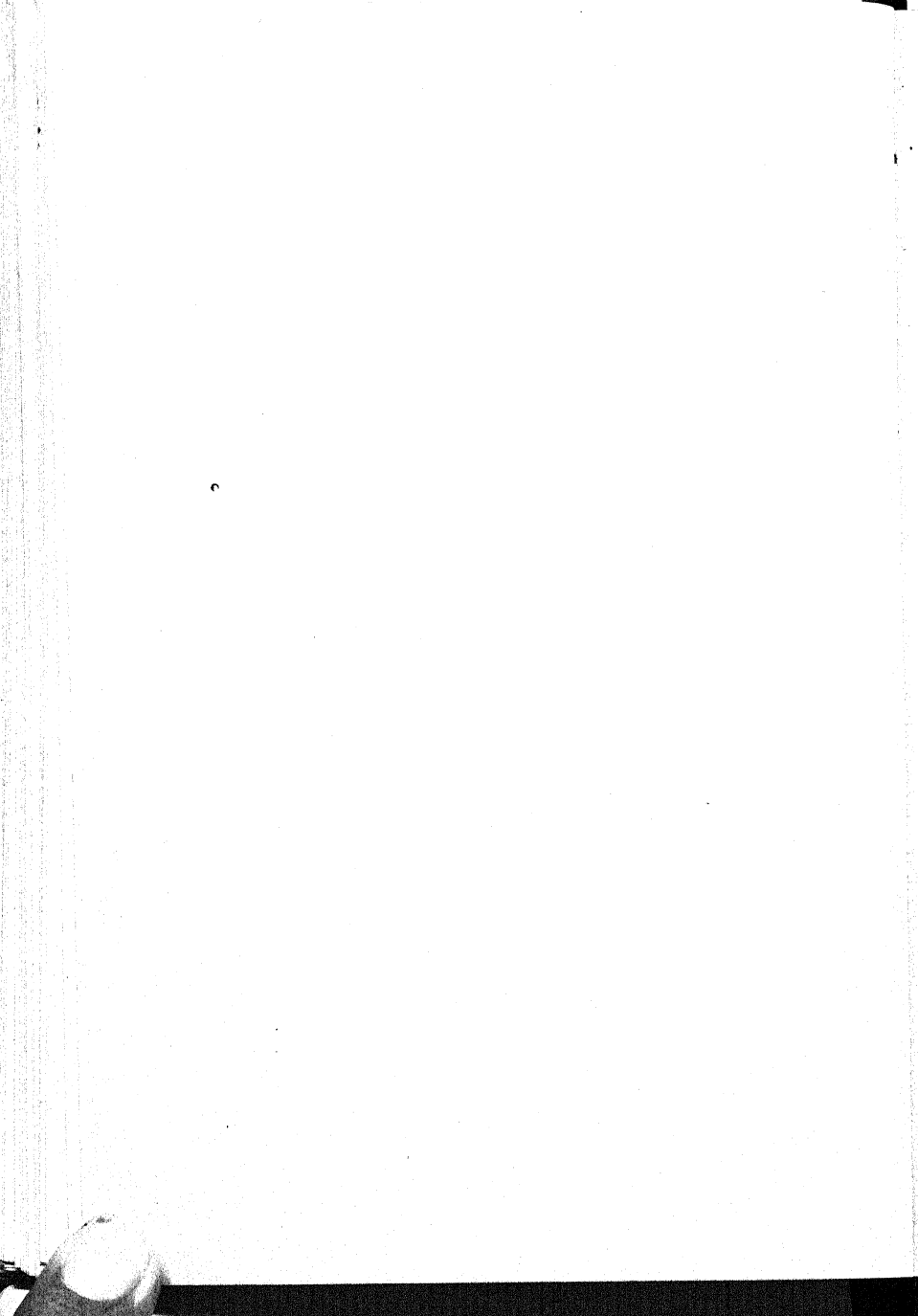
रे मन, तेरी को कुटेव यह

संसारकी सृष्टिमें मनुष्यके लिए उसका मन एक अजीब पहेली है। वह अपने मनकी उन निगूढ़ वृत्तियोंका जो अप्रत्याशित रूपमें उदित होकर अपनी रूपराशिसे प्रतिक्षण उसे आश्चर्यचकित करती रहती हैं, कोई ठीक बोध नहीं कर पाता है। एक क्षण उसका मन सहज सुन्दर सुर-बालाओंके साथ बिहार करना चाहता है तो दूसरे ही क्षण उनका नेत्रहारी नृत्य देखना चाहता है। किसी क्षण वह नन्दनकाननके कुसुमित पारिजातोंके प्रसूनोंकी सुगन्धसे अपनी घ्राणेन्द्रियको तृप्त करना चाहता है, तो द्वितीय क्षण श्रुति-मधुर स्वर्गीय संगीतकी स्वर-लहरीमें अपनेको भूल जाना चाहता है। इस प्रकारकी एक नहीं, अनेक भावनाएँ उसके मनमें, नवीन-नवीन रूप लेकर प्रतिक्षण आती रहती हैं, पर बेचारा मानव इतना असहाय है कि वह अपनी इस चाह-दाहको कभी भी उपशान्त नहीं कर पाता है। कदाचित् किसी चाहकी पूर्ति हो भी जाती है, तो अन्य चाहें सामने खड़ी रहती हैं और वे स्वयंमें पूर्णता पानेके लिए उसे व्यग्र किया करती हैं। फल यह होता है कि उसका जीवन आकुलताओंसे संकुल हो जाता है और विवेक साथ नहीं देता। भोले मानवके लिए अपने मनकी यह बेबसी बुरी तरह कसकती है। वह अनादिकालसे इस कसकका अनुभव करता आ रहा है, पर मानवकी चिरन्तन संसार दृष्टि इसका प्रतीकार नहीं सोच पाती।

जिन्होंने जीवनको खूब बारीकीसे देखा है, उसकी विविध वृत्तियोंका कुछ गहरेमें उतरकर अनुशीलन किया है, जीवनके इन कुशल कलाकारोंने मनकी इस अजीब पहेलीको खूब ही सजीव शैलीमें सुलझाया है। हमारे

कलाकार पं० दौलतरामजी इन्हीं कलाकारोंकी कोटिके थे। जब उनके सामने मानव मनकी यह पहेली आयी तो उन्हें इसका रहस्य निगूढ़ न रह सका। वे सोचने लगे – वह क्या वस्तु है जिसके कारण मानव जीवन इतना बोझिल और त्रस्त बना हुआ है? तुरन्त ही उनके मनमें आया कि इस चीजका एक ही कारण है कि मानवका अपने मनपर अंकुश रखनेकी ओर अबतक तनिक भी ध्यान नहीं गया है। यदि मनुष्यने कभी इस ओर ज़रा भी ध्यान दिया होता तो उसे अपनी इस चाह-दाह और कसकका कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्यमेव समझमें आया होता। फलतः वह अपने आत्मीय शान्ति-लाभके लिए थोड़े-बहुत रूपमें अवश्य अग्रसर हुआ होता।

हमारे कलाकारने मनकी इस कुटेव-कुप्रवृत्तिको ख़ूब बारीकीसे परखा है। इतना ही नहीं; मनकी इस 'कुटेव' पर उनके मनमें क्रोध भी हो आया है। यह क्रोध साधारण क्रोध नहीं है। इसमें भर्त्सना और तिरस्कारका मिश्र भाव छिपा हुआ है। मनकी इस 'कुटेव' का ख़याल करते-करते जब रोषसे उनका दिल भर जाता है तो उसे व्यक्त करनेके लिए उनकी वाणी सतेज हो उठती है। वह इतनी सतेज हो जाती है कि उसका संगीत विश्व-भरमें व्याप्त हो जाता है और वह विश्वके मानव मनको इस प्रकार ललकारने लगता है:

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तैं, निज स्वरूप न लखावै है॥
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है।
रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है॥"

अरे मन? तूने यह कैसी खोटी प्रकृति बना ली है जो तू सदा ही इन्द्रियोंके विषयोंके पीछे दौड़ता रहता है? रे मन! क्या तुझे मालूम नहीं है कि तू अनादिकालसे इन इन्द्रिय-विषयोंके अधीन होकर अपने स्वातन्त्र्य-सुखसे वंचित हो रहा है और कभी भी आतम-दर्शन नहीं कर सका। यह

इन्द्रिय-भोग पराधीन, क्षण-क्षयी, आकुलताओंसे संकुल और किस प्रकार दुर्गतियोंमें दुःख देनेवाले हैं क्या तुझे यह मालूम नहीं है ?

हाथी और मत्स्यका उदाहरण देते हुए कविवर बतलाते हैं कि किस प्रकार स्पर्शन एवं रसना इन्द्रियके विषयोपभोगमें तन्मय प्राणी अहर्निश दुःखी होता हुआ अनन्त संकटोंका आह्वान करता है। कविकी कवित्व एवं संगीतपूर्ण वाणी सुनिए :

"फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कण्टक कण्ठ छिदावै है ॥"

रे मन! देख, केवल एक स्पर्शन इन्द्रियके विषयोपभोगमें सतृष्ण हाथी गड्ढेमें गिरता है और कितने कष्ट उठाता है? इसी प्रकार उस मछलीका हाल नहीं मालूम है जो रसना इन्द्रियके विषयोपभोगके लालचसे काँटेमें अपना गला फँसाती है और प्राणोंकी बलि कर डालती है ?

घ्राण और चक्षु इन्द्रियके विषय भी मानव-मनको कम आकर्षक नहीं हैं। इनके विषयोपभोगमें निमग्न संसारी प्राणी किस प्रकार आत्म-विस्मृत होकर दुःख उठाता है, भ्रमर एवं पतंगका दृष्टान्त उपस्थित करते हुए कविवरने इस तथ्यका बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया है। देखिए, वह कहते हैं :

"गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्राण खपावै है।
नयन-विषयवश दीप-शिखा में, अंग पतंग जरावै है ॥"

रे मन ! क्या उस भ्रमरकी दशा तुमसे छिपी हुई है जो कमलकी सुगन्धिके लोभसे उसपर मँड़राता है और फिर उसीमें बन्द होकर बड़ी व्याकुलताके साथ अपने प्राणोंकी आहुति दे डालता है ? किस प्रकार एक पतंग दीपशिखाके सौन्दर्यपर मोहित होकर अपने अंग-प्रत्यंगको उसकी ज्वालामें भस्म कर डालता है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुकी तरह कर्ण-इन्द्रियका विषयोपभोग

भी इसी प्रकार दुःखद एवं दुरन्त है। इन्द्रियोंके विषयोपभोग जीवको शान्ति एवं निराकुल सुख नहीं दे सकते। आत्म-सुख वस्तुतः इन्द्रिय-विषय-विजयमें है। कविवर यहाँ इसी रहस्यका उद्घाटन करते हुए एक अपूर्व लोकमंगलकारी 'गुरु-सीख' सुना रहे हैं। सुनिए :

"करन-विषयवश हिरन अरन में, खलकर प्रान लुभावै हैं।
'दौलत' तज इनको, जिनको भज, यह गुरु-सीख सुनावै हैं।"

रे मन ! कर्ण-इन्द्रियके विषयोपभोगके लालचमें पड़कर संगीत-प्रेमी हिरन किस प्रकार वनमें व्याधोंके हाथ अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, यह बात तुमसे छिपी नहीं है। रे मन ! यह सब जानते-समझते हुए भी तुम्हारी सदैव इन्हीं इन्द्रिय-विषयोंमें तल्लीन रहनेकी यह 'कुटेव' क्यों पड़ गयी है ? तू क्या इन इन्द्रिय-विषयोंसे अबतक नहीं अघाया है। अबतक त्रस्त नहीं हुआ है ? अरे ! छोड़ इस माया-जालको। श्री गुरु महाराजका उपदेश है कि तुम उस 'मार्ग' से चलो जिसपर चलकर जिनेन्द्र भगवान्ने इन इन्द्रिय-विषयोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। जिनराज एवं उनका पवित्र आदर्श ही तेरा कल्याण कर सकता है।

देखिए, कविने मनकी 'कुटेव' और उसके दुष्परिणामोंका कितना यथार्थ चित्र खींचा है। चित्र एकदम स्वच्छ, सुन्दर और अपनेमें सम्पूर्णतया निखरा हुआ है। चित्रकारको इसे चित्रित करनेमें किसी प्रकारकी कठिनाईका अनुभव नहीं हुआ। ऐसा मालूम देता है कि जैसे वह चित्र उसकी संगीत-लेखनीमें पहलेसे ही पूर्णरूपसे चित्रित पड़ा हुआ हो और उसके एक बारके प्रयोगमें ही वह पूर्णरूपसे तुरन्त प्रकट हो गया हो।

"पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुर्गति बिपति चखावै हैं।"

इस वाक्यके सुनते ही कुन्दकुन्द आचार्यकी वह मांगलिक वाणी स्मृतिमें आ जाती है, जिसमें उन्होंने बतलाया है :

"सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥"

अर्थात् इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख पराधीन है, बाधासहित है, विनाशी है, बन्धका कारण है और विषम है, इस प्रकार इसे सुख नहीं, बल्कि दुःख ही कहना चाहिए।

मानवका वास्तविक हित मनकी यह तथोक्त 'कुटेव' दूर होनेमें है। और यह 'कुटेव' तबतक दूर नहीं हो सकती, जबतक उसे कलाकार-जैसी सुलझी हुई अन्तर्दृष्टिकी उपलब्धि नहीं होती। पर कलाकार निराश नहीं है। सैकड़ों वर्ष पूर्व सुनाया गया उसका स्वर्गीय संगीत अनन्त आकाश-में गूँजता हुआ न मालूम कबतक मानवके अबोध मनको प्रतिबोध देता रहेगा कि :

"रे मन, तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।"

■

अब मेरे समकित सावन आयो

सावनका महीना बड़े ही आनन्द और उल्लासका महीना है। इसमें न तो ग्रीष्मकालकी अन्तर्दाहक दाह रहती है और न शीतकालका तीखा तुषार। आकाशमें घन-घटाएँ छा जाती हैं और बिजली चमकने लगती है। पपीहा बोलने लगते हैं, मेघ गरजते हैं और इनकी गर्जना सुनकर मयूर हर्षातिरेकसे उन्मत्त हो उठते हैं और नयनाभिराम नृत्य करना प्रारम्भ कर देते हैं। पृथ्वीमें हरे दूर्वांकुर उग आते हैं। दिगन्तमें उड़ान भरने-वाली धूलिके दर्शन तक नहीं होते। स्थान-स्थानपर कल-कल निनाद करते हुए जलके अनन्त झरने झरते हुए दिखलाई देने लगते हैं इस प्रकार सावनका आनन्द बड़ा अद्भुत आनन्द है। मालूम देता है जैसे प्रकृतिने आनन्दोपभोगके सर्वाधिक उपादान सावनमें ही संकलित कर रखे हैं। मानव अपने घर बैठकर ही इस सामग्रीका यथेच्छ उपभोग कर सकता है। परन्तु यह सौभाग्य उन्हें ही उपलब्ध हो सकता है, जिनका घर चूता नहीं है। इस प्रकारके व्यक्ति अपने घर बैठकर ही सावनका आनन्द लूटते हैं, परन्तु जिनका घर चूता है उनका मन चिन्तित रहता है और सारा उत्साह मन्द पड़ जाता है। इस प्रकारके मानव सावनकी सर्व सुलभ आनन्दोपभोगकी सामग्रीका कुछ भी उपभोग नहीं कर पाते।

कलाकार पं० दौलतराम भी सावनके आनेसे बड़े प्रसन्न दिखलाई दे रहे हैं परन्तु उनका सावन, अद्भुत सावन है। उनका सावन सम्यक्त्व — आत्माका वह गुण जिससे सत्यकी समुचित प्रतीति होती है — का सावन है। अपने सम्यक्त्व-सावनके आनेसे देखिए, कलाकारका हृदय किस प्रकार

आनन्द-धारामें लहरा रहा है :

"अब मेरे समकित सावन आयो ।
बीति कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ॥"

आज हमारा सम्यक्त्वका सावन आया है। कुरीति और मिथ्या-धारणा रूपी ग्रीष्म निकल चुकी है और आत्मरसकी वर्षा कितनी भली मालूम हो रही है।

कविकी आनन्दानुभूतिका संवेदन कीजिए :

"अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति-घटा घन छायो ।
बोलै विमल विवेक-पपीहा, सुमति-सुहागिन भायो ॥"

आत्मानुभवरूपी बिजली चमकने लगी है और निर्मल प्रेमरूपी घन-घटाएँ आत्म-आकाशमें छा गयी हैं। विमल विवेकरूपी पपीहा 'पी-पी' करने लगा है और उसकी यह 'पी-पी' की मधुर ध्वनि सुमतिरूपी सुहागिनीको बड़ी प्रिय लग रही है।

कविके हर्षकी अभिव्यक्तिका एक अन्य शब्द-चित्र देखिए :

"गुरु-धुनि गरज सुनत सुख उपजत, मोर-सुमन विहसायो ।
साधक-भाव अँकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो ॥"

वीतराग गुरुकी वाणीरूपी मेघ-गर्जना सुनकर मोररूपी मन प्रसन्न हो उठा है। साधकभावरूपी अंकुर उग आये हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द दिखाई दे रहा है।

कलाकारकी अन्तिम वाणी सुनिए :

"भूल-धूल कहिं भूल न सूझत, समरस-जल झर लायो ।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, जिन निरचू घर पायो ॥"

भूलरूपी धूलका पता भी नहीं है। समतारूपी पानी प्रवाहोंमें फूटा पड़ रहा है। कलाकार कहता है – अब हमें बाहर जानेकी कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि हमने 'निरचू' – कभी न चूनेवाला घर – अविनश्वर

आध्यात्मिक घर पा लिया है और यहीं बैठकर ही सम्यक्त्व सावनका आनन्द लूटेंगे ।

कलाकारका सावन अद्भुत सावन है और उसका आनन्द भी अद्भुत आनन्द है। इस आनन्दका उपभोग वही कर सकते हैं जिन्हें जीवनमें आत्म-साक्षात्कारकी प्राप्ति हो चुकी है। जिन्होंने आत्म-रूपके दर्शन ही नहीं किये वे सम्यक्त्व-सावन और उसके आनन्दकी रज भी नहीं ले सकते। उनकी उल्लासपूर्ण वाणीसे आप कभी न सुनेंगे कि :

"अब मेरे समकित सावन आयो।"

■

मान ले या सिख मोरी

मानवका मन भोगोंके बाह्य रूपपर मुग्ध होता है, उन्हें प्राप्त करना चाहता है। उनसे सम्बन्ध भी जोड़ता है और चाहता है कि उसकी प्रत्येक चाह तुरन्त पूर्ण होती जाये और इन प्राप्त हुए भोगोंका उससे कदापि विछोह न हो। पर, वस्तुका स्वभाव तो अपरिवर्तनशील है – उसके स्वभावमें कभी परिवर्तन नहीं होता। नीमका स्वभाव बदलकर कभी मीठा नहीं होता और गुड़का स्वभाव बदलकर कभी कड़वा नहीं होता। ठीक इसी प्रकार चाह और भोगोंके स्वभावकी बात है। मानव चाहे कि मैं अपनी चाह-संख्या बढ़ाता हुआ सन्तोष-लाभ करूँ सो उसे कदापि सन्तोष मिलनेवाला नहीं है। वह चाहे कि मैं भोगोंको भोग करता हुआ ख़ूब सुखी बनूँ, सो भी वह सुखी नहीं हो सकता।

वास्तविक बात यह है कि सन्तोष-लाभ चाहमें नहीं है, बल्कि चाहके छोड़नेमें है। इसी प्रकार सच्चा सुख भोगोंके अनुभवमें नहीं है, बल्कि भोगैषणासे विरत होनेमें है। चाह और भोगैषणा आकुलताकी जननी हैं और आकुलताका ही नाम दुःख है।

कलाकारने मानव जीवनकी इन सूक्ष्मतम अनुभूतियोंका बड़ी गहरी सहानुभूतिके साथ संवेदन किया है। उन्हें मानवकी पीड़ाओं, अभावों और असफलताओंका गहरा अध्ययन है और इस प्रकारकी प्रत्येक भाव-भंगिमाने उनके हृदयपर अपना स्वतन्त्र चित्र अंकित कर रखा है।

कवि इन मानवीय प्रवृत्तियोंका संवेदन करता है और इनका संवेदन करते-करते जब उसका मनोभाव एकदम अनुभूति-पूर्ण हो जाता है तो वह

इस प्रकार दिव्य संगीतके स्रोतोंमें फूट पड़ता है :

"मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी ॥
भोग भुजंग-भोग सम जानौ, जिन इनसे रति जोरी ।
ते अनन्त भव-भीम भरे दुख, परे अधोगति पोरी,
बँधे दृढ़पातक डोरी ॥"

अरी आत्मा, हमारी एक सीख मान । तू 'भोगोंकी ओर कभी भी अपनी प्रवृत्ति न कर । देखो, यह पंचेन्द्रिय-सम्बन्धी भोग भुजगके भोग – साँपके शरीर-जैसे हैं । जिस प्रकार साँपका शरीर देखनेमें अत्यन्त सुन्दर, स्निग्ध और प्रिय मालूम देता है; परन्तु उसका स्पर्श करते ही वह डस लेता है और मर्मान्तिक पीड़ा करता हुआ प्राणान्त तक कर डालता है, उसी प्रकार इन भोगोंका हाल है । यह भी आपाततः भोगकालमें बड़े मनोहारी और प्रिय मालूम देते हैं; पर परिणाममें उससे कहीं अधिक और भयंकर पीड़ा पहुँचाते हैं । जो व्यक्ति इन भोगोंसे स्नेह-बन्धन जोड़ते हैं, वे अनन्त दु:खोंसे आकीर्ण संसारकी अधोगतिरूपी पौरमें डेरा डालते हैं और वहाँ वे पाप-जालमें इतनी बुरी तरहसे फँस जाते हैं कि उनका वहाँसे निकलना ही कठिन हो जाता है ।

आत्माका परिपूर्ण सुख भोगोपभोगमें नहीं है; बल्कि भौतिक भोगोंसे विमुख होकर आत्माके शुद्ध-बुद्ध आत्म-रमणमें है । कविवरने यहाँ इसी तथ्यका मनोहारिणी काव्य वाणीमें निवेश किया है कि किस प्रकार भोग-विरत होकर आत्मा भव-बन्धनसे मुक्त होकर शाश्वत सुखानुभूति प्राप्त कर सकता है । वह कहते हैं :

"इनको त्याग विरागी जे जन, भये ज्ञान-वृष धोरी ।
तिन सुख लह्यो अचल अविनासी, भव-फाँसी दई तोरी,
रमै तिन संग शिव-गोरी ॥"

जो मनुष्य इन भोगोंसे विरक्त हो गये हैं और जिन्होंने इन भोगोंसे

अपना नाता तोड़ लिया है, वे सम्पूर्ण ज्ञानी – केवलज्ञानी हो गये हैं और उन्होंने संसारके बन्धनको तोड़कर अनिश्वर एवं अविचल सुख प्राप्त कर लिया है। उनके साथ मुक्ति-लक्ष्मी विलास करती है।

भोगैषणा अमर और अनन्त है। ज्यों-ज्यों प्राणी भोगोंका भोग करता है तृष्णा और आकुलता उतनी ही अधिक वर्धमान होती जाती है। आत्म-विवेकके द्वारा ही यह विषय-चाह उपशान्त एवं उपक्षीण की जा सकती है। कविवर यहाँ इसी बातको कितनी स्पष्टताके साथ कह रहे हैं, देखिए :

> "भोगन की अभिलाष हरन को, त्रिजग-संपदा थोरी।
> यातैं ज्ञानानन्द 'दौल' अब, पियो पियूष-कटोरी,
> मिटै भव-व्याधि कठोरी॥"

भोगोंकी चाह साधारण चाह नहीं है। इस चाहको उपशान्त करनेके लिए तीनों लोककी सम्पत्ति भी पर्याप्त नहीं है। इसलिए आत्मा, तू तो ज्ञानानन्दरूपी अमृतको कटोरी भर-भर कर पी, जिससे तेरी कठोर भव-व्याधि मिट जाये और तू निराकुल हो सके।

कविके 'भोग भुजंग-भोगसम जानौ' वाक्यको देखकर सोमप्रभसूरिकी यह सूक्ति सहज भावसे स्मृतिमें सजग हो उठती है।

> "भोगान् कृष्णभुजङ्गभोग-विषमान् राज्यं रजःसन्निभं,
> बन्धून् बन्धनिबन्धनानि विषयग्रामं विषान्नोपमम्।
> भूतिं भूतिसहोदरां तृणतुलं स्त्रैणं विदित्वा त्यजं-
> स्तेष्वासक्तिमनाविलो विलभते मुक्तिं विरक्तः पुमान्।"
>
> —सू० मु०, ९२।

अरे आत्मन्, तू भोगोंको काले साँपके शरीरकी तरह भयंकर समझ। राज्यको भी अपने भीतर महत्त्वपूर्ण स्थान न दे। उसे रजकी तरह अपनेको अपवित्र करनेवाला और हेय समझ और बन्धु-बान्धवोंसे भी ममताका नाता न जोड़। बन्धु-बान्धव अनन्त संसार-बन्धके कारण हैं। तू तो इस विषम

संसारसे अपना उद्धार—मुक्ति चाहता है पर तू ही बता, बन्धनमें बँधकर कभी कोई उन्मुक्त भी हुआ है? उन्मुक्त होनेके लिए, शाश्वतिक आत्म-शान्ति प्राप्त करनेके लिए तुझे बन्धु-बान्धवोंसे अपना स्नेह-बन्धन तोड़ना ही पड़ेगा और आत्मन्, क्या तुझे मालूम नहीं; इन इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति तो विषके प्रयोग-जैसी अमंगलकारिणी है। विभूति और ऐश्वर्यका तो हाल ही क्या पूछना! वह भस्म-जैसी अस्थिर और क्षण-भरमें विलीन हो जानेवाली है। कुछ क्षणोंके लिए चमचमानेवाली उसकी मोहनी मायापर क्या फूलना! और इसी प्रकार स्त्री-पुरुष आदि भी सूखे घास-जैसे निःसार हैं। इसलिए आत्मन्, यदि मेरी बात माननी है तो मैं तुझे एक ही सलाह दूँगा। पहले तू अपने अन्तस्से पूछ कि क्या सचमुच तू संसारकी पीड़ाओं, अभावों और आकुलताओंसे ऊब चुका है? और क्या वस्तुतः तू निराकुल अनन्त सुख-लाभ करना चाहता है? यदि वस्तुतः तेरी आत्मा अनन्त वेदनाओंका केन्द्र बनी हुई है और तू इनसे उन्मुक्त होकर अविचल शान्ति लाभ करना चाहता है तो मेरी सलाह है कि, भोग, राज्य, बन्धु-बान्धव, विषय, ऐश्वर्य और पत्नी-पुत्र आदि प्रत्येकके सम्बन्धमें अपना रागभाव—आसक्ति छोड़ दे। देख, इस पथका पथिक बननेपर शुद्ध निरंजन, निर्विकार होकर तुझे कैसे स्थिर और अनन्त सुखका लाभ नहीं होता?

दोनों कलाकारोंके आत्म-संवेदनाका यह संगम कितना मनोहर और कल्याणकर है और दोनोंकी सम्बोधना कितनी लोक-कल्याणकारिणी है।

आत्मन्, हमारी एक सीख मान, तू भोगोंकी ओरसे अपनी आसक्ति सर्वथा हटा ले। इसीमें तेरी सच्ची शान्ति छिपी हुई है:

"मान ले या सिख मोरी।"

■

छांड़ि दे या बुधि भोरी

मनुष्यके लिए जहाँ अपनी अन्य वस्तुओंसे गहरी रागवृत्ति है, वहाँ शरीरके प्रति भी उसकी यह वृत्ति किसी क़दर कम नहीं है।

अपने शरीरको स्वस्थ रखनेके लिए, अपने शरीरको पुष्ट रखनेके लिए, अपने शरीरको सुन्दर और आकृष्ट बनानेके लिए मनुष्य क्या-क्या नहीं करता है। इसके लिए उसे कितनी अनगिनती चिन्ताएँ और प्रयत्न नहीं करने पड़ते। इसीके पीछे मनुष्य कितना शोषण और संहार नहीं करता। यहाँतक कि इसीके पीछे वह दूसरेके प्राणोंकी बलि करते हुए भी नहीं सकुचाता है!

जब मनुष्यका ध्यान इस कायाको स्वस्थ और पुष्ट रखनेकी ओर रहता है, तो वह अनेकों स्वास्थ्यकर औषधियों और भोज्य पदार्थोंके खानेकी टोहमें मस्त रहता है। शरीरके पोषणके लिए उसे भक्ष्य-अभक्ष्यका कोई विवेक नहीं रहता। सत्य-असत्य, नैतिक-अनैतिक, मानवीय-अमानवीय प्रवृत्तियोंमें उसे कोई भेद नज़र नहीं आता। शरीरको स्वस्थ और पुष्ट रखनेके पीछे वह अन्यान्य भयंकर प्रवृत्तियाँ करते हुए भी नहीं हिचकिचाता। इसीके पीछे वह दूसरोंके प्राणोंके ग्राहक भी बन जाता है। जब वह इस शरीरको कान्तिमान् बनाये रखना चाहता है तो इसके लिए वह क्या-क्या चेष्टाएँ नहीं करता। कभी उसका अंगरागसे लिम्पन करता है, कभी-कभी सुगन्धित इत्र, तैल आदिका उपमर्दन करता है और कभी उत्तमोत्तम सुवासित साधनोंका उपयोग करता है।

इस प्रकार मनुष्य इस एक शरीरके पीछे अनन्त प्रवृत्तियाँ करता है,

फिर भी वह उसे स्वस्थ, सुन्दर और पुष्ट नहीं रख पाता है।

कभी कोई व्याधि आकर शारीरिक स्वास्थ्यको चौपट कर देती है, कभी कोई इष्ट-वियोगसे होनेवाली चिन्ता उसे खोखला कर देती है, तो कभी अनिष्टके समागमसे होनेवाली कसक उसे जीर्ण-शीर्ण कर देती है। यह सब होनेपर भी उसका अपने शरीरके प्रति किया जानेवाला अनुराग कम नहीं होता और वह बराबर दुःखोंके चक्रमें फँसता जाता है। मनुष्य भोली बुद्धिका प्राणी जो है।

आत्म-जीवनकी प्रत्येक क्रियाके समदर्शी कलाकार पं० दौलतरामने मनुष्यकी इस भोरी बुद्धिको ख़ूब परखा है। वे कहते हैं, यह मानव, शरीरसे जो अत्यन्त राग रखता है, उसका एक ही कारण है। वह यह कि इसकी बुद्धि इतनी भोरी है, संकीर्ण है कि जिसके कारण उसने इस शरीरमें आत्मीय बुद्धि कर रखी है। उसे इस बातका कोई ज्ञान नहीं है कि आत्मा और शरीर, विभिन्न जातिकी दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। दोनोंका एक-दूसरेसे कोई मेल नहीं। एक अपनी है, दूसरी परायी। एक स्थिर है और दूसरी अस्थिर। और मनुष्यको जबतक किसी वस्तुमें 'यह पर है'की प्रतीति नहीं होती वह उसे अपनी मानता है और सदैव अपनी बनाये रखनेके प्रयत्नमें रहता है। इसके साथ ही उसे चिरकाल तक सुरक्षित बनाये रखनेके लिए वह सैकड़ों चिन्ताओं और मुसीबतोंको भी जन्म देता है।

इस शरीर-रागी मनुष्यका भी ठीक यही हाल है। उसने भी शरीरको यह नहीं समझा, "यह पर है"; यह भी नहीं समझा "न रहै थिर, पोषत" — इस शरीरको कितना ही पालिए-पोसिए, फिर भी वह ध्रुव रहनेवाला नहीं है और यह तो कभी उसके अनुभवमें ही नहीं आया कि यह शरीर "सकल कुमल की झोरी" है—संसारकी समस्त गन्दगी इसीमें घनीभूत हो गयी है। और इस बातको इसने कभी सोचा ही नहीं कि मैं अनादिकालसे इस शरीरके साथ ममत्व-बुद्धि बाँधे हुए हूँ तथा इसी कारण "कर्मकी डोरी"से मैं अपनेको उन्मुक्त नहीं कर पाता। इसका ही परिणाम है कि मैं बराबर

दुःख-सागरकी लहरोंके आघातोंको झेलता चला जा रहा हूँ !

कविके मनमें इस शरीर-रागी मानवकी दुर्दशाकी ओर एक तीव्र करुणाका भाव उमड़ा हुआ दिखलाई देता है और यही बात है जिसके कारण वह उसे इस प्रकार सन्देश देता हुआ दिखलाई पड़ता है।

"छाँड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी।
यह पर है, न रहै, थिर पोषत, सकल कुमलकी झोरी॥
यासौं ममता कर अनादि तै, बंधौ करमकी डोरी।
सहै दुख जलधि-हिलोरी॥"

मानव ! तुम अपनी मिथ्या धारणा दूर करो और शरीरसे व्यर्थ राग न करो। यह शरीर परकीय है। पालन-पोषण होनेपर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है। समस्त प्रकारकी गन्दगीका केन्द्र है। मानव ! तुम इस शरीरसे ममत्व रखनेके कारण ही अनादिकालसे कर्म-जालमें जकड़े हुए हो और दुःखोंको उठा रहे हो।

कवि-सन्देश अभी पूर्ण नहीं हुआ है। वह अभी चल ही रहा है। सुनिए :

"यह जड़ है, तू चेतन, यों ही अपनावत बरजोरी।
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं संपति तोरी॥
सदा विलसो शिव-गोरी।"

भोले मानव ! क्या तुझे यह मालूम नहीं है कि शरीर जड़मय है और तू चैतन्यमय है। जब ये दोनों बिलकुल पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं तो तू हठात् इन दोनोंका गठबन्धन क्यों करना चाहता है ? सम्यग्दर्शन—सच्ची आत्म-श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान—सच्चा आत्मीय बोध और सम्यक्चारित्र—सच्ची आत्मानुभूति यह निधियाँ ही तेरी आत्मीय सम्पत्ति हैं। इसलिए अन्य समस्त प्रकारकी सांसारिक मायाको छोड़कर तू इस सम्पत्तिको प्राप्त करनेका ही प्रयत्न कर और 'शिव-गोरी' के साथ सुख भोग।

शरीरसे आसक्ति रखना संसार-बन्ध और दु:खोंकी जड़ है। आत्मसुख इस देह-रागको दूर किये विना कदापि सम्भव नहीं है। कविवर यहाँ इसी तथ्यको बड़ी मनोरम एवं कवित्वपूर्ण शैली-द्वारा प्रकट कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासों ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे, पीजे ज्ञान-पियूष कटोरी॥
मिटै पर-चाह कठोरी।"

मानव ! एक बात और ध्यानमें रखना। जिन जीवोंने अपने शरीरसे सदाके लिए आसक्ति तोड़ ली है, वे चिरकालके लिए सुखी हो गये– किसी भी प्रकारका बाधा – बन्धन उन्हें पीड़ित और आकुलित नहीं किये है।

अन्तमें कविवर कहते हैं : मानव ! तू मेरी एक सीख मान। ज्ञान-सुधारसका आकण्ठ पान करके अपनेको ख़ूब तृप्त कर ले, जिससे तेरी 'पर-चाह' नष्ट हो जाये।

कविका यह अमरगान आज भी मानवकी भोली बुद्धिमें उसके परकीय शरीरके प्रति एक तीव्र विरागका भाव जागृत कर रहा है :

"छाँड़ि दे या बुधि भोरी।"

■

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ

स्मृति-भ्रंश संसारमें एक असीम दुःखका कारण है। मानव, जब अपनी स्मृति खो बैठता है, तो उसका जीवन कितना पराधीन, व्यथित और आकुल हो जाता है, यह वही समझ सकता है जिसने कभी जीवनमें अपनी स्मृति खोकर विवशता, व्यथा और आकुलताओंका सामना किया हो। अन्यथा स्मृति-भ्रंशके असीम दुःखकी उस व्यक्तिको कहाँसे अनुभूति हो सकती है जो इस स्थितिके परिवर्तन-चक्रसे अपरिचित है।

आज आत्माराम जो इतने कष्ट झेल रहा है और अनादिकालसे झेलता आ रहा है, जिनकी इयत्ताकी कोई भी कल्पक कल्पना नहीं कर सकता। भला किसीने कभी इसका भी लेखा लगाया है कि इस संकट-सन्ततिको झेलते रहनेका क्या हेतु है?

हमारे अध्यात्म-कला-कुशल कविवर दौलतरामजीने आत्मारामकी इस दुर्वह दुःख-परम्पराके हेतुको खूब समझा है और बतलाया है कि आत्माराम, तू अपने स्मृति-भ्रंशके कारण ही इतनी यातनाएँ झेल रहा है, जिस प्रकार तोता अपनी आकाश-गति भुलाकर नलिनीके बन्धनमें फँसकर व्यथातुर होता है। कविकी अलौकिक लयपूर्ण वाणीका स्वर सुनिए :

> "अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
> ज्यों शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी ललकायौ॥
> अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।"

आत्मन्, तुझे ये दुःख इसलिए झेलने पड़ रहे हैं कि तू आत्म-विस्मृत हो चुका है – तूने स्वयं अपने-आपको भुला दिया है। जिस प्रकार तोता

अपनी आत्म-गति—आकाश-गति भूलकर नलिनीके फन्देमें फँसता है और पश्चात्ताप तथा दुःखकी अग्निमें झुलसता है, ठीक उसी प्रकार आत्मन्, तू भी आत्म-रूप भूल गया है और परमें अपनत्व-बुद्धि रखकर दुःख उठा रहा है।

आत्मन्, क्या तू यह भी भूल गया :

"चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध,
तजि जड़-रस-फरस रूप, पुद्गल अपनायो।"

तेरा स्वभाव शुद्ध चैतन्य और दर्शन ज्ञानमय है। आत्मन्! तू इस आत्म-रूपको तो भूल गया और तूने जड – रूप-स्पर्श-रस-गन्धमय पुद्गलसे नाता जोड़कर उसमें ही आत्म-रूपके दर्शन किये और उसके साथ ही राग-बुद्धि दर्शायी। पर, तूने इस बातका बिलकुल ही विचार नहीं किया कि परके साथ राग-बुद्धि रखकर कैसे आत्म-सुख प्राप्त किया जा सकता है। आखिर 'पर-राग' 'पर-राग' है और 'आत्म-राग' 'आत्म-राग'। 'पर-राग' और 'आत्म-राग' दोनोंमें बड़ा मौलिक अन्तर है और यह दोनों परस्परमें एक-दूसरेके कैसे पूरक हो सकते हैं ? और :

"इन्द्रिय सुख-दुख में नित, पाग राग-रुख में चित्त,
दायक भव-विपतिवृन्द, बन्ध को बढ़ायौ!"

आत्मन्, तूने इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखमें राग-बुद्धि की और इन्द्रिय-सम्बन्धी दुःखमें द्वेष-बुद्धि। इस प्रकारके प्रयत्नोंसे आत्मन्, तूने उस कर्म-बन्धकी ही परम्पराको प्रश्रय दिया, जो तुझे और भी अधिकाधिक रूपसे संसार-बन्धनकी श्रृंखलामें जकड़ती है।

आत्मन्, एक बात और :

"चाह-दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै,
समता-सुधा न गाहै, जिन-निकट जो बतायौ।"

तू निरन्तर चाहरूपी दाहमें जलता रहता है, फिर भी उसे छोड़ना

नहीं चाहता – चाहकी ज्वाला अधिकाधिक रूपसे सुलगाता ही जाता है। आत्मन्, तू उस 'समता-सुधा' का पान ही नहीं करना चाहता, जो वीत-रागिताके अति निकट है।

अन्तमें :

"मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय,
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ-चाल बिसरि, नलिनो ललकायौ।"

आत्मन्, तूने मनुष्य-भव पाया है, उसमें भी तुझे उत्तम कुल मिला है, इसपर भी तुम जैन शासनकी वरद छायामें हो। कलाकार सम्बोधता है, आत्मन्, तुम अब अपने रूपका ध्यान करो, जिसको अनादिकालसे भूले हुए हो। तुमने आत्म-रूपसे बेख़बर होकर ख़ूब आपत्तियाँ झेली हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह तोता अपनी आकाश-गति छोड़कर नलिनोके फन्देमें फँसता है और दुःख उठाता है।

कलाकारकी यह सप्राण आत्म-सम्बोधना कौन जाने कबतक कितने प्राणियोंको प्रतिबोध देकर आत्म-भान कराती रहेगी :

"अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।"

■

हम तो कबहुँ न निज घर आये

मनुष्य भूलोंका पुतला है। उससे भूलें होनी स्वाभाविक हैं। परन्तु जब उसे अपनी भूलोंका पता चलता है, उसकी आत्मा अपनी भूलोंको स्वीकार कर लेती है और वह अपनी अतीतकी भूलोंका हिसाब लगाने बैठता है तो उसके मनमें पश्चात्तापकी प्रबल ज्वालाएँ प्रज्वलित होने लगती हैं। वह सोचने लगता है: 'हमसे यह ग़लती क्योंकर बन पड़ी? यदि हमसे इस प्रकारकी ग़लती न हुई होती तो हमें यह हानि और कष्ट न उठाने पड़ते।'

हमारे अध्यातम-रसिक कलाकार पं० दौलतरामजीका अन्तस् भी आज कुछ इसी प्रकारकी पश्चात्तापमय चिन्तामें झुलस रहा है। कलाकारके अन्तस्ने आज अपनी सहज भावसे अनादिकालसे प्रवहमान जीवनधाराके वेगको एक अलौकिक दिशाकी ओर मोड़ा है और ऐसा करते ही उसे प्रतीत हुआ – 'ओह, मेरी जीवनधारा किस पंकिल नदसे प्रवाहित हो रही थी। उसका जो मुकुर-मनोहर स्वच्छ आवास-नद घर था, उसके तो इसने आज तक दर्शन ही नहीं किये। हा, हन्त! कितना दुर्लभ अनन्तकाल बीत गया! हमारी कितनी बुरी दुर्दशा हुई!

कलाकारके अन्तस्की विराग और पश्चात्तापसे भरी हुई और कुछ उष्ण आश्वासोंसे उत्तप्त गीति सुनिए:

> **"हम तो कबहूँ न निज घर आये।**
>
> **पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।।**

हम आज तक अपने घर नहीं आये। हम आज तक अपनी आत्माको

नहीं पहचान सके और न अपनी आत्माकी विशुद्ध स्वाभाविक परिणति प्राप्त कर सके। हमने दूसरोंके घर घूमते-घूमते अनन्तकाल बिता दिया। हमने पर-परिणतियोंको अपनाते-अपनाते चिरकाल बिता दिया और नाम भी हमारे अनेकों रखे गये अर्थात् बदनाम भी ख़ूब हुए, परन्तु इस प्रकार बदनाम होनेपर भी हम आज तक अपने घर नहीं आये – आत्म-परिणति प्राप्त नहीं कर सके।

कलाकारका अन्तस् अपने गीति-क्रमको आगे भी जारी रखता है :

"परपद निजपद मानि मगन ह्वै, परपरनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतनभाव न भाये।"

हमने परपदको ही निजपद मान लिया। अर्थात् हमने परपदार्थोंके पदको ही अपना आत्मीय पद मान लिया और इस प्रकार हम उसी पर-पदमें आनन्द मानकर तन्मय हो गये। इस तरह चिरकाल तक परपदार्थोंकी वैभाविक परिणतिमें ही फँसे रहे। हमारा जो शुद्ध, बुद्ध, आनन्दमय सुन्दर चैतन्य स्वभाव था, उसका हमने कभी भूलकर भी चिन्तन नहीं किया।

चिन्तन-धारा अभी मन्द नहीं हुई है। वह आगे अधिकाधिक वेगको ही पकड़ती जा रही है :

"नर, पशु, देव, नरक निज जान्यौ, परजय बुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी आतमगुन नहिं गाये।"

हमने अपने नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-भावको ही अपनी आत्माकी परिणति समझी। इस प्रकार हमारी बुद्धि अपने आत्म-द्रव्यकी ओर नहीं हुई। हम अपनी आत्माकी जो नर, पशु, देव और नरक पर्यायें थीं उनमें ही निजत्व-बुद्धि मान रहे। खेद, हमारी निर्मल, अखण्ड, निस्तुल, अविनाशी आत्माके जो गुण थे उनका हमने अबतक गान-चिन्तन नहीं किया।

अन्तमें कलाकारकी गीति, निम्न प्रकार स्वर-लहरीमें लहराती हुई

कर्त्तव्य-पथपर चलनेकी प्रेरणा करती है :

"यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये ॥"

यह हमारी बड़ी भारी भूल है जो हमसे अबतक होती रही है। परन्तु वह सोचता है अब पश्चात्ताप करनेसे क्या होनेका? हम कितना ही पश्चात्ताप क्यों न करें पर अतीतकी भूलें धुल नहीं सकतीं। कलाकारका अन्तस् कहता है कि यदि सत्गुरुका उपदेश मनको रुचता है तो तू अब भी विषयोंकी परिणति – 'पर-परिणति'से अपनी रुचिको हटा ले – अब भी दूसरोंके घरका घूमना बन्द कर और अपने घरका आनन्द लाभ ले।

कलाकारका यह उद्बोधन अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण उद्बोधन है। इसका संघटन अत्यन्त स्वाभाविक और मार्मिक है। विरले कलाकार ही अपनी जीवनव्यापी साधनामें इस प्रकारकी आत्मानुभूति प्राप्त कर पाते हैं :

"हम तो कबहुँ न निज घर आये।"

■

मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी।

संसारमें कुछ इस प्रकारके भी मनुष्य होते हैं जो बहुधा स्वप्नदर्शी हुआ करते हैं। यद्यपि वे वर्तमानमें अपनी विवश परिस्थितियोंके वश कुछ कर नहीं पाते, उनकी जो कामनाएँ और मनोरथ होते हैं उनमें वे अपनेको कृतकार्य नहीं पाते फिर भी वे अपनी कामनाओं और मनोरथोंको लेकर प्रायः स्वप्न-लोकमें विचरण किया करते हैं। उनका संकल्प इतना दृढ़ और तीव्र होता है कि वे अपनी मनोरथ-सिद्धिके लिए अपने तन, मन, धनको निछावर करते हुए भी चिन्तित नहीं होते।

हमारे कलाकार पं० दौलतरामका अन्तस् भी इसी प्रकारका एक महान् स्वप्नदर्शी अन्तस् है। परन्तु उसके स्वप्न एक महान् विरागके आदर्शको लिये हुए हैं। वह संसारकी झंझटों, बाधाओं और विघ्नोंसे ऊबा हुआ अन्तस् है। जान पड़ता है जैसे उसे संसारके मायावी बन्धनोंने ख़ूब ही रुला रखा हो। यह अन्तस् संसारके इस मायाजालसे उन्मुक्त होनेके लिए अत्यन्त उत्सुक है। ऐसा मालूम देता है जैसे उसकी आत्माके अन्दर विराग-धाराके सहस्रों स्रोत फूट पड़े हों और वह अपनी बर्तमान स्थितिसे एकदम ऊपर उठ चुका हो।

कलाकारके अन्तस्की संकल्पनिष्ठा देखिए :

"मेरे कब ह्वै वा दिन की सुघरी।
तन बिन वसन असन बिन बन में निवसौं नासा दृष्टि धरी।"

मुझे किस दिन वह शुभ अवसर प्राप्त होगा। जब मैं नग्न दिगम्बर-मुद्रा धारण करूँगा और आहार-जलकी ओर मेरी रुचि ही न होगी।

इसके साथ ही जिस दिन मैं अपनी दृष्टिको अपनी नासिकाकी ओर स्थिर करूँगा ।

"पुण्य पाप-परसों कब विरचों, परचों निज निधि चिर-बिसरी ।
तज उपाधि, सज सहज समाधी, सहों धाम-हिम-मेघ झरी ।"

मुझे किस दिन वह सुअवसर प्राप्त होगा, जिस दिन मैं परकीय पुण्य और पापकी परिणतियोंसे विरक्त होकर उनमें राग-द्वेषमय बुद्धि न करूँगा। और चिरकालसे भूली हुई आत्म-निधिकी प्राप्ति करूँगा । इतना ही नहीं, मेरी आत्मा अपने लक्ष्यके प्रति इतनी संकल्प और निष्ठावान् हो जायेगी कि ग्रीष्म, शिशिर और वर्षाकी बाधाएँ उसे ज़रा भी टससे मस नहीं कर सकेंगी ।

इसके अतिरिक्त :

"कब थिर-जोग धरों ऐसौ मोहि उपल जान मृग खाज हरी ।
ध्यान-कमान तान अनुभव-शर, छेदों किहि दिन मोह अरी ॥'

मुझे वह अवसर कब प्राप्त हो, जब मैं स्थिर योग धारण करूँ और उस ध्यान-मुद्रामें स्थित मुझे हिरन पत्थरकी शिला समझकर अपनी खाज खुजलावें और वह अवसर भी कब प्राप्त होगा जब मैं ध्यान-कमान तानकर आत्मानुभवरूपी बाणसे मोह-शत्रुका विनाश करूँगा ।

अन्तमें :

"कब तन-कंचन एक गनों अरु, मनिजड़ितालय शैल दरी ।
'दौलत' सतगुरुचरनन सेऊँ, जो पुरवौ आश यहै हमरी ।"

मुझे कब वह सुअवसर मिलेगा जब तृण और कंचन दोनों ही मुझे एक-से मालूम होंगे और मणिखचित प्रासाद और पर्वतकी कन्दरामें मुझे भेदकी प्रतीति नहीं होगी । अर्थात् इन सब पदार्थोंको अनात्मीय और अमंगल समझता हुआ मैं इनमें राग-द्वेषमय बुद्धि न करूँगा । कलाकार अपने अन्तस्‌की इस शुभ और पवित्र संकल्प-निष्ठाकी सिद्धिके साधनको स्वयं

बलपूर्वक व्यक्त करता है कि सद्गुरुके चरणोंकी सेवा ही हमारी स्वप्न-मालाकी पूर्ति करेगी ।

मुझे किस दिन वह सुअवसर प्राप्त होगा जब मैं नग्न दिगम्बर-मुद्रा धारण करूँगा और आहार-जलकी ओर मेरी रुचि ही न होगी । इसके अतिरिक्त जिस दिन मैं अपनी दृष्टिको अपनी नासिकाकी ओर लगाकर ध्यान-मग्न बनूँगा ।

कलाकारके अन्तस्की यह स्वप्न-भावना कितनी हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक है । भव-बाधाके व्याकुल मानवकी मुक्तिकी टोहमें इससे अधिक दृढ़ और पवित्र अन्य क्या चाह हो सकती है :

"मेरे कब ह्वै वा दिनकी सुघरी ।"

■

जीव तू अनादि हो तैं भूल्यौ शिव-गैलवा

संसारमें मनुष्यके लिए आत्मचिन्तन और आत्मालोचन अत्यन्त कठिन काम है। वे मनुष्य बहुत बिरले हैं जिन्हें अपने सत्य आत्म-स्वरूपकी अनुभूति हो जाती है और जो आत्मालोचनपूर्वक अपने दोषोंकी छान-बीन करके सन्मार्गपर जानेका जी-जानसे प्रयत्न करते हैं। अधिकांश जन-समूह संसारकी इस मोहनी मायापर इतना मोहित रहता है कि उसकी आत्म-रूपको समझनेकी कभी प्रवृत्ति ही नहीं होती। वह न आत्म-बोध कर पाता है, न आत्मनिरीक्षणका अवसर ही उसे जीवनमें प्राप्त होता है और न ही वह सन्मार्गपर चलता हुआ नज़र आता है। इस प्रकारका मानव अपने जीवनमें अत्यन्त असहाय, दीन-दुर्बल और पराधीन रहकर अनन्त पीड़ाओंका चिर-संगी बना रहता है। इसके विपरीत जिसे कुछ आत्म-रूपका साक्षात्कार हुआ है और जो आत्मालोचनपूर्वक अपनी जीवन साधनामें तन्मय है वह एक दिन अवश्यमेव शाश्वतिक सिद्धिको प्राप्त कर अनन्त कल्याणका अनुभोक्ता होता है।

पं० दौलतरामके अन्तस्को चिरकालके पश्चात् आज आत्म-भान हुआ है और जैसे ही उसे आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि हुई वह इस प्रकार आत्मालोचनमें तत्पर हो जाता है। वह अपनी आत्माको लक्ष्यमें रखकर कहता है :

"जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा
मोह मद-वार पियौ, स्वपद विसार दियौ,
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुखमें रचियौ,

भवतैं न भियौ, न तजियौ मन-मैलवा।

जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥"

आत्मन्, तू अनादि कालसे ही शिव-गैल – अनन्त कल्याणका मार्ग भूला हुआ है। तू अबतक मुक्ति-मार्गका पथिक न बन सका! तूने मोह-वारुणी पीकर आत्म-रूपको भुला दिया। इतना ही नहीं कि तूने केवल आत्म-रूपको भुलाया हो, बल्कि तू पर-पद – परकीय परिणति अपनाकर इन्द्रियोंके सुखानुभवमें तल्लीन हो गया। आत्मन्, इसपर भी तू संसारसे भयभीत नहीं हुआ और न ही तूने मनका मैल दूर करनेका प्रयत्न किया।

इसके आगे भी वह आत्मचिन्तन करता है :

"मिथ्या ज्ञान आचरन, धरिकर कुमरन,

तीन लोक की धरन, तामें कियौ है फिरन,

पायौ न शरन, न लहायौ सुख-शैलवा।

जीव तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥"

आत्मन्, तूने अपनी मिथ्या बुद्धिके कारण पर-पदार्थोंसे आत्मीयता मानी परन्तु यह पदार्थ अन्त समय तेरा साथ न दे सके, तुझे आत्म-तोष न करा सके। उस समय तुझे महान् संक्लेश हुआ। तेरी मृत्यु हो गयी। आत्मन्, तू उस समयकी अपनी मानसिक स्थितिको स्वयं तो सोच। कैसा करुण दृश्य था वह। वे पदार्थ जिन्हें तूने अपना समझ रखा था—तू उन्हें छोड़ना नहीं चाहता था, पर तुझे हठात् उन्हें छोड़ना पड़ा और तेरे ये 'अपने' पदार्थ ही तेरे 'अपने' – आत्मीय न हो सके। उस समय कैसे भीषण संक्लेश परिणामोंके साथ तूने मृत्यु-शय्याका आलिंगन किया और आत्मन्, इस मिथ्या बुद्धिपूर्वक मृत्युके परिणामको भी तुम भूले न होगे। याद है तुम्हें इस 'कुमरन' – कुत्सित मृत्युका परिणाम? इस 'कुमरन' के कारण तुम्हें तीनों लोककी पृथ्वीके कोने-कोनेका चक्कर काटना पड़ा, फिर भी तुम्हें कहीं क्षण-भर और तिल-भर भी सुख-शरण नहीं मिली। आह, इस असीम परिभ्रमणके दुःखका भी कोई लेखा है?

आत्मन्, तू अनादिकालसे ही शिवगैल – अनन्त कल्याणका मार्ग भूला हुआ है। तू अबतक मुक्ति-मार्गका पथिक न बन सका।

कलाकार इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए अपने वर्तमान जीवनकी ओर दृष्टिपात करता है और कहता है :

"अब नरभव पायौ, सुथल सुकुल आयौ,
जिन उपदेश भायौ, 'दौल' झट छिटकायौ।
पर परनति दुखदायिनी चुरैलवा,
जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥"

आत्मन्, इस समय तुझे अपनी वर्तमान स्थितिपर विचार करना है और इसके साथ ही तुझे अपनी अनादि-दिग्भ्रान्त जीवन-धाराको एक अनन्त मंगलमय दिशाको ओर ले जाना है।

आत्मन्, एक वार तुझे मनुष्य-जन्म मिला और आत्म-कल्याणके अनुरूप तुझे उत्तम स्थान और उत्तम कुलका संयोग भी प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं, वीतमोह जिनराजके उपदेश-लाभका भी सुअवसर तुझे मिला है। यह अत्यन्त दुर्लभ मणि-कांचन योग-जैसा सुयोगोंका सम्मेलन है। आत्मन्, अब तो तुझे इस दुःखद चुड़ैल 'पर-परिणति'को अवश्य और शीघ्र ही छोड़ देना चाहिए।

आत्मन्, तू अनादिकालसे ही शिवगैल – अनन्त कल्याणका मार्ग भूला हुआ है। तू अबतक मुक्ति-मार्गका पथिक न बन सका।

कलाकारका यह आत्मालोचन मानव-जीवनको कितना समुन्नत करने-वाला है और किस प्रकार जनसाधारणको जीवन-व्यापिनी भव-बाधाको दूर करते हुए उसके मुक्ति-मार्गका निदर्शक है इसे सहृदय आत्मालोचक स्वानुभवी ही समझ सकता है।

"जीव तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा।"

■

आपा नहिं जाना तूने

ज्ञान संसारमें एक अत्यन्त दुर्लभ और अमूल्य वस्तु है। मानव उसे प्राप्त कर अपना कल्याण और अकल्याण दोनों कर सकता है। यदि मानवने अपने ज्ञानकी प्रवृत्तिको आत्माभिमुख किया – उसे सन्मार्गकी ओर लगाया तो वह निश्चयतः आत्म-कल्याणकी साधनामें सफल होता है और यदि उसने ज्ञानकी वृत्तिको अनात्मीय संसारकी ओर प्रवृत्त किया तो वह दिङ्मूढ़ होकर चिरकाल तक घोर हाहाकार, अशान्ति, अभाव और आकुलताओंकी ज्वालामें धधकता रहता है। सम्यक्-सत्य ज्ञानीकी तरह उसे वास्तविक सुख-शान्ति नहीं मिल पाती।

इस प्रकारकी स्थितिमें कभी-कभी यह मानव अपनेको बड़ा ज्ञानी और सत्यका साक्षात्कर्त्ता मानता है, उसे अपने इस ज्ञानका बड़ा गर्व रहता है, वह समझता है, 'संसारमें मैं ही एक विशिष्ट ज्ञानी महात्मा हूँ। मैं जो कुछ प्रवृत्तियाँ करता हूँ वे सब मेरी सम्पूर्ण सत्यकी साधनामें सहायक हैं। इनके सिवाय अन्य आचार मिथ्या है और वह मनुष्यको कदापि सम्पूर्णताकी प्राप्ति नहीं करा सकता।' इतना ही नहीं, यह मानव अपनेको पहुँचा हुआ साधक दिखलानेके लिए इस प्रकारके कठोर कष्ट उठाता है जो जनताकी दृष्टिमें उसे एक महान् ज्ञानी बतला सकें। यशकी भूख और स्वार्थ-लिप्साकी वेदना इसे बुरी तरह व्याकुल किये रहती है। पर इसे कौन सम्यक् ज्ञानी कहेगा। सम्यक् ज्ञानी तो सदैव इन वासनाओंके बन्धनसे मुक्त रहता है और शाश्वत सुख आनन्द तो उसके ही चिर-संगी रहते हैं।

कलाकार पण्डित दौलतरामने मानवकी प्रवृत्ति-विभिन्नताका खूब

अनुभव किया है। वे इस आत्म-साक्षात्कारके मिथ्या अहंकारी मानवकी प्रवृत्तियोंसे अत्यन्त झुँझलाये हुए हैं, इतना ही नहीं, आप देखिए वे अपनी इस झुँझलाहटको किस रोष और वितृष्णाके साथ व्यक्त कर रहे हैं। वे कहते हैं :

"आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे॥"

अरे मानव, तूने अपनी आत्माको तो समझा नहीं, ज्ञानी कैसे कहलाने लगा? मानव, तेरे जितने कार्य हैं उनसे आत्म-भावका कोई सम्बन्ध नहीं है — तेरी समस्त क्रियाएँ परकीय हैं, अनात्मीय हैं और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। फिर भी तेरा दावा है कि मैं 'शिव-मगचारी हूँ — मोक्ष-मार्गका पथिक हूँ। अरे मानव, तू इतना तो सोच, जब तेरे कार्य और आचार अनात्मीय, परकीय और शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, तेरी परिणति आत्माभिमुखी नहीं है तो तू 'शिव-मगचारी' कैसे हो सकता है? तू तो इस स्थितिमें 'संसारमार्गी' है। मोक्षमार्गीकी तो प्रत्येक परिणति, प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक आचार आत्मीय अर्थात् आत्माके सम्बन्धका ही होना चाहिए।

मानव, एक बात और है :

"निज-निवेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे।"

मानव, कदाचित् तेरा यह खयाल हो कि जब मैं अत्यन्त भयंकर कष्ट उठाता हूँ, जिन्हें साधारण मनुष्य देखकर भयभीत हो जाते हैं तो मुझे ज्ञानी क्यों न कहा जाये? पर इस भोले मानवको इतना ज्ञान नहीं है कि आत्म-ज्ञानके अभावमें वह इन कष्टोंको झेलकर कौन-सी सिद्धि प्राप्त कर लेगा। आत्म-ज्ञानके बिना यह कष्ट देह-दाहके सिवाय उसका और क्या कर देंगे?

मानव, ध्यानमें रखनेकी बात तो यह है :

"शिव चाहै तो द्विविध कर्म तैं, कर निज परनति न्यारी रे।"

यदि तू वस्तुतः आत्माके अनन्त कल्याणका अभिलाषी है और मोक्ष-पदकी प्राप्तिके लिए कृतसंकल्पी है तो तुझे अपनी आत्माकी परिणतिको राग और द्वेषसे दूर कर लेना चाहिए। जबतक तुम्हारी आत्म-परिणति कर्म-मलसे मैली और राग-द्वेषसे अनुरंजित रहेगी, मोक्षकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं।

"'दौलत' जिन निज भाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे।"

ज्ञानकी प्राप्ति और ज्ञानी होनेकी सार्थकता इसीमें है कि आत्मा भव-बाधासे निराकुल होकर अनन्त सुखी बने। मानव, सार बात यह है कि वे ही जन इस भव-बाधाके बन्धनसे उन्मुक्त हो सकते हैं जिन्होंने आत्मभावको खूब समझ लिया है और जिनकी आत्म-परिणति सदाके लिए आत्माभिमुखी हो चुकी है।

अरे मानव, तूने आत्माको तो समझा नहीं, ज्ञानी कैसे कहलाने लगा?

"आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे।"

जम आन अचानक दाबैगा

मनुष्य संसारकी प्रवृत्तियोंमें इतना उलझा रहता है कि उसे इस बातकी कोई सुध ही नहीं हो पाती कि उसके जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य क्या है ? इतना ही नहीं; वह अपनी इन विविध प्रवृत्तियोंमें यह भी ध्यान नहीं रख पाता कि उसकी आयुके कितने अमूल्य क्षण व्यर्थ निकल गये और अब कितने शेष रह गये हैं । उसे यह भी भान नहीं होता कि हमारा संसारमें रहना सदाके लिए नहीं है, आयुकर्मके अनुसार वह क्षण कभी भी आ सकता है, जब हमें अपने इष्ट-बन्धुओंको बिलखता हुआ छोड़कर संसारसे इस पर्यायसे बिदा लेनी होगी और परभवमें जन्म लेना पड़ेगा ।

कलाकार पं० दौलतरामजी इस प्रकारके मानवको बड़ी कुशलता और स्पष्टताके साथ सम्बोधते हैं । वे कहते हैं:

"जम आन अचानक दाबैगा
छिन-छिन कटत घटत थित ज्यों जल, अंजुलि को झर जावैगा ।"

अरे मानव, पता नहीं, यमराज आकर तुझे कब अचानक परलोक पहुँचा दे । जिस प्रकार अंजुलीका पानी प्रतिक्षण बूँद-बूँदके रूपमें गिरता रहता है और एक समय आता है जब सम्पूर्ण अंजुली जलसे रिक्त हो जाती है, उसी प्रकार मानव, तेरी आयु भी प्रतिक्षण घट रही है और वह समय भी आ सकता है जब तुम्हारी यह आयु समाप्त हो जाये और तुम्हें पर-लोकयात्रा करनी पड़े ।

मानव, यह बात भलीभाँति ध्यानमें रखनेकी है :

"जन्म-ताल-तरु तैं पर जिय-फल, कों लग बीच रहावैगा ।
क्यों न विचार करै नर आखिर, मरन मही में आवैगा ॥"

जिस प्रकार ताड़ वृक्षका फल अपने स्थानसे गिरकर बीचमें ही नहीं रह जाता है उसे अवश्यमेव पृथ्वीपर आना पड़ता है, उसी प्रकार मानव, जब तेरा मानवरूपसे जन्म हुआ है तो क्यों नहीं सोचता है कि हमारी यह पर्याय भी स्थिर रहनेवाली नहीं है। एक दिन हमें अवश्य ही यह तन छोड़कर मृत्युका आलिंगन करना होगा।

मानव, फिर यह रहस्य क्या तुमसे छिपा हुआ है ?

"सोवत मृत जागत जीवन ही श्वासा जो थिर थावैगा।
जैसे कोऊ छिपै सदा सौं, कबहूँ अवसि पलावैगा॥"

सुषुप्ति अवस्था मृत्युके समान है, क्योंकि मनुष्य उस स्थितिमें कुछ भी कर्त्तव्यका पालन नहीं कर पाता। वस्तुतः जाग्रत अवस्था ही जीवनको चिह्न है। सो यह जीवन भी तबतक स्थिर रहता है, जबतक शरीरमें श्वास-प्रश्वासकी क्रिया गतिशील रहती है। जिस प्रकार चिरकालसे छिपा हुआ जन भी कभी-न-कभी भागकर चला ही जाता है, वह सदाके लिए छिपा नहीं रह सकता उसी प्रकार मनुष्यका कर्त्तव्य है कि जबतक उसकी जाग्रत अवस्थामें उसके शरीरके भीतर श्वासोच्छ्वासकी प्रक्रिया परिचालित है तबतक उसे आत्म-हितका साधन अवश्य कर लेना चाहिए। अन्यथा एक-न-एक दिन उसे इस जन्मसे अवश्यमेव नाता तोड़ना पड़ेगा। इसलिए मानव, इस प्रकारका यत्न क्यों न किया जाये कि सदाके लिए जन्मान्तर-ग्रहणकी समस्या समाहित हो जाये।

मानव, सिद्धान्तकी बात एक ही है। और वह यह है :

"कहूँ कबहुँ कैसे हूँ कोई, अंतक से न बचावैगा।
सम्यग्ज्ञान-पियूष पिये सों 'दौल' अमरपद पावैगा।"

मानव, यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी व्यक्ति, किसी भी स्थानपर और किसी भी समय कालके मुँहमें पहुँचे हुए जीवकी रक्षा नहीं कर सकता। हाँ, अमर होनेका एक ही उपाय है और वह यह है कि मानव,

तू सम्यक्ज्ञानरूपी अमृत पान कर।

कविका सम्बोधन यथार्थत: संजीवन है। जो अमरत्वके अभिलाषी हैं, उन्हें इस संजीवन-सुधाके बिन्दुओंका आस्वाद अवश्य लेना चाहिए।

"जम आन अचानक दाबैगा।"

■

कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर

संसारमें पथ-प्रदर्शकका स्थान बहुत ऊँचा है। कुपथ-प्रदर्शक अनेक होते हैं, पर उनसे यहाँ आशय नहीं है। यहाँ मतलब सत्पथके प्रदर्शकसे है। सन्मार्गको दिखलानेवाले संसारमें बहुत बिरले होते हैं। वे जीव अत्यन्त कठिनाईसे मिलते हैं, जिनकी दृष्टिमें कंचन-काँच बराबर रहता है और जो सदैव परहित-साधनामें ही निरत रहते हैं। वस्तुतः इस प्रकारके जीव ही सन्मार्गकी ओर दिशा-निर्देश कर सकते हैं और इनके द्वारा बतलाये गये रास्तेपर चलकर ही मानव अपने शुद्ध आत्म-रूपका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसके विपरीत जो जीव राग-द्वेषकी प्रतिमूर्ति हैं, विषय-वासनाओंसे जिनका मन विरक्त नहीं हुआ है, जो सदैव आर्त्त और रौद्र-चिन्तनमें तन्मय रहते हैं और जिन्हें आत्माका कल्याण तथा उसके सत्यरूपको जानने-की ज़रा भी चाह नहीं है उनकी पर-कल्याण करनेकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, उनके द्वारा सन्मार्ग-प्रदर्शनकी बात तो एकदम असम्भव है।

कलाकार पं० दौलतरामका अन्तस् आज एक ऐसे ही सद्गुरुकी खोज-में है जो उसके सन्मार्गका प्रदर्शन करे और उसे संसार-समुद्रसे पार कर दे। संसारकी वासनाओंसे उसका मन ऊब चुका है और अनुभूत अनन्त यातनाओंने उसे भय-भीत बना दिया है। अब वह मुक्ति-लाभकी चाहमें सद्गुरुको खोज रहा है। इस मानवकी आन्तरिक भावनापर ध्यान दीजिए। वह कहता है :

"कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह-भारा हो।

इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो।
कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।"

वह श्रीगुरु मुनिराज कब मिलेंगे, जो मुझे संसार-समुद्रसे पार कर दें। जो भोगोंसे विरक्त होकर योग-साधनामें लगे हुए हैं। जिन्होंने बाहर और भीतरके परिग्रह-भार ममत्व-बुद्धिको दूर कर दिया है। जो इन्द्रियोंका दमन कर चुके हैं। अहंकार, जिन्हें छू तक नहीं गया है। जो क्रोध, मान, माया और लोभ जीतकर वासनातीत हो चुके हैं। इस प्रकारके श्रीगुरु महाराज मुझे कब मिलेंगे, जो भव-समुद्रसे पार कर दें। और :

"कंचन-काँच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो॥"

जिनकी दृष्टिमें कंचन और काँच तथा निन्दा और स्तुति करनेवाले एक-से हैं, जो कठिन-कठिन तप तपते हैं और जिन्होंने अपनी मन, वाणी और कर्मकी परिणतिको आत्माभिमुख कर लिया है।

"ग्रीषम गिरि हिम सरिता-तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा मीन, चीन त्रस थावर, ईर्य्यापंथ समारा हो॥"

जो ग्रीष्म-कालमें पर्वतपर ध्यान लगाते हैं, शीत-कालमें नदी-नदके तटपर आसन जमाते हैं और वर्षा-कालमें वृक्षोंके नीचे आत्म-साधना करते हैं। जिनका मन करुणासे पूर्ण रहता है; जो त्रस और स्थावर – दोनोंको कदापि कष्ट नहीं पहुँचाते और जो अहिंसा पालनमें इतने सावधान रहते हैं कि सदैव पृथ्वीको चार-हाथ आगे देख-भाल करके ही अपना अगला चरण उठाते हैं, जिससे किसी भू-चर प्राणीको पीड़ा न पहुँचे।

गुरु महाराजकी अन्य विशेषता भी देखिए :

"मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो॥"

जो काम-तृष्णा दूर कर चुके हैं, कठोर व्रत-नियमोंके द्वारा, जिन्होंने

अपनी आत्माका दमन कर लिया है। जो सदाचारकी प्रतिमूर्ति हैं।

जिन्होंने अपनी आत्मासे मोहरूपी महान् मल दूर कर दिया है, जो महीने और छह महीने तक अन्न जल नहीं लेते, जो आत्म-चिन्तन और आत्म-शोधनमें ही लवलीन रहते हैं, वन ही जिनका घर है और जो सदैव शुद्ध और प्रासुक आहार लेते हैं।

और :

"आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो॥"

जिनकी आत्माके भीतर कभी भी किंचित् भी आर्त और रौद्र परिणाम उदित नहीं होते। जिनका चित्त सदैव मार्मिक और विशुद्ध भावोंसे भरा रहता है। जो सदैव ध्यान-मग्न होकर आत्माके निगूढ़ रहस्योंका साक्षात्कार करते रहते हैं और जो ध्यान, ध्याता और ध्येयके विकल्पको भूलकर अखण्ड और विशुद्ध आत्मामें अपनेको विलीन कर देते हैं।

इन विशेषताओंके अतिरिक्त भी एक अन्य विशेषता है और वह है :

"आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो॥"

जो अपार संसार-समुद्रसे स्वयं पार होते हैं और दूसरोंको भी पार पहुँचाते हैं। दौलतरामका अन्तस् इस प्रकारके श्री गुरु महाराजके मिलनकी उत्कट प्रतीक्षामें है और वह परोक्ष रूपमें ही इन श्री गुरु महाराजका विनीत वन्दन करता है।

उसकी उत्कट अभिलाषा है कि इस प्रकारके श्री गुरु महाराज कब मिलेंगे, जो मुझे भव-समुद्रसे पार कर दें—मुझे भव-बाधासे उन्मुक्त कर मुक्तिका मार्ग पकड़ा दें।

आजका संसार जब घोर पाशविकता और अनैतिकताकी तमसाच्छन्न राहसे गुजर रहा है, ऐसी स्थितिमें उसे इस प्रकारके निरीह, निर्मोही,

परोपकारी और अग्निगर्भ गुरुओं – उपदेष्टाओंकी नितान्त आवश्यकता है जो उनकी राहके दीपक बन सकें और उसके स्थिर आलोकसे दिखला सकें कि उनका सत्य मार्ग क्या है जिसपर चलना ही उनका कर्त्तव्य है तथा जिसपर चलकर ही वह अपने और दूसरोंके जीवनको सम्पूर्णताकी ओर ले जा सकते हैं – आत्म-कल्याण और पर-कल्याण कर सकते हैं। पर सद्‌गुरुओंका लाभ भी सरल नहीं है। उसके लिए भी तीव्र संकल्प शक्ति-शाली और उनके पवित्र आदर्शको जीवनमें उतारनेके उत्कट अभिलाषी चाहिए, जिनके प्रत्येक श्वास-प्रश्वाससे यह भावना ध्वनित होती रहती हो कि :

"कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।"

■

तोहि समझायौ सौ-सौ बार

मानव अधर्मकी ओर जिस त्वरा और सरलतासे चल पड़ता है धर्मके पथपर चलनेमें उसे उतनी ही देर तथा कठिनाईका अनुभव होता है। वह जिस प्रकार धर्म-पथपर चलकर बार-बार फिसलता है, पापके पथपर चल-कर उसे एक बार भी गिरनेका अवसर प्राप्त नहीं होता। पापके पथपर वह उसी वेगसे अग्रसर होता है, जिस प्रकार गिरिके उत्तुङ्ग शिखरसे गिरता हुआ निर्झर भूतलकी ओर बढ़ता है। परन्तु धर्मके पथपर चलना उसे इस प्रकार कठिन प्रतीत होता है, जैसे हिमालयकी भयंकर चढ़ाई की जा रही हो।

कलाकार पण्डित दौलतरामकी आत्मा भी इसी कोटिकी है। उसे धर्म-मार्गपर चलानेके लिए सैकड़ों बार प्रयत्न किये जाते हैं फिर भी वह उसपर स्थिर नहीं रह पाती है। वह बार-बार फिसलती है और पाप-पथकी अपावन धारामें बह जाती है। कलाकारका मन अपनी आत्माकी इस प्रवृत्तिपर अत्यन्त खीजा हुआ है। वह एक बार फिर अपने मधुर संगीतके द्वारा इस आत्माको सम्बोधता है :

"जिया तोहि समझायौ सौ-सौ बार।

देख सुगुरु की पर-हित में रति हित-उपदेश सुनायो सौ-सौ बार।"

हे आत्मन्, तुझे सैकड़ों बार तो समझाया। हाँ, सैकड़ों बार—हितो-पदेशी गुरुओंके कल्याणकारी उपदेशोंको भी तो अनेक बार सुनाया। पर तूने उनका क्या उपयोग किया ?

आत्मन्, सोच तो :

"विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनसों लपटायो ।
स्वपद बिसार रच्यो पर पद में, मदरत ज्यों बौरायो ॥"

तूने विषय-भोगोंका सेवन करके कितना दुःख उठाया ! परन्तु, इसपर भी क्या तू इन भोगोंसे ज़रा भी उदासीन और विरक्त हुआ ? आत्मन्, तू फिर भी उन्हीं विषयोंके उपभोगमें लवलीन हो गया। इस प्रकार तू अपने आत्म-स्वरूपको भूलकर पर-पदार्थोंमें इतना अनुराग-शील और तन्मय बना कि जिस प्रकार कोई मदिरा पीकर अपनी सुध-बुध खो बैठता है।

और आत्मन्, तू यह भी ध्यानमें नहीं रख सका कि :

"तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो ।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो ॥"

आत्मन्, तन और धन–ये दोनों ही तेरे 'स्वजन' तेरी आत्मासे निकट सम्बन्ध रखनेवाले नहीं हैं। शरीर और धन विनश्वर हैं और तेरे आत्मीय गुणोंके साथ इनका कोई मेल नहीं है। फिर आत्मन्, तू इन अनात्मीय पदार्थोंसे व्यर्थका स्नेह क्यों करता है ? तुझे जो इनमें आत्मीय बुद्धि हो रही है, यह तेरा महान् भ्रम है। अरे, आत्मन् ! छोड़ इस भ्रमको। उस समता-सुधाका आकण्ठ पान कर जिसे पीनेकी सज्जन सदैव कामना किया करते हैं।

कलाकारका मानव अपनी आत्माको अन्तिम चेतावनी देता है। वह कहता है :

"अबहूँ समुझि कठिन यह नरभव, जिनवृष बिना गमायो ।
ते विलखैं मनि डार उदधि में, 'दौलत' को पछतायो ॥"

आत्मन्, अब भी मेरी सीख मान ले। यदि अब भी तू वीतराग–जैनधर्मकी शरणमें नहीं आया, यदि अब भी तू सन्मार्गपर नहीं आया

और यों ही जीवन-चक्र चलाता रहा तो याद रख — यह नर-तन तुझे फिर कभी मिलनेका नहीं। मनुष्यका शरीर बड़ी कठिनाईसे मिलता है। उसके लिए अनेक पुण्य कार्य अपेक्षित रहते हैं और यह पुण्य भव पाकर भी तू यदि इसका कुछ सदुपयोग न कर सका तो पुनः इसकी प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव रहेगी जैसे समुद्रमें फेंके गये मणिकी। इसलिए जिस प्रकार कोई समुद्रमें अमूल्य मणि फेंककर आजीवन बिलखता रहता है, उसी प्रकार तू भी अपना नर-तन व्यर्थ बिताकर जन्म-जन्मान्तरके लिए दुःखी मत बन।

आत्मन्, तुझे सैकड़ों बार तो समझाया। हाँ, सैकड़ों बार।

"तोहि समझायौ सौ-सौ बार, जिया तोहि समझायौ सौ-सौ बार॥"

■

भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई

संसारके मानवके लिए नींद बड़ी ही प्रिय वस्तु है। मनुष्य क्या, प्रत्येक प्राणी नींदमें अपनेको अधिकतर सुखी समझता है। नींदके समय मानव, मानसिक विकल्प और शारीरिक क्रिया-कलापसे उन्मुक्त रहता है और चाहता है कि मैं चिरकाल तक इसी तरह पैर पसारे आरामसे सोता रहूँ और कदाचित् इस मनुष्यको पेट-पूर्तिकी चिन्ता चिन्तित न करे तो वह अपना सम्पूर्ण जीवन निद्राके अंकमें सोता हुआ ही बिता दे। मानवकी यह प्रवृत्ति उसकी उत्कट अबोधता और जड़ताकी सूचक है। उसने नींदमें ही अपने जीवनका चरम सुख सन्निहित मान रखा है। जान पड़ता है जैसे उसे नींदकी तृष्णा और उसके भयंकर विकल्पोंका आभास ही न हो।

यह तो साधारण नींदकी बात है, परन्तु भ्रम-नींद इससे भी दारुण है। भ्रम-नींद अज्ञानता, विवशता और दुःखोंकी प्रतीक है और इस नींदमें पड़कर मानवको कितनी भूल-भटक करनी पड़ती है; यह बात प्रत्येक मानवको सहज ही समझमें नहीं आ सकती है। साधारण नींदसे तो मनुष्य सरलतासे जग जाता है, पर भ्रम-नींदमें निमग्न मानवको जगाना अत्यन्त कठिन है। पहलेको दो-चार बार हिलाने-डुलानेसे ही चैतन्य आ जाता है, पर दूसरेको चैतन्य करनेमें बरसोंका समय बीत जाता है। पहलेको निद्रित और अर्द्धनिद्रित व्यक्ति भी जगा सकता है और अचेतन पदार्थका आघात भी उसकी निद्रा भंग कर सकता है, परन्तु भ्रम-नींदमें निमग्न मानवके लिए यह सामग्री कुछ भी सहायक नहीं होती। उसे जगानेके लिए किसी ऐसे सचेतनका योग ही कारगर हो सकता है, जिसकी आत्म-चेतना स्वयं

जाग्रत् और प्रतिबुद्ध हो।

कलाकार पं० दौलतराम आज भ्रम-नींदमें पड़े हुए मानवको जागरण-का सन्देश सुना रहे हैं। वे कहते हैं—मानव, तुम अब भी अपनी भ्रम-नींद नहीं छोड़ रहे हो ! देखते नहीं, तुम्हें सोते-सोते कितना समय बीत गया ! तुम अब भी इस नींदमें ही सुख मान रहे हो ? इस बीच जो तुम्हें घाटा उठाना पड़ा है, उस ओर भी तो ज़रा ध्यान दो।

कलाकारका संगीतमय जागरण-सन्देश सुनिए :

"हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई॥
मूरख अघकर्म कहा, भेद नहिं मर्म लहा।
लागै दुखज्वालाकी न देह कै तताई॥"

अरे मानव, तुम भ्रम-नींद क्यों नहीं छोड़ते ? यह तो दुःख देनेवाली है, और तुम्हें मालूम नहीं, चिरकालसे यह नींद लेते-लेते तुम्हारा कितना घाटा हुआ है !

मूर्ख मानव पाप-कर्म और पुण्य-कर्ममें न कोई भेद कर पाता है और न उसका मर्म ही उसकी समझमें आता है। परिणाम यह होता है कि इस अबोध मानवकी पाप-कर्मकी ओर सदैव प्रवृत्ति बनी रहती है। और जब ये ही कर्म उदयमें आकर उसे दुःख देते हैं और वह इन दुःखोंकी ज्वाला-में झुलसता है तो इसे महान् कष्ट होता है, इसपर भी इसकी भ्रम-नींद नहीं टूटती। कलाकार कहते हैं : रे मानव, इन दुःखोंकी ज्वालासे क्या तेरे शरीरमें सन्ताप नहीं होता, जो तू ज़रा भी अपनी निद्रा भंग नहीं कर रहा है ?

कलाकारका भ्रम-निद्रा भंग करनेका अन्य प्रकार भी देखिए :

"जम के रव बाजते, सुभैरव अति गाजते।
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई॥"

यमराजके भयंकर बाजे बज रहे हैं। अनेक मनुष्य रोज-रोज मृत्युके मुखमें चले जा रहे हैं। अरे भाई, यह समाचार क्या तुझे सुनाई नहीं दे रहे हैं? जब तुम प्रतिदिन संसारकी अनित्यता, अशरणता, अशुभता और दुःखशीलताके अनेकों उदाहरण देखते हो तो तुम्हें अब भी सावधान हो जाना चाहिए।

कलाकार इसके आगे कहते हैं:

"पर को अपनाय आप-रूपको भुलाय हाय।
करन-विषय-दारु जार, चाह-दौं बढ़ाई॥"

अरे मानव, तुमने अपना आत्म-रूप भुलाकर पर-रूपसे नाता जोड़ लिया और इतना ही नहीं, तुमने इन्द्रिय-विषयोंका ईंधन जलाकर चाहकी अग्निको बेहद बढ़ा लिया। इतनेपर भी तुम अपनेको सुखी समझ रहे हो?

कलाकार अन्तमें कहते हैं:

"अब सुन जिन-वानि, रागद्वेष को जघान।
मोक्षरूप निज पिछान, 'दौल' भज विरागताई॥"

मानव, अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि यदि तुम पूर्ण सुखी होना चाहते हो तो जिन्होंने राग और द्वेषको जीत लिया है उन महान् आत्मा जिनका उपदेश सुनो और अपने भीतरकी कलुषित राग-द्वेषकी कालिमाको स्वच्छ कर डालो। तुम अपनी आत्माके स्वरूपको मोक्षमय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय — समझो तथा वीतरागताकी ओर ही अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति करो। मानव, यह प्रवृत्ति ही तुम्हारी भ्रम-नींद दूर कर आत्माको चिर-जाग्रत् और प्रतिबुद्ध बना देगी।

मानव प्रतिदिन अपने आर्थिक घाटा और मुनाफ़ापर विचार करता है। घाटा होनेपर उसे दुःख होता है और मुनाफ़ा होनेपर हर्ष। पर वस्तुतः यह आर्थिक मुनाफ़ा भी घाटा ही है और इस प्रकारका घाटा है, जिसपर कोई भी चैतन्यशील मानव हर्ष नहीं कर सकता। लेकिन यह

बात सबकी समझमें नहीं आ सकती। इसे यथार्थमें वे ही समझ सकते हैं जो भ्रम-नींदसे जाग्रत् हो चुके हैं। जो भ्रम-नींदमें निमग्न हैं उनकी समझमें यह बात बिलकुल नहीं आ सकती और ऐसे व्यक्तियोंको ही कलाकार पण्डित दौलतरामका यह जागरण-सन्देश सुनानेकी आवश्यकता है कि :

"हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई।"

■

सुधि लीजौ जी म्हारी

मनुष्यके ऊपर जब कोई आपत्ति आती है और वह उसे तकलीफ़ देने लगती है तो वह उसे दूर करना चाहता है और उसके लिए यत्न भी करता है। लेकिन जब वह अपने यत्नमें सफल नहीं होता है और आपत्ति-का पहाड़ उसे एकदम विकल कर देता है तब ऐसी स्थितिमें वह अपनेसे किसी अधिकतर समर्थकी शरणमें जाता है और उससे अपनी आपत्ति दूर करनेकी प्रार्थना करता है। उसे यथेष्ट सहायता मिलती है; परन्तु जब मानव देखता है कि प्रस्तुत साहाय्यके मिलनेपर भी वह संकट-मुक्त नहीं हुआ है तो वह अधिकतम समर्थका सहारा लेता है। उसे अपनी समस्त व्यथा-कथा सुनाता है और अपनेको इस उपस्थित हुए असीम संकटसे उन्मुक्त करनेके लिए बड़ी नम्रता और विनयके साथ उसकी सेवामें निवेदन करता है। इतना ही नहीं; वह उसके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा भी निवेदित करता है। वह कहता है: "भगवन्, मेरे ऊपर इस प्रकारका महान् संकट आ पड़ा है। मैं अनेक समर्थ व्यक्तियोंकी शरणमें हो आया, परन्तु उनसे मेरा संकट दूर नहीं हो सका। कोई भी इस प्रकारका नहीं मिला जिसने अपनी सहृदयताके साथ समर्थ उदारवृत्तिका उपयोग करके मेरे संकटको दूर करनेका यत्न किया हो। आपमें सहृदयता और समर्थता सम्पूर्ण रूपमें विद्यमान है और मेरी यह दृढ़ श्रद्धा है कि आपका सहारा मुझे अवश्य ही संकट-मुक्त कर देगा।"

समर्थ पुरुषकी समर्थता और सहृदयता तथा प्रार्थीकी इस प्रकारकी अविचल निष्ठाका फल होता है कि उसे अपने प्रयत्नोंमें सफलता मिलती

है, उसके संकट दूर हो जाते हैं और वह सुखी हो जाता है। यह तो मानव-की साधारण संकटापन्न परिस्थिति, उससे छुटकारा पानेका प्रयास और तदनुसारी परिणामकी बात है; परन्तु कलाकार पण्डित दौलतराम यहाँ एक इस प्रकारके मानवका चित्रांकन कर रहे हैं जो भव-बाधासे दुःखी होकर भगवान् जिनेन्द्रकी शरणमें पहुँचा है और अपने दुःखमुक्त होनेका निवेदन कर रहा है। वह कहता है : "भगवन् ! मैंने अनादिकालसे लेकर जो आज तक कष्ट उठाये हैं और वर्तमानमें उठा रहा हूँ, वे आपसे छिपे नहीं हैं। मैं इन दुःखोंसे बेचैन होकर चिरकालसे इस यत्नमें भटकता रहा कि कोई समर्थ देव मुझे इन दुःखोंसे मुक्ति दिला सकेगा। मैंने संसारके समस्त देव-स्थान छान डाले, उनकी शरणमें हो आया, परन्तु मेरे कष्ट दूर नहीं हुए। राग-द्वेष, मोह, मुख्यतासे ये तीन ही मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहे हैं। भगवन्, मुझे तो ऐसा देव चाहिए था, जो राग, द्वेष और मोहसे निर्लिप्त हो। परन्तु वश-भर यत्न करनेपर भी मुझे इस प्रकार कोई अन्य सुपथ-प्रदर्शक देव नहीं मिला फलतः राग, द्वेष और मोहकी ज्वालाएँ आज भी मुझे उसी वेगसे जला रही हैं। आज मेरा भाग्योदय है कि आप-जैसे वीतरागी और निर्मोहीकी छत्रछायामें आनेका मुझे सुअवसर मिला है। भगवन्, आशा है, आप मेरे लक्ष्य-शून्य जीवन और दारुण कष्टोंपर ध्यान देंगे तथा आपका अतिशय पवित्र आदर्श अवश्य ही मेरे जीवनमें सुख और शान्तिका संचार करेगा।

सुनिए, कविका स्वर्गीय संगीत किस प्रकार एक भक्तकी हृत्तन्त्रीके तरल तारोंसे झंकृत होकर दिगन्तमें अनन्त शान्ति बरसा रहा है :

"सुधि लीजौ जी म्हारी।
मोहि भव-दुख-दुखिया जान के, सुधि लीजौ जी म्हारी ॥
तीन-लोक-स्वामी नामो तुम, त्रिभुवन के दुखहारी।
गनधरादि तुव सरन लई लख, लीनी सरन तिहारी ॥"

भगवन्, हमारी भी सुध लीजिए। हम संसारके दुःखोंसे एकदम

दुःखी हो रहे हैं। भगवन्, आप तीनों लोकके जीवोंके दुःख दूर करनेमें समर्थ हैं। गणधर-जैसे ज्ञानी जन भी आपकी शरण लेकर आत्म-कल्याण करते हैं तब हम-जैसे अज्ञजन तो आपका पवित्र आश्रय लेकर अवश्य ही आत्म-हित-साधन कर सकेंगे, यह ध्यानमें रखकर ही हम आपकी शरणमें आये हैं।

सुनिए, भक्त अन्तस्‌में कितनी करुण अनुभूतिको छिपाये भगवान्‌के प्रति अपनी दुःख-गाथा निवेदन कर रहा है :

"जो विधि अरी करी हमरी गति, सो तुम जानत सारी।
याद किये दुख होय हिए ज्यों, लागत कोटि कटारी॥"

भगवन्, कर्मशत्रुओंने अबतक जो हमारी दुर्गति की है, वह आपसे किंचित् भी छिपी नहीं है। उसे आप खूब जानते हैं और जब कभी उस दुर्गतिकी मुझे याद आती है तो इतना असीम दुःख होता है जैसे इस समय भी हृदयमें कोटि-कोटि कटारें भोंकी जा रही हों

"लब्धि अपर्यापत निगोद में, एक उसास मंझारी
जन-मन-मरन नवदुगुन विथा की कथा न जात उचारी॥"

भगवन्, लब्धि-अपर्याप्त अवस्थामें निगोदकी वह व्यथा आपसे ज़रा भी नहीं छिपी है, जहाँ हमने एक ही श्वासमें अठारह बार जन्म और मृत्युका आलिंगन किया। हम अपनी इस कथाकी कहानी आपको क्या सुनायें? फिर, सामर्थ्य भी तो इतना नहीं कि उसे ज्योंकी-त्यों पूरी सुना सकें। और

"भू-जल-ज्वलन पवन प्रत्येक तरु विकलत्रय तन धारी।
पंचेन्द्री पशु नारक नर सुर विपति भरी भयकारी॥"

भगवन्, अनादिकालसे संसार-परिभ्रमण करते हुए ऐसी एक भी पर्याय शेष नहीं है, जिसमें हमने आत्माको जन्म और मृत्युके बन्धनमें न बाँधा हो। हमने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिका शरीर लिया और वहाँ सिर्फ़ एक स्पर्शन इन्द्रियसे प्राप्त सुविधा-असुविधाके

द्वन्द्वमें जीवनके अगनित क्षण बिताने पड़े। अनन्त बार लट, पिपीलिका, भौंरा, बिच्छू और बर्र आदिकी पर्यायमें जन्म लेना पड़ा और अनन्त बार पशु, नारक, नर और सुर-तनका समागम मिला। परन्तु ऐसी कोई पर्याय नहीं रही जिसमें घड़ी-भरके लिए सुख, शान्ति और साता मिली हो। इन पर्यायोंमें जिस असीम और भयावह वेदनाका अनुभव हुआ है, भगवन्, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं।

सुनिए, भक्त सुना रहा है कि वह क्यों अबतक भगवान्की शरणमें नहीं आ सका।

"मोह महारिपु नेक न सुखमय, हो न दई सुधि थारी।
सो दुठ मंद भयौ भागन तैं, पाए तुम जगतारी॥"

भगवन्, मोह बड़ा ही प्रबल शत्रु है और इसके कारण मनुष्य कभी भी सुखी नहीं हो सकता। आज तक जो हम आपकी शरणमें नहीं आ सके, इसका मुख्य कारण यह मोह ही है। भगवन्, यह हमारा सौभाग्य है कि अब यह दुष्ट मोह कुछ मन्द हुआ है और हम आप-जैसे जग-तारककी शरणमें आ पहुँचे हैं।

देखिए, भक्त भगवान्की विरागिता और निर्मोहितापर ध्यान रखते हुए भी किस प्रकार उनसे अपने संकटमोचनके लिए सहायताकी विनम्र प्रार्थना करता है :

"यदपि विरागि तदपि तुम शिवमग, सहज प्रगट करतारी।
ज्यौं रवि-किरन सहज मगदर्शक, यह निमित्त अनिवारी।"

भगवन्, यद्यपि आप विरागी और निर्मोही हैं, आपमें राग और मोहका लेश भी नहीं है फलतः हमें आपसे अपने संकट-हरणके लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि बिना हमारे प्रति राग दरसाये आप संकट दूर करनेमें प्रवृत्त हो ही नहीं सकते। फिर भी भगवन्, हमारी श्रद्धा है कि हमारी यह प्रार्थना विफल न होगी। भगवन्, हम जानते हैं कि यद्यपि आप विरागी हैं, फिर भी आपके स्वरूपसे मोक्षमार्ग उसी सहजभावसे प्रकट हो

रहा है, जिस प्रकार सूर्यकी किरणें सहज रीतिसे मार्ग दिखलाती हैं। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी राग-भावके लोगोंको पथ-प्रदर्शन कराता है और उसके प्रकाशमें लोग अपना-अपना रास्ता चुनकर यथेष्ट स्थानपर सुविधाके साथ पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार भगवन्, आपका मोक्ष-मार्गका प्रदर्शन भी इसी भाँति बिना रागका है। आप किंचित् भी राग-भावसे प्रेरित होकर मोक्षमार्गका प्रतिपादन नहीं करते, परन्तु आपके मोक्षमार्गमय स्वरूपसे जिस सहज भावसे मोक्षमार्गका प्रकाश होता है, उस रास्ते चलकर अनादि-कालका भूला-भटका मानव भी अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाता है। हमारी संकट-हरणके निमित्त की गयी प्रार्थनाका यही आधार है। भगवन्, हमारी दृढ़ श्रद्धा है कि आपकी मोक्ष-मार्गमय छायाका लाभ हमें अनायास और अवश्य ही प्राप्त होगा।

देखिए, चिरकालसे दु:ख-दग्ध मानव किस प्रकार दृढ़ भावसे अपनी माँग उपस्थित कर रहा है :

"नाग छाग गज बाघ भील दुठ तारे, अधम उधारी।
शीश नवाय पुकारत अबके 'दौल' अधम की बारी॥"

भगवन्, आप तो अधमोंके उद्धारक हैं। नाग, छाग, हाथी, व्याघ्र और भील-जैसे पापियोंको आपने तार दिया है। अब इस अधमका नम्बर है, जो सिर झुकाकर बार-बार आपकी सेवामें पुकार कर रहा है।

भगवन्, हमारी भी सुध लीजिए। हम संसारके दु:खोंसे एकदम दु:खी हो रहे हैं।

"सुधि लीजौ जी म्हारी, मोहि भव-दुख-दुखिया जान के।"

■

मत राचौ धी-धारी

संसारमें भी मानवके मनको आकर्षित करनेवाली कम विभूति नहीं है। एक ओर उसे माता-पिता, सुता-सुत, भाई-बहन और बन्धु-बान्धवोंकी माया मुग्ध किये रहती है तो दूसरी ओर उसकी धन-सम्पत्ति और मान-मर्यादाके प्रलोभन भी उसके भोले मनको लुभाये रहते हैं। उसका मन मायाके इस सम्मोहन-मन्त्रसे इतना प्रभावित रहता है कि कदाचित् ही उसकी सुनिश्चित विचारधारामें एक विभिन्न जातिकी लहर आन्दोलित होने पाती है। उसके मनमें कदाचित् ही इस प्रकारका विकल्प उठता है कि संसारकी यह माया और विभूति नश्वर तथा असार है। वह कदाचित् ही यह सोच पाता है कि क्षण-क्षण मायाकी वेदीपर अपने महान् जीवनकी उद्देश्यहीन बलि क्यों करता जा रहा है? फल प्रत्यक्ष है। मानव, आज भी अपने गन्तव्य मार्गपर नहीं आ सका है और वह आज भी अपने अन्तस्में विराट् विषाद और हाहाकारको छिपाये भटक रहा है।

स्थिति अत्यन्त करुणाजनक है। किसी भी सहृदयका मन इस स्थिति-को देखते हुए स्पन्दित हुए बिना नहीं रह सकता। कलाकार पं० दौलत-रामका हृदय संसारी मानवकी इस दयनीय दशाका संवेदन कर करुणा-प्लावित हो उठा है। वह कहते हैं: अरे मानव, तू तो बड़ा विवेकी है। देखता नहीं, यह संसार केलेके तनेके समान असार है? फिर तू इसमें क्यों रम रहा है? इस मोह-बुद्धिको छोड़ और अपना आत्म-रूप पहचानकर मुक्तिके मार्गपर चल।

कविका अनुभूतिपूर्ण सम्बोधन सुनिए :

"मत राचौ धी-धारी ।
भव रंभ-थंभसम जान के मत राचौ धी-धारी ॥
इन्द्रजाल कौ ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी ।
चहुँगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी ॥"

अरे विद्वन्, तुम संसारमें मत रमो। यह तो केलेके तनेकी तरह असार है । विद्वन्, तुम संसारमें मत रमो ।

विद्वन्, क्या तुम्हें अबतक संसारका स्वरूप समझमें नहीं आया ? यह तो इन्द्रजाल-जैसा क्षण-नश्वर है । परन्तु इसकी विनश्वरता जो हमारे ध्यानमें नहीं आ पाती है, उसका एक कारण है; वह यह कि मोहरूपी महान् ठगने एक इस प्रकारका विभ्रमरूपी जाल फैला रखा है, जिसमें संसारके समस्त प्राणी फँसे हुए हैं और नारक, पशु, नर और सुर-गतियोंके असीम दुःखोंको उठा रहे हैं ।

देखिए, कवि पारिवारिक नातेकी अनित्यता और अस्थिरताका कितना स्पष्ट चित्र खींचता है :

"रामा मा, मा बामा, सुत पितु, सुता श्वसा अवतारी ।
को अचंभ जहाँ आप आप के पुत्रदशा विस्तारी ।।"

अरे विद्वन्, पारिवारिक नातेकी अस्थिरताकी भी कोई सीमा है ? कभी जो अपनी स्त्री थी वही मरकर माँ हो जाती है और माँ, स्त्री हो जाती है । पुत्र, पिता हो जाता है । पुत्री, बहन हो जाती है । इतना ही क्यों, कभी यह सचेतन स्वयं ही अपना पुत्र हो जाता है । फिर क्यों माता-पिता, सुता-सुत आदिमें अविचल ममत्व-भावना बाँधे हो और आत्म-रूप भूले हुए हो ?

कवि कहता है : विद्वन्, बतलाओ संसारमें ऐसी भी कोई पर्याय है जहाँ यह प्राणी अपनेको सुखी अनुभव करता हो ? फिर संसारमें रमनेका क्या कारण :

"घोर नरक दुख ओर न छोर न लेश न सुख विस्तारी ।
सुर नर प्रचुर विषय जुर जारे, को सुखिया संसारी ॥"

अरे विद्वन्, नरक पर्यायकी हालत तुमसे छिपी नहीं है । वहाँ जितने और जिस प्रकारके दुःख यह जीव अनुभव करता है, क्या उनका कोई ओर-छोर भी है ? क्या वहाँका देहधारी क्षण-भरके लिए भी अपनेको सुखी अनुभव करता है ? सुर और मनुष्यकी विषय-लिप्सा, आकुलता और अशान्तिसे भी तुम खूब परिचित हो । फिर तुम्हीं बताओ कि संसारमें कौन सचेतन सुखी है—निराकुल है, जिसकी मधुर सुख-कल्पना तुम्हें संसारमें रमनेके लिए लालायित कर रही है ?

देखिए, कविने संसारकी अनित्यताका कैसा मार्मिक चित्रांकन किया है:

"मंडल ह्वै आखंडल छिन में, नृप कृमि, सधन भिखारी ।
जा सुत-विरह मरी ह्वै बाघिनि, ता सुत देह विदारी ॥"

विद्वन्, संसारकी महान्से महान् ऐश्वर्य और विभूति कोई भी स्थिर रहनेवाली नहीं है । फिर क्यों इसके मोह-जालमें फँसा जाये ? देखते नहीं हो, इन्द्र-जैसा महान् ऐश्वर्य-सम्पन्न भी अपने अशुभ कर्मके कारण कुक्कुर हो जाता है और महान् विभूतिका स्वामी राजा एक क्षुद्र कीट-पतंग । धनकुबेरको भिखारी होते भी देर नहीं लगती है और विद्वन्, संसारके एक अत्यन्त स्वच्छ मधुर प्रेमका नग्न चित्र तो देखो कि जो माता जिस पुत्रके वियोगकी आर्तिमें मरकर बाघिनी होती है वही अपने उस पुत्रके शरीरके खण्ड-खण्ड कर डालती है ! कैसा बीभत्स है यह संसार-स्नेह !

कवि कहता है, मनुष्यके जीवनमें वह कोई अवस्था नहीं है जिसमें वह अपनेको सुखी समझ सके । कविकी अनुभूति सुनिए :

"शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी ।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी ॥"

मनुष्यको बाल्य अवस्थामें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका कोई विवेक नहीं हो पाता और तरुण अवस्थामें उसका अन्तस् कामाग्निसे झुलसता रहता है

तथा वृद्धावस्थामें इसका अंग-प्रत्यंग शिथिल हो जाता है – शक्ति क्षीण हो जाती है। विद्वन्, अब तुम्हीं बतलाओ वह कौन-सी अवस्था है, जो तुम्हें सुखी बना सकती है और संसारमें रमनेके लिए आकर्षित कर सकती है ?

कविका अन्तिम सुखद सुझाव सुनिए :

"यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मग चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी ॥"

विद्वन्, संसारके इस असार और नाशवान् स्वरूपको समझकर भव्य जीव तुरन्त ही मोक्ष-मार्गके पथिक हो जाते हैं। उन्हें फिर संसारका कोई भी आकर्षण अपनी ओर नहीं खींच पाता। इसलिए संसारके इस अस्थिर और अशुभ स्वरूपको हृदयंगम करते हुए तुम्हें इस संसारसे विरक्त ही होना चाहिए। विद्वन्, इतना ही नहीं, तुम संसारसे उदासीन बनकर जग-तारक जिनराजके मार्गपर चलो जिससे शीघ्र ही भव-बाधासे उन्मुक्त हो सको।

कलाकारकी निर्मल मति-तूलिकासे चित्रित और विविध भाव-रंगोंसे अनुरंजित यह सुन्दर संसार-चित्र किस भव्य सहृदयके मनमें आत्मानुभूति और विरागकी ज्योति प्रज्वलित नहीं करेगा ?

"मत राचौ धी-धारी।"

■

अज्ञानी, पाप-धतूरा न बोय

संसारमें इस प्रकारके अधिक मनुष्य मिलेंगे, जिन्हें पाप-कार्योंसे किसी प्रकारकी घृणा नहीं है। इसके विपरीत उन्हें पाप करते समय अद्भुत आनन्दका अनुभव होता है। वे हिंसा करेंगे तो उन्हें उसमें आनन्द आयेगा, झूठ बोलेंगे तो उसमें हर्षोत्फुल्ल रहेंगे, चोरी करेंगे तो उसे करते समय बड़े प्रसन्न होंगे, कुशील-प्रवृत्तिमें भी सन्तोषकी साँस लेंगे और परिग्रह-संचयमें भी आनन्दित रहेंगे। इस प्रकार पापकी प्रत्येक क्रियामें इन्हें आनन्द-ही आनन्द मिलता है।

प्राचीन महर्षियोंने ऐसे व्यक्तियोंका हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, अब्रह्मानन्दी और परिग्रहानन्दी नामसे उल्लेख किया है। यह वह स्थिति है जब मनुष्य पापको पाप नहीं समझता है और पाप करते समय उसे रस आने लगता है। इस प्रकारके व्यक्ति दो श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एक वे हैं जिन्हें पाप-पुण्यका कोई विवेक नहीं है और पाप-क्रियामें उन्हें रस आता है और दूसरे वे हैं जिन्हें पाप-पुण्यका विवेक है, फिर भी पाप-प्रवृत्तिका रस उन्हें पागल किये रहता है। दोनों ही अज्ञानी हैं। अन्तर इतना है कि एकको पाप-पुण्यका कोई विवेक नहीं और दूसरा पापको पाप समझकर भी अपनी तृषासे पापकी धारामें बहा जा रहा है। उन्हें अपने पतनकी पराकाष्ठाका कोई ध्यान नहीं। उन्हें पता ही नहीं कि इस पाप-बीजका वपन करके वे किस विष-वृक्षका अंकुरारोपण करने जा रहे हैं और उसके फलोंके रसास्वादसे उनकी कितनी भयंकर दुर्गति हो सकती है।

कविवर भूधरदास आज ऐसे ही अज्ञानी व्यक्तिको सचेत करना चाहते हैं। देखिए, वे क्या कहते हैं :

"अज्ञानी, पाप-धतूरा न बोय।
फल चाखन की बार भरै दृग, मरहै मूरख रोय॥"

अरे अज्ञानी, पापरूपी धतूरा न बो। रे मूढ़ मानव, पापरूपी धतूराको बोते समय तो तुझे कुछ नहीं होगा, परन्तु फल चखनेके समय तू फूट-फूट कर रोयेगा और जान तक खो देगा।

कवि आगे कहते हैं :

"किंचित् विषयनि के सुख कारण, दुर्लभ देह न खोय।
ऐसा अवसर फिर न मिलैगा, इस नींदड़ी न सोय।"

अरे अज्ञानी, क्या तुझे मालूम नहीं है कि यह पंचेन्द्रियसम्बन्धी वासनाएँ क्षणिक सुखकी कारण हैं। इनसे कदापि शाश्वत सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। फिर इन क्षणिक सुख देनेवाली विषय-वासनाओंके पीछे तू दुर्लभ मानव-पर्याय क्यों व्यर्थ खोये दे रहा है? रे मानव, तू यह खूब समझ ले कि इस मनुष्यपर्यायकी प्राप्तिका अवसर फिर तुझे कभी नहीं मिलनेवाला है। इसलिए छोड़ यह मोह-निद्रा और सजग होकर कर ले कुछ आत्म-हित-साधन।

मानवका कर्त्तव्य निर्देश करते हुए कवि कहते हैं :

"इस बिरियाँ में धर्म-कल्प-तरु, सींचत स्यानै लोय।
तू विष बोवन लागत तो सम, और अभागा होय॥"

अरे मूढ़, यह वह समय है जब सभी विवेकशील मानव धर्म-कल्पतरु-का सिंचन करते हैं और अपने अजरामर पदकी प्राप्तिके लिए दृढ़ताके साथ यत्नशील रहते हैं। और मानव, इस ही पुण्य-वेलामें तू विष-बीज बो रहा है! सोच, तुझ-जैसा अभागा भी कोई संसारमें होगा?

कवि अन्तमें बतलाते हैं कि मानव, तेरी समस्त यातनाएँ और उत्पीड़ाएँ पूर्व जन्ममें तेरे बोये गये बिष-बीजके ही परिणाम हैं और तू यह

समझ-बूझकर भी फिर विष-बीज ही बोये जा रहा है? कविकी बात सुनिए :

> "जे जग में दुखदायक बेरस, इस ही के फल सोय।
> यों मन 'भूधर' जानि कै भाई, फिर क्यों भोंदू होय ॥"

अरे अज्ञानी, संसारमें प्राणियोंकी दुःखद और रसहीन जितनी प्रवृत्तियाँ हैं वे सब इसी पापरूपी विष-बीजके परिणाम हैं। रे मानव, यह सब जान-कर भी तू क्यों अनजान रहा है ?

> "अज्ञानी, पाप-धतूरा न बोय ॥"

■

भगवन्त-भजन क्यों भूला रे !

मनुष्य जबतक उपलब्ध संसार-सुखकी सामग्रीके उपभोगमें तन्मय रहता है उसे भगवद्भक्तिका कुछ ध्यान ही नहीं रहता। कदाचित् रहता भी है तो जिस निष्ठासे वह अपनी वासना-पूरक प्रवृत्तियोंमें प्रवृत्त होता है, भगवद्भक्ति तो उस निष्ठासे कभी कर ही नहीं पाता। भगवद्भक्तिके लिए जिस विनम्रनिष्ठा, विवेक बुद्धि और सहज आत्मार्पण भावकी अपेक्षा होती है उसमें इनकी आंशिक जागृति भी दिखलाई नहीं देती। आज दुःखमय स्थिति ही संसारी मानवके लिए भगवद्भक्तिका अवलम्ब रह गयी है। जब उसके सिरपर आपत्तिके बादल टूटते हैं और वह दुःखी होकर किसी सहारेकी खोज करता है तो उसे लोक-मंगलमय भगवान्‌को शरणके सिवाय अन्य कुछ नहीं दिखता और वह अपने संकट-मोचनके लिए भगवद्भक्तिमें संलग्न हो जाता है। उसका विवेक जागृत होता है और वह सत्यनिष्ठासे अपनेको भगवान्‌के लिए सौंप देता है। इस सत्य-समर्पण और हृदयकी शुद्धिसे उसके मनमें शान्ति और आत्मानुभूतिकी ज्योति जागृत होती है और इस आत्मार्पणकी वेला तक वह अपनेको परम सुखशील समझता है, उसका दुःख दूर होता है।

परन्तु दुःखद प्रसंगोंके अवसरपर भगवान्‌को याद करना सच्ची भगवद्भक्ति नहीं है। इसमें स्वार्थकी गन्ध है, जब कि सत्य भगवद्भक्तिमें भगवान्‌के श्रेयोमय आदर्शको जीवनमें मूर्तमन्त करनेकी भावना प्रधान है। यह सामयिक नहीं, वरन् सार्वकालिक होती है।

कलाकार भूधरदास यहाँ अबोध मानवको इसी सद्भक्तिकी ओर प्रेरित

कर रहे हैं :

"भगवन्त-भजन क्यों भूला रे ।

यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि-बबूला रे ॥"

रे मानव, तूने भगवद्भजन क्यों भुला दिया ? मानव, यह संसार रात्रिका स्वप्न है । जिस प्रकार मनुष्य रातको स्वप्नमें महत् विभूति प्राप्त करके भी निद्रा-भंग होनेपर कुछ हस्तगत नहीं कर पाता है और यों ही हाथ मलता हुआ रह जाता है, उसी प्रकार संसारका यह दृश्यमान ऐश्वर्य भी क्षण-भरमें विलीन हो जानेवाला है । शरीर और धन-सम्पत्तिकी भी यही स्थिति है । यह भी जलके बुद्बुदकी तरह देखते-देखते अदृश्य हो जानेवाली हैं । इनमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसकी मायामें तेरी भगवद्भक्तिकी भूलको क्षम्य माना जा सके ।

कवि आगे कहता है :

"इस जीवन का कौन भरोसा,पावक में तृण-पूला रे ।

काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥"

अरे मानव, अपने यौवनके मदमें भगवान्को भुला देना श्रेयस्कर नहीं है । तू शायद समझता है कि जब हमारा शाश्वत यौवन है और हमें इस अवस्थासे सम्बन्धित समस्त आनन्दोपभोगकी सामग्री प्राप्त है तो हमें भगवान्के भजनसे क्या अर्थ ? पर मूढ़ मानव, तू यह भी नहीं समझता कि क्या यह यौवन भी विश्वसनीय वस्तु है ? अरे, यह तो वह घासका पूरा है जो आगमें पड़ते ही स्वाहा हो जानेवाला है और जब यमराज हाथमें कुदाल लेकर सिरपर खड़ा हुआ है, तब भी तू अपनी मायामें मग्न हो रहा है ?

जो भगवद्भक्तिसे विमुख हैं, कवि उन्हें कैसी खरी बात सुना रहे हैं। सुनिए :

"स्वारथ साधै पाँच-पाँव तू, परमारथ कौं लूरा रे ।

कहु कैसे सुख पैहै प्राणी, काम करै दुखमूला रे ।"

अरे मानव, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए तो तू सदैव पाँच क़दम आगे रहता है और परामार्थके लिए लूला बन जाता है। कैसी विडम्बना है तेरी ? जब तू काम ही ऐसे करता है जिनसे तुझे दुःख मिले तो तुझे सुख कैसे मिल सकता है ?

कवि अन्तमें कहते हैं :

"मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध बसूला रे।
भज श्रीराजमतीवर 'भूधर' दो दुरमति सिर धूला रे॥"

रे मानव, मोह-पिशाचने तुझे छल लिया है और तेरी बुद्धि कुण्ठित हो चुकी है—तुझे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका कोई विवेक नहीं रहा है। तू अपने कन्धेपर बसूला रखकर अपने ही विवेकको छील रहा है। अरे, अब तू भगवान् नेमिनाथकी शरणमें जा और अपनी मिथ्या-बुद्धिको तिलांजलि दे।

"भगवन्त-भजन क्यों भूला रे।"

■

गरब नहिं कीजै रे

मनुष्यकी अपनी विविध वृत्तियोंमें अहंभाव एक अपना निराला ही स्थान रखता है। यदि उसे ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऐश्वर्य, साधना और शरीरमें-से किसी एकका भी उत्कर्ष प्राप्त रहता है, तो उसके मन-में उस उत्कर्षका एक गर्व रहता है। उसके व्यामोहमें वह अपनेको सर्वोच्च समझता है और दूसरोंको हीन और घृणाकी दृष्टिसे देखता है। वह उस उत्कर्षके आकर्षणमें इतना चकचौंध जाता है कि उसकी चल दृष्टिमें संसार ही उड़ता दिखलाई देने लगता है। वह इतना आत्म-विस्मृत हो जाता है कि उसे उस आकर्षणकी अनित्यता और असारताका भान ही नहीं हो पाता।

कलाकार भूधरदासके मनपर अहंकारियोंकी इन गर्वीली प्रवृत्तियोंने खूब प्रभाव डाला था। उन्हें इनके अहंभावके रूपकी यथार्थ पहचान भी थी। देखिए, निम्नलिखित पदमें उन्होंने अहंकारियोंको कैसी खरी फटकार लगायी है :

"गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।
झूठी काया, झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे ॥"

मूर्ख मानव, तू अभिमान न कर ! शरीरका अहंकार और ऐश्वर्यका गर्व बिलकुल झूठा है। जिस प्रकार छायाका रूप सुन्दर होकर भी वह झूठा है – कभी भी थिर रहनेवाला नहीं है, उसी प्रकार ऐश्वर्य भी चिर-संगी नहीं हैं।

कवि आगे कहते हैं :

,,कै छिन साँझ सुहागरु जोवन, कै दिन जग में जीजै रे।"

अरे मूर्ख, यह तेरा सौभाग्य और यौवन कितने क्षणों और सन्ध्याओं तक रहनेवाला है ? और तू भी कितने दिन तक संसारमें जीवित रहेगा ?

कविकी चेतावनी सुनिए :

"वेगा चेत विलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै तिथि कीजै रे।"

रे मानव, जब जीवन, यौवन और सौभाग्य कुछ दिनों तक ही स्थिर रहनेवाला है तो तू इनके गर्वमें चूर होकर क्यों कर्त्तव्य भुला रहा है ? अरे, अब आलस्य छोड़ दे और तुरन्त ही सावधान हो जा। तू कर्त्तव्य पालनमें जितनी देर करेगा, तेरा संसार उतना ही बढ़ता जायेगा और वर्तमान आयु हीन होती जायेगी।

देखिए, कवि किस त्वराके साथ कर्त्तव्य-पालनकी ओर मानवको संकेत कर रहे हैं। वे कहते हैं :

"भूधर पल-पल हो है भारी, ज्यों-ज्यों कमरी भीजै रे।"

रे मानव, जिस प्रकार कम्बल ज्यों-ज्यों भींगता जाता है प्रत्येक क्षण उत्तरोत्तर रूपसे भारी होता जाता है, उसी प्रकार तुम अपने कर्त्तव्य-पालनमें जितना ही विलम्ब करोगे तुम्हारे कर्मोंका बोझ प्रत्येक क्षण उतना ही दुर्वह होता जायेगा। इसलिए तू अब इस क्षणसे ही कर्त्तव्यनिष्ठ बन जा और एक पलकी भी देर न कर।

"गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार"

■

अन्तर उज्जल करना रे भाई !

प्रदर्शन करना मनुष्यकी जन्मजात प्रकृतिमें है। वह जिस कामको करता है उसकी मर्यादासे भी अधिक कीर्ति लेना चाहता है और इसके लिए वह अपने कार्यका इस प्रकार प्रदर्शन करता है, जिससे उसके कार्य-का अल्प रूप भी एक विराट् आकारमें जनताके सामने आये। जनता उसकी महत्ताको आँके और उसकी प्रतिष्ठाका विस्तार करे – उसके कार्यके मूलमें यही भावना काम करती है। उसके अपने कार्यका वास्तविक उद्देश्य क्या है और उसका स्वयंका अनुकरणीय आदर्श क्या है, वह इस बातपर जान-बूझकर भा विचार नहीं करना चाहता। यह तो मनुष्यकी लौकिक कार्य-प्रणालीकी बात है।

परन्तु, आश्चर्य तब होता है जब पारमार्थिक कार्यमें भी मनुष्य अपनी प्रदर्शन-वृत्ति जारी रखता है। वह व्रत, जप, तप, दान और नियम आदि पारमार्थिक विधि-विधानमें भी दिखावा करता है। परमार्थमें भी वह स्वार्थ-को ही आगे रखता है। वह इस परमार्थके पथपर भी विशुद्ध और स्वच्छ हृदयसे गति नहीं करता।

मनुष्यकी इस दूषित वृत्तिके प्रति कलाकार भूधरदासके मनमें घोर वितृष्णा है। कविकी उक्ति सुनिए :

"अन्तर उज्जल करना रे भाई !
कपट कृपान तजै नहिं तब लौं, करनी काज न सरना रे।"

अरे भाई, अपना मन स्वच्छ रखो। जबतक तुम कपटरूपी कृपाण नहीं छोड़ोगे – अपने मनसे मायाचारका बहिष्कार नहीं करोगे, तुम्हारा

कोई कार्य सफल नहीं हो सकता। सफलता माया और धोखेमें नहीं है। उसका मार्ग सत्याग्रह है।

और :

"जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयौ, यों ही पचि पचि मरना रे॥'

अरे भाई, यदि तुमने अपने अन्तस्‌से वासना और कषायोंका कीचड़ साफ़ नहीं किया—क्रोध, अहंकार, माया और लोभको बराबर पकड़े रहे तो तुम्हारा समस्त जप, तप, तीर्थ-गमन, यज्ञ, व्रताचरण और शास्त्रोपदेश एकदम निष्फल हैं और ऐसी स्थितिमें अन्य कोई मार्ग ही नहीं है कि तुम इन्हीं वासनाओं और कषायोंके दलदलमें फँसे रहो और मरते जाओ। इस संकटसे उन्मुक्त होनेका मार्ग तो अन्तःशुद्धि ही है।

देखिए, कवि बाह्य क्रियाओंकी सार्थकताका यथार्थ आधार बतलाते हैं :

"बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीयें पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥"

अरे भाई, तुम जितनी बाह्य क्रियाओंका आचरण करते हो और उच्चतम वेषोंको अंगीकार करते हो — इस सबकी सफलता तुम्हारी मानसिक शुद्धिपर अवलम्बित है। अपनी मनःशुद्धिके बलपर ही तुम अपना चरम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हो। यदि तुमने अपना मन साफ़ नहीं किया — उसमें स्वार्थ और वासनाओंको बराबर प्रश्रय दिये रहे तो विश्वास रखो, तुम्हारा बाह्य आचार और वेष-परिधान लोक-रंजनाके सिवाय और कुछ न होगा। महान् शास्त्रोंका भी यही मथितार्थ है।

कविकी अन्तिम सूक्ति सुनिए :

"कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे॥"

अरे भाई, जब तेरा हृदय काम आदिक वासनाओंसे रँगा हुआ है – बीभत्स है तो तू कितना ही भजन कर, उससे तेरा क्या लाभ ? कदाचित् तेरी धारणा हो कि मैं इन वासनाओंका पुजारी होकर भी भगवान्का पुजारी हो सकता हूँ तो याद रख, न तेरी यह सच्ची पूजा है और न इसका तुझे किंचित् भी सुफल मिल सकता है। ज़रा सोच, नीले वस्त्रपर कभी केसरिया रंग चढ़ा भी है?

"अन्तर उज्जल करना रे भाई !"

सुन ठगनी माया

संसारी मानवके लिए मोहिनी मायाका यथार्थ रूप समझना सरल नहीं है। मानव ज्यों ही इसके निकटतम सम्पर्कमें आता है, इसकी मनोहारिणी मूर्तिपर मुग्ध हो जाता है और इसकी सार-सम्भारमें ही अपने जीवनकी आहुति दे डालता है। मानवको मायाकी यह सहज मूर्ति इतनी भली मालूम देती है कि दोनोंके पारस्परिक मिलनके पहलेसे इस मंजुल मूर्तिका प्रकृतिगत विश्लेषण करना एकदम असम्भव हो जाता है। परिणाम होता है, दोनोंका गठबन्धन, मिलन और अन्तमें मानवीय जीवनकी सर्वस्व-आहुति।

परन्तु जिसे इस मायाकी मायामय स्थितिके विश्लेषण करनेका सुयोग प्राप्त हुआ उनसे इसकी यथार्थ स्थिति छिपी न रह सकी और अपने प्रथम मिलनके अवसरपर ही उन्होंने इसे झिड़का। मानवका मायाके साथ यह सम्पर्क उन्हें अत्यन्त अशोभन और अश्रेयस् प्रतीत हुआ और फलतः वे मानवकी जगह मायाकी ही भर्त्सना करने लगे।

कलाकार भूधरदासकी दृष्टिमें मायाका यह चित्र अपनी विविध विशेषताओंके साथ सम्पूर्ण रूपमें उतरा हुआ है। उनका मत है कि माया और मानवके गठबन्धनके बाद मानव जो अपनेको प्रचुर पीड़ा और परेशानियोंकी ज्वालाके बीच जलता हुआ पाता है उसका एक मात्र श्रेय मायाको ही है। मायाकी इस मायाविनी प्रकृतिके प्रति कलाकार अत्यन्त क्षुब्ध है। देखिए, आज वह मायाको कितनी कड़ी फटकार लगा रहा है :

"सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पिछताया।"

अरी ठगनी माया, सुन तो सही। तूने समस्त संसार ही ठग लिया। जिस मूर्खने तेरा थोड़ा भी विश्वास किया, उसे पश्चात्तापके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा। री माया, तेरे धोखेपनकी भी कोई सीमा है? मनुष्यने तेरा विश्वास किया और तूने उसे धोखा दिया? सोच तो उसे कितना पश्चात्ताप करना पड़ा होगा?

और :

"आपा तनक दिखाय बीज ज्यों मूढ़मती ललचाया।
करि मद अंध धर्म हर लीनौं अंत नरक पहुँचाया॥"

अरी माया, जिस प्रकार बिजली अपनी चमकसे मनुष्यकी आँखोंमें कौंध पैदा कर देती है और वह उसकी चमकपर मुग्ध हो जाता है, उसी प्रकार तूने भी अपना अत्यल्प स्वरूप दिखाकर मूढ मानवको ललचा लिया। इतना ही नहीं, तूने उसे मदान्ध बनाकर उसका धर्म तक अपहृत कर लिया और अन्तमें प्रतिक्षणव्यापी घोर यातनाएँ भोगनेके लिए उसे नरकमें ढकेल दिया! कितना भयंकर दुष्कर्म है तेरा!

कलाकारका मायाके प्रति भर्त्सनाका वेग अभी रुका हुआ नहीं है। देखिए, वह आगे किस प्रकार गतिशील रहता है :

"केते कंथ किये तैं कुलटा तौ भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया॥"

अरी माया, तू कुलटा है और कुलटासे भी बुरी है। पापिनी कुलटाका अग्राह्य रूप तो जल्दी समझमें आ जाता है; परन्तु तेरा तो रूप ही समझमें नहीं आ पाता कि वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य। अरी माया, सोच तो तूने कितनोंको अपना पति बनाया? और फिर भी तेरा मन नहीं भर पाया? तूने भला कभी किसीसे अपनी प्रीतिका निर्वाह भी किया है? धिक्कार है तुझे। तेरी सदैव यही नीति रही कि एकको फँसाना और दूसरेको छोड़ना!

कलाकार अन्तमें कहते हैं :

" 'भूधर' ठगत फिरत यह सब कौं भौंदूँ करि जग पाया ।
जो इस ठगनी कौं ठग बैठे मैं तिस को सिर नाया ।।"

यह ठगनी माया समस्त संसारको ठगती जा रही है और इसने सबके ऊपर अपनी जादूकी छड़ी फेरकर सम्पूर्ण विश्वको मूर्ख बना दिया है। कलाकार कहते हैं, इस ठगनी मायापर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी जिन्होंने इस ठगनी मायाको ठगा है उन्हें कलाकारका शिरसा वन्दन है। अरी ठगनी माया, सुन तो सही, तूने समस्त संसार ही ठग लिया।

"सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया ।"

■

होरी खेलौंगी

होली और वसन्तके प्रति जनतामें तीव्र अनुराग है यह वह समय है जब न शिशिरका तीखा तुषार रहता है और न ग्रीष्मकी भीषण दाहक ज्वालाएँ। प्रकृति अपने प्राचीन रूपको परिवर्तित करके प्रांजल नव-परिधान पहनती है और जड़-हृदयको विस्मय और आनन्दकी मधु-धारामें आस्नात कराती है। प्रत्येक सचेतन एक नव उमंग, नव आशा, नव स्फूर्ति और नवीन उत्साहसे स्पन्दित हो उठता है। बाँस और धातुकी पिचकारियोंमें केसरिया रंग भरकर अपने प्रियजनको उससे सराबोर कर देते हैं। नागरिकाएँ भी अपने पतियों और प्रियजनोंके साथ इसी उत्साहके साथ होली और वसन्तोत्सव मनाती हैं। प्रत्येक प्राणी एक अपूर्व उल्लास और विलाससे उत्फुल्ल दिखलाई देता है। यह बात संसारकी होलीकी है।

परन्तु आध्यात्मिक होली देखिए। आज सुमति सखी किस प्रकार अपना होलिकोत्सव मनानेमें रस ले रही है। उसके पतिदेव चिदानन्द बहुत दिन बाद घर आये हुए हैं। वह इस मिलनसे अत्यन्त प्रसन्न है। वह कहती है :

"होरी खेलौंगी, घर आये चिदानन्द कन्त ॥
शिशिर मिथ्यात गयो आई अब, कालकी लब्धि वसन्त ॥"

हम आज होली खेलेंगी; क्योंकि हमारे स्वामी चिदानन्द घर आये हुए हैं। अब मिथ्यात्वरूपी शिशिर चली गयी है और काल-लब्धिरूपी वसन्तका आगमन हो गया है।

सुमति अपनी सखियोंसे कह रही है कि हम कितने लम्बे समयसे प्रिय-

मिलनकी और उनके साथ होली खेलनेकी प्रतीक्षामें थीं :

"पिय सँग खेलन को हम सखियो, तरसीं काल अनन्त ।
भाग फिरे अब फाग रचानौं आयो विरह को अन्त ॥"

सखियो, हम लोग अपने प्रियतमके साथ होली खेलनेके लिए न जाने कितने दिनोंसे तरस रही थीं । आज हमारे सौभाग्य-सूर्यका उदय हुआ है जो हमारे चिर-विरहका अन्त हुआ और हम अपने प्रियतमके साथ होली खेलनेके लिए अपनेको तैयार पा रही हैं ।

सुमति अपने प्रियतमके साथ होली खेलनेकी पद्धति बतला रही है :

"सरधा गागर में रुचिरूपी केसर घोरि तुरन्त ।
आनँद नीर उमग पिचकारी, छोड़ो नीकी भन्त ॥"

सखियो, हम लोग तुरन्त ही श्रद्धा-गगरीमें रुचिरूपी केसर घोल दें, जिसमें आनन्द-नीर भरा हुआ हो और इस रंजित नीरको उमंग-पिचकारी-में भरकर खूब ही प्रियतमके ऊपर छोड़ें ।

देखिए, सुमति किस तन्मयतासे इस होलिकोत्सवके आनन्दकी अनुभूति ले रही है :

"आज वियोग कुमति सौतिनि के, मेरे हरष महन्त ।
'भूधर' धनि यह दिन दुर्लभ अति, सुमति सखी विहसन्त ॥"

आज कुमतिरूपी सौतका विछोह है और सुमतिके मनमें इसीलिए उल्लास और प्रसन्नताका पारावार हिलोरें ले रहा है। वह सोचती है: धन्य है आजका यह दिन और किस दीर्घ प्रतीक्षाके बाद मिला है यह दिन !

हम आज होली खेलेंगी; क्योंकि हमारे स्वामी चिदानन्द आज घर आये हुए हैं ।

"होरी खेलौंगी ।"

■

आया रे बुढ़ापा मानी

बुढ़ापा जीवनकी सबसे अधिक असहाय और दुःखद अवस्था है। इस अवस्थामें पहुँचकर मनुष्यकी इन्द्रियाँ निःशक्त हो जाती हैं, मन, वाणी और कर्ममें शिथिलता अनुभूत होने लगती है। उत्साह विलीन हो जाता है, स्फूर्ति कुण्ठित हो जाती हैं और जीवनका तेज हतप्रभ हो जाता है। जरा प्रत्येक अंग-प्रत्यंगपर अपना असर डालती है और उसे जीर्ण और निष्क्रिय बना देती है। यदि मनुष्य अपनी बाल्य और युवावस्थामें कर्त्तव्यके प्रति सावधान नहीं रहता है, तो इस अवस्थामें पहुँचकर कर्त्तव्य-निर्वाहकी सम्भावना प्रायः असम्भव ही रहती है। जीवनके यह वे क्षण हैं जिनमें भोली चेतना अतीत और भविष्यके विचार-संसारमें विचरण करती हुई पश्चात्तापमय विकल्पोंके ताने-बानेमें ही अपना शेष काल यापन कर देती है।

जीवनदर्शी जागरूक कलाकार समय-समयपर मानवीय चेतनाको उसके कर्त्तव्यके प्रति उद्‌बुद्ध करते रहते हैं और बतलाते रहते हैं—मानव, तू समयसे पहले ही सावधान रह। क्या इस जराजीर्ण अवस्थामें तू आत्म-हित करेगा ?

कलाकार यहाँ इस जराजीर्ण अवस्थाका चित्रांकन कर रहे हैं। देखिए, वे क्या कहते हैं :

"आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि बिसरानी।
श्रवन की शक्ति घटी, चाल चलै अटपटी।
देह लटी, भूख घटी, लोचन झरत पानी॥"

अरे मानी मानव, बुढ़ापा आ गया है और समस्त सुधि-बुधि बिसर गयी है ! श्रवणेन्द्रियकी शक्ति क्षीण हो गयी है—कानोंसे ठीक सुनाई नहीं पड़ता है और चलनेकी गति भी अटपटी हो गयी है—एक पैर कहीं पड़ता है तो दूसरा कहीं । शरीर शिराजालसे उभर पड़ा है—कृश हो गया है और पाचनशक्ति दुर्बल होनेसे भूख भी घट गयी है । इसके सिवाय नेत्रोंसे पानी भी बहने लगा है ।

बुढ़ापेका एक और सजीव चित्र देखिए :

"दाँतन की पंक्ति टूटी, हाड़न की संधि छूटी,
काया की नगरि लूटी, जात नहिं पहिचानी"

दाँतोंकी पंक्ति टूट गयी है और अस्थियोंकी सन्धि—जोड़ खुल गयी है । शरीरकी नगरी-माया लुट गयी है और व्यक्ति पहचानने तकमें नहीं आता है ।

एक दूसरा विरागपूर्ण चित्र देखिए :

"बालों ने वरन फेरा, रोग ने शरीर घेरा,
पुत्र हू न आवै नेरा; औरोंकी कहा कहानी ।"

सिरके बाल सफ़ेद हो गये हैं और शरीरको अनेक प्रकारके रोगोंने आ घेरा है । शरीरकी इतनी करुण और बीभत्स अवस्था हो गयी है कि औरकी तो बात ही दूर, पुत्र तक पासमें नहीं आता है ।

देखिए, कलाकर किस आत्मीयताके साथ अपनी कल्याणी कलाका मर्म खोल रहे हैं :

" 'भूधर' समुझि अब, स्वहित करैगो कब,
यह गति ह्वै है जब, तब पिछतैहै प्रानी ।"

कलाकार कहते हैं यह बुढ़ापेका यथार्थ चित्र है । पर समझमें नहीं आता कि यह मानव अपना हित कब करेगा ? यदि बाल्य और युवावस्थामें इसे आत्म-हित साधनका ख़याल नहीं तो इस बुढ़ापेमें, जब वह इस प्रकारसे

दु:खित और पराधीन, असहाय और निर्बल रहेगा तब कहाँतक स्वहित साधन कर सकता है ? उस समय पश्चात्तापकी ज्वालामें जलनेके सिवाय और इसकी क्या गति हो सकती है। उस समय वह अपने कर्मको हाथ लगाकर रोयेगा – हाय मैं कुछ नहीं कर सका ? अरे मानी, बुढ़ापा आ गया है और सम्पूर्ण सुधि-बुधि बिसर गयी है।

"आया रे बुढ़ापा मानी, सुधि-बुधि बिसरानी।"

जिनराज-चरन मन, मति बिसरै

बिरले लोग ही भक्तिकी ओर आकर्षित रहते हैं। किसी आदर्श-विशेषसे अनुरक्त होकर भगवान्‌के चरणोंमें आत्मार्पण करना सबके लिए सरल नहीं है। अपने आदर्शकी पूजाके लिए मनमें एक अनन्य श्रद्धा चाहिए और असामान्य निष्ठा। संसारी जन अपनी मायाकी ममतामें इतने आकण्ठ-मग्न रहते हैं कि भगवान्‌का आदर्श उन्हें लुभा ही नहीं पाता। फिर जिन-राजके आदर्श-वीतरागताके प्रति आकर्षित होना तो बहुत ही कठिन काम है। जबतक मनुष्यके मनको निराकुल, निर्विकारी और अनन्तद्रष्टा होनेकी भावनाएँ आन्दोलित नहीं करतीं, वह कैसे जिनभक्तिके पथका पथिक बन सकता है। पर यह इतनी गहरी अबोधता है कि मनुष्यका इस ओर ज़रा भी ध्यान नहीं जाता और वह अपने प्रवाहके थपेड़ोंसे आहत होकर भी उसमें बराबर बहता ही जाता है। विचलित होता है, परन्तु हृदयमें कुछ वेगवान् स्पन्दन नहीं होता जो इस धारासे दूर होकर किसी दूसरी दिशामें जानेकी ओर गति दे।

कलाकार इस मानवीय परिस्थितिसे पूर्ण परिचित हैं। उन्हें मालूम है कि इस अविराम गतिशील प्रवाहका वेग किस प्रकार मन्द हो सकता है। वे अपनी गन्तव्य दिशाकी ओर संकेत करते हैं और कहते हैं :

> **"जिनराज-चरन मन, मति बिसरै।**
> **को जानै किहिं बार काल की, धार अचानक आनि परै।**

रे मन, तू कभी भी जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंको मत भूल। रे मन, किसे मालूम है, कब काल गरजता हुआ आ पहुँचेगा और अचानक ही हमें

अपना ग्रास बना लेगा ।

"देखत दुख भजि जाहिं दशौं दिश, पूजत पातक-पुंज गिरै ।
इस संसार-सारसागर-सौं और न कोई पार करै ॥"

जिनराजके चरण सामान्य चरण नहीं हैं । उनके दर्शन मात्रसे समस्त दुःख दसों दिशाओंमें भाग जाते हैं और पूजा करनेसे समस्त पाप-समूह खिर जाते हैं । और कोई ऐसा देव नहीं है, जो प्राणियोंको इस संसार-सागरसे पार होनेका कोई हितकर मार्ग दिखला सके ।

और :

"इक चित ध्यावत वांछित पावत, आवत मंगल, विघन टरै ।
मोहनि धूल परी मांथै चिर, सिर नावत तत्काल झरै ॥"

भगवान्‌के चरणोंका तन्मयताके साथ ध्यान करनेसे जो शुभ उपयोग रहता है उससे मन-चिन्तित वस्तुकी प्राप्ति होती है, मंगल और आनन्दके प्रसंग आते हैं और समस्त विघ्न-बाधाएँ विलीन हो जाती हैं । इतना ही नहीं, मस्तकपर जो मोह-रज विद्यमान रहती है, वह भी भगवान्‌के चरणों-में सिर झुकाते ही तत्काल झर जाती है ।

देखिए, कलाकार किस स्पष्टताके साथ अपना आत्म-निवेदन कर रहे हैं । वे कहते हैं :

"तबलौं भजन सँवार सयानै, जबलौं कफ नहिं कंठ अरै ।
अगनि प्रवेश भयौ घर 'भूधर' खोदत कूप न काज सरै ॥"

अरे चतुर जन, जबतक कण्ठमें कफ नहीं अटकता है, बुढ़ापा आकर नहीं घेरता है, तबतक जिनराजकी भक्तिके लिए – उनके आदर्शको अपने जीवनमें मूर्तमन्त करनेके लिए तुझे कटिबद्ध रहना चाहिए । यह विश्वास रख, बुढ़ापेकी दयनीय दशामें इतना उत्साह और बल नहीं रहता है कि किसी एक नूतन और कठिन आदर्शको अपनी श्रद्धा, निष्ठा और व्यवहारका विषय बनाया जा सके । फिर कदाचित् इस ओर प्रवृत्ति की भी जाती है तो उससे लक्ष्यमें पूर्ण सफलता नहीं मिल पाती और इस अवस्थाकी यह

प्रवृत्ति प्रायः उसी प्रकारसे असफल रहती है जिस प्रकार किसीके घरमें आग लगनेपर वह कुआँ खोदकर उसे बुझानेका प्रयत्न करे। उस समय न कुआँ ही खुद पाता है, न आग ही बुझ पाती है और न चिर-संचित गृहस्थीकी सामग्री ही बच पाती है। यही हाल बुढ़ापेमें प्रारम्भ की गयी जिन-भक्तिका है। इस अवस्थामें असंस्कृत होनेसे न वह भक्तिकी साधना तक पहुँच पाता है, न उसे शाति और निराकुलता मिल पाती है और फलतः जीवन भी यों ही अन्धकारमें टटोलते-भटकते निकल जाता है। अतः मन, भक्ति और साधनाका अवसर कदापि हाथसे नहीं खोना चाहिए।

रे मन, तू कभी भी भगवान् जिनेन्द्रके चरणोंको न भूल। किसे मालूम है, काल कब गरजता हुआ आ पहुँचेगा और अचानक ही हमें अपना ग्रास बना लेगा।

"जिनराज-चरन मन, मति बिसरै

■

ते गुरु मेरे मन बसो

स्वामी समन्तभद्रने सच्चे गुरुका एक ही पद्यमें सम्पूर्ण शब्दचित्र चित्रित कर दिया है। जो पंचेन्द्रियके विषयोंकी आशा और उनकी अधीनतासे अतीत हो चुका हो, आरम्भ और परिग्रहसे मुक्त हो और जो सदैव ज्ञान, ध्यान तथा साधनमें निरत रहता हो वही सच्चा तपस्वी – गुरु है :

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥"

इसमें दो मत नहीं हो सकते – आत्माका वास्तविक कल्याण उसे निराकुल और निर्विकारी होनेमें है और आत्माको निराकुल तथा निर्विकारी बनानेके लिए विषयाशा और परिग्रहकी ममतासे उन्मुक्त होना आवश्यक है। इसके साथ ही एक ऐसा सुनिश्चित साधना-पथ चाहिए, जिसका अनुसरण करता हुआ मानव अपने लक्ष्यबिन्दुको प्राप्त कर सके। इस प्रकारके जन बहुत बिरले होते हैं, जो अपने साधना-पथपर चलनेके लिए अपने अन्तस्से ही प्रेरणा करते हैं और उसपर चलकर अपने उद्देश्यमें कृतकार्य होते हैं, परन्तु जनसाधारणको यह स्थिति नहीं है। उसे अपने साधना-पथको समझनेके लिए और उसपर ठीक-ठीक अग्रसर होनेके लिए ऐसे महात्माओंकी आवश्यकता होती है जिनके व्यक्तित्व और आदर्शसे उसे अद्भुत प्रेरणा प्राप्त होती है और गति-विधिका पूरा परिज्ञान भी।

आत्म-कल्याणकारी पथके निर्माणमें इन गुरुओंका – पथप्रदर्शकोंका ज़बरदस्त हाथ है। आज आत्म-हितैषी जनताका प्रतिनिधि कलाकार ऐसे ही साधकका अपने मनो-मन्दिरमें आह्वान कर रहा है। देखिए, इस कला-

कारने जो अपने साधकका शब्दचित्र खींचा है वह कितना कलापूर्ण सुन्दर, सुसंस्कृत और सजीव है :

> "ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि-जिहाज ।
> आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज ॥"

वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव रहें, जो जनताको संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए जहाज़के समान हैं और जो स्वयं संसारसे पार होते हैं तथा अन्य देहधारियोंको भी पार उतारते हैं। इसके अतिरिक्त जो बड़े भारी ऋषि हैं।

> "मोह महारिपु जीतिकैं, छाँड्यो सब घरबार ।
> होय दिगम्बर बन बसे, आतम शुद्ध विचार ॥"

जिन्होंने मोहरूपी महान् शत्रुको जीत करके समस्त गृह-परिग्रह छोड़ दिया है, जो दिगम्बर होकर वनवासी हो चुके हैं और जो सदा अपने शुद्ध विचारोंमें ही मग्न रहते हैं, वे गुरुदेव मेरें मनमें सदैव विद्यमान रहें।

> "रोग-उरग-बिल वपु गिन्यो, भोग भुजंग समान ।
> कदली तरु संसार है, त्यागों यह सब जान ॥"

जिन्होंने अपने शरीरको रोगरूपी साँपका बिल मानकर, भोगोंको सर्पतुल्य भयंकर समझकर और संसारको कदलीकी तरह निःसार समझकर सबसे अपनी ममत्व-बुद्धि तोड़कर नाता ही छोड़ दिया है, वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

> "रत्नत्रयनिधि उर धरैं, अरु निर्ग्रन्थ त्रिकाल ।
> मारचो काम-खवीस को, स्वामी परम दयाल ॥"

जो सम्यग्दर्शन – सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् आचाररूपी निधिको सदैव अपने हृदयमें रखते हैं, तीनों काल निर्ग्रन्थ रहते हैं, जिन्होंने काम-राक्षसका दर्प दलित कर दिया है और जो अत्यन्त दयालु हैं, वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"पंच महाव्रत आदरैं, पांचों समिति समेत।
तीन गुपति पालैं सदा, अजर अमर पद देत॥"

जो सम्पूर्ण रीतिसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह — इन पाँच महाव्रतोंका पालन करते हैं; किसी जीवको किसी प्रकारकी बाधा न हो इस दृष्टिसे चार हाथ आगेकी भूमि शोधकर अपना चरण बढ़ाते हैं; हित, मित और प्रिय वाणी बोलते हैं; छयालीस दोष और बत्तीस अन्तराय टालकर आहार लेते हैं, देख-भाल कर अपनी पीछी-कमण्डलु उठाते और रखते हैं और ज़मीनको देख-भाल कर ही मल-मूत्रकी बाधा दूर करते हैं और शरीरसे ममत्व छोड़कर आत्म-ध्यान करते हैं — इस प्रकार पाँच समितियोंका पालन करते हैं; मन, वाणी और कायकी प्रत्येक क्रियापर संयम रखते हैं और अजर-अमर पद-प्राप्तिके लिए जनताको सचेत रखते हैं, वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"धर्म धरैं दशलक्षणी, भावैं भावना सार।
सहैं परीषह बीस द्वै, चारित रतन भँडार॥"

जो दशलक्षण धर्मको अपने जीवनमें उतारते हैं, बारह भावनाओंका चिन्तन करते हैं, बाईस परीषहोंको सहन करते हैं और चरित्ररत्नके भण्डार हैं, वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"जेठ तपै रवि-आकरो, सूखै सरवर-नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर॥"

जो जेठकी तपती हुई दुपहरियोंमें, जब सूर्य अपने प्रखर आतपसे लहराते हुए सरोवरोंका पानी सुखा देता है, दिगम्बर-मुद्रामें पहाड़ोंकी चट्टानोंपर आतापन योग रमाते हैं और शरीरको झुलसा देते हैं, वे गुरुदेव सदैव मेरे मनमें विद्यमान रहें।

"पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरुतल निबसैं साहसी, बाजै झंझावार॥"

जो बरसातकी भयावह रातोंमें, जब मेह मूसलाधार बरसता है और शरीरको झकझोर देनेवाली बरसाती हवाएँ बहा करती हैं, साहसके साथ वृक्षोंके नीचे एकान्त ध्यान-मुद्रामें तन्मय रहते हैं, वे गुरुदेव हमारे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"शीत पड़ै कपि-मद गलै, दाहै सब बन राय।
ताल तरंगनि के तटै, ठाड़े ध्यान लगाय॥"

जो शीतकालमें, जब वानरोंका मद भी चूर हो जाता है और तुषार-पातसे सम्पूर्ण वनराजि झुलस जाती है, नदी और सरोवरोंके किनारे ध्यान लगाये खड़े रहते हैं, वे गुरुदेव हमारे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"इह विधि दुद्धर तप तपैं, तीनों काल मँझार।
लागे सहज सरूप मैं, तनसों ममत निवार॥"

इस प्रकार जो ग्रीष्म, वर्षा और शीतके समय कठोर तपस्या करते हैं और शरीरसे ममत्व तोड़कर अपने सहज स्वभावमें निमग्न रहते हैं, वे गुरुदेव हमारे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"पूरब भोग न चिन्तवैं, आगम वांछा नाहिं।
चहुँगति के दुखसों डरैं, सुरति लगी शिव माँहि॥"

जो कभी भी पुरातन भोगोंका चिन्तन नहीं करते हैं, आगामी भोगोंके अनुभवनका विचार तक नहीं करते, चारों गतियोंके दुःखसे डरते रहते हैं और अपने मनोभाव निरन्तर मोक्ष-मार्गकी ओर ही लगाये रहते हैं, वे गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"रंग-महल में पौढ़ते, कोमल सेज बिछाय।
ते पच्छिमनिशि भूमि में, सोवैं संवरि काय॥"

जो पहले कोमल शय्याएँ बिछाकर रंगमहलमें विलास-निद्रा लेते थे, वे ही अब केवल रातके पिछले पहरमें शरीरको संकोचकर भूमिपर स्वल्प निद्रा लेते हैं। इस प्रकारके गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

"गज चढ़ि चलते गरब सौं, सेना सजि चतुरंग।
निरखि-निरखि पग वे धरैं, पालैं करुणा अंग॥"

जो पूर्वकालमें चतुरंग सेना तैयार कराकर उसके साथ हाथीपर चढ़े-चढ़े गर्वके साथ चला करते थे, वे ही आज ज़मीनको शोध-शोधकर अपना चरण बढ़ाते हैं और प्राणियोंपर पूर्ण कृपाभाव रखते हैं। इस प्रकारके गुरुदेव मेरे मनमें सदैव विद्यमान रहें।

कलाकार अपने गुरुदेवका शब्दचित्र पूरा कर चुके। यहाँ अब वे अपनी भावना व्यक्त कर रहे हैं :

"वे गुरु चरण जहाँ धरैं, जग में तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढ़ौ, 'भूधर' माँगे येह॥"

कलाकार कहते हैं, इस प्रकारके गुरुदेव जहाँ अपने चरण रखते हैं, वस्तुतः संसारमें वे ही तीर्थ हैं। हमारी यही भावना और साध है कि हमारा मस्तक इस तीर्थरजसे सदा ही पवित्र रहे। वे गुरुदेव सदैव हमारे मनमें विद्यमान रहें।

"ते गुरु मेरे मन बसो॥"

■

देखो जी आदीश्वर स्वामी

साधनाके क्षेत्रमें ध्यानका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यानका आशय है– एकाग्र-चिन्तानिरोध। समस्त संकल्प-विकल्पोंको रोककर जो आत्म-स्थिरता है – विशुद्ध आत्म-भावमें निमग्न हो जाना है, वही ध्यान है। इस ध्यान-की चरम अवस्थामें ध्याता ध्यान, ध्येय और स्वयंके विकल्पसे भी अतीत हो जाता है, और विशुद्ध चैतन्य अनुभूतिके सिवाय वहाँ किसी भी प्रकारका राग-रोषसे सम्बन्ध रखनेवाला विकल्प शेष नहीं रह जाता है, ध्यानकी यही सम्पूर्णता है और यह ध्यान ही आत्म-मुक्तिका प्रधान साधन है। मनुष्यसे सिद्ध होनेका यही द्वार है। यह ध्यान मनुष्यको उस स्थितिमें पहुँचा देता है जहाँ उसकी मंजुल मूर्ति स्वर्गीय शान्ति और आनन्दसे आस्नात रहती है और दर्शकके मनपर एक इस प्रकारका प्रतिबिम्ब छोड़ती है कि वह इस मूर्तिके दर्शनके उत्तर क्षण ही अपनेको एक अनिर्वचनीय शान्ति और स्नेहकी धारामें डूबा हुआ पाता है।

कलाकार भगवान् आदिनाथकी इस ध्यान-मुद्रापर अत्यन्त मुग्ध हैं। वे इतने प्रसन्न हैं कि उनकी इस प्रसन्नताकी धारा अन्तस्में नहीं समा पा रही है और देखिए वह किस वेगके साथ उनके अन्तस्को पार कर फूट रही है :

> "देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है।
> कर ऊपर कर सुभग बिराजे, आसन थिर ठहराया है॥"

देखो, भगवान् आदिनाथ कितना सुन्दर ध्यान लगाये हुए हैं! अपने एक हाथके ऊपर दूसरे हाथको रखकर किस मनोहर ढंगसे अपने आसनपर

स्थिरताके साथ विराजमान हैं।

भगवान्‌की ध्यान-मुद्राका चित्र देखिए :

"जगतविभूति भूतिसम तज कर, निजानन्द पद ध्याया है।
सुरभित श्वासा, आशा-वासा नासादृष्टि सुहाया है॥"

भगवान्‌ने जगत्‌की विभूतिको भस्म-जैसी निःसार समझकर छोड़ दिया है। उन्हें संसारका प्रत्येक ऐश्वर्य और वैभव प्राप्त था, परन्तु अब उन्हें किसी भी वैभव और ऐश्वर्यसे राग नहीं है। अब वे अपने आत्म-चैतन्यकी आनन्दानुभूतिमें ही तन्मय हैं। उनकी श्वाससे सुगन्ध निकल रही है, वस्त्रके नामपर दिशाओंका आभोग है—सर्वथा दिगम्बर हैं और दृष्टि भी नासिकापर अटकी हुई है।

और :

"कंचन वरन चलै मन रंच न, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास पास अहि मोर मृगी हरि, जाति विरोध नशाया है॥"

भगवान्‌की देह कंचन-जैसी चमक रही है और मन अपने ध्येयसे ज़रा भी इधर-उधर चलित नहीं हो रहा है। मालूम देता है जैसे यह सुमेरुकी तरह अडोल हों। आश्चर्य है कि भगवान्‌की इस सहज शान्तिके प्रभावसे साँप-मोर और सिंह-हिरन-जैसे जन्तु अपना जाति-वैर भूलकर भगवान्‌की शरणमें बैठे हुए हैं और आनन्द-सुधाका पान कर रहे हैं!

ध्यान-मुद्राका एक और रूप देखिए :

"शुद्धुपयोग हुताशन में जिन, वसुविधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहै, मानों धुआँ उड़ाया है॥"

भगवान्‌ने शुद्ध उपयोग—विशुद्ध चैतन्यानुभूतिरूपी अग्निमें आठ कर्म-रूपी समिध्-सामग्रीका होम कर दिया है और उनकी श्यामल उड़ती हुई अलकावलि इस प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो इस समिध्-सामग्रीके होमका धुआँ ही घनीभूत होकर उड़ रहा हो।

ध्यान-मुद्राका एक और रूपान्तर देखिए :

"जीवन-मरन अलाभ-लाभ जिन तृन-मनि को सम भाया है।
सुर नर नाग नमहिं पद जाके, 'दौल' तास जग गाया है॥"

भगवान्‌की दृष्टिमें जीवन-मरण, लाभ-अलाभ और तृण-मणिके प्रति कोई राग-द्वेष नहीं है—समस्त इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंमें उनकी समबुद्धि है। सुर, नर और नागेन्द्र उनके चरणोंमें शिर झुकाते हैं और विश्व उनका यशोगान कर रहा है। देखो, भगवान् आदिनाथ कैसा सुन्दर ध्यान लगाये हुए हैं !

"देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है॥"

■

धन-धन साधर्मी जन मिलन की घरी

अपने अन्तस्‌को धर्ममय कर लेना सरल नहीं है और यह भी सरल नहीं है कि इस प्रकारके धर्म-प्राण जन जनताको सर्वत्र और सर्वदा सुलभ रहें। ऐसे महापुरुषोंका समागम किसी महान् पुण्यका ही परिणाम है और वे जनसाधारणके भाग्यसे कहीं-कहीं ही दिखलाई देते हैं। परन्तु वह वेला, निःसन्देह एक पुण्य वेला है, जब इस प्रकारके साधर्मी जनका समागम होता है। दर्शक उस समय आनन्द-विभोर हो जाते हैं और उनके मन-मयूर नाचने लगते हैं, हृदय गद्‌गद हो जाता है और उससे आनन्दकी अनेक धाराएँ फूट पड़ती हैं। देखिए, कलाकारने यहाँ इस साधर्मी-मिलन-का कितना सरस, सुन्दर और सजीव चित्र खींचा है :

"धन-धन साधर्मी जन मिलन की घरी।
बरसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन-झरी॥"

साधर्मी जन-मिलनकी यह वेला कितनी सुन्दर और सुहावनी है। इस समय ज्ञानकी अविराम वृष्टि हो रही है और भ्रम-ताप, न जाने, कहाँ विलीन हो रहा है।

"जाके बिन पाये भव-विपति अति भरी।
निज परहित अहित की कछू न सुध परी॥"

जबतक धर्मात्माका समागम नहीं होता है, संसारकी विपत्तियाँ पीछा नहीं छोड़ती हैं और अपने हित-अहितका भी कुछ बोध नहीं हो पाता है।

साधर्मी जन-मिलनकी यह वेला कितनी सुन्दर और सुहावनी है!

और :

> "जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
> संशय भ्रम मोह की सुवासना टरी॥"

साधर्मी जनके समागमके प्रभावसे चित्तवृत्ति स्थिर हो जाती है — उनकी स्थिर और प्रशान्त मुद्राका दर्शन ही मनका मैल धो डालता है और उसे विशुद्ध बना देता है। इसके अतिरिक्त संयम, भ्रम और विमोहकी वासना भी तत्काल पलायन कर जाती है।

> "मिथ्या गुरुदेव सेव-टेव परिहरी।
> वीतरागदेव सुगुरु-सेव उर धरी॥"

साधर्मी जनके समागमसे सच्चे और मिथ्या गुरुदेवका स्वरूप समझमें आ जाता है और तब मिथ्या गुरुदेवकी भक्ति छूट जाती है और सच्चे गुरुदेवकी भक्ति हृदयमें घर कर जाती है। अब मनने वीतराग गुरुदेवकी ही भक्ति करनेका निश्चय कर लिया है।

> "चारों अनुयोग सुहित देश दिठ परी।
> शिवमग के लाह की सुचाह विस्तरी॥"

अब हितोपदेशी चार अनुयोगोंके श्रुतके ऊपर दृष्टि गयी है और मोक्ष-मार्गके लाभकी चाह भी इस सुकृति-समागमसे ही जागृत हुई है।

साधु-समागमका एक अन्य चित्र देखिए :

> "सम्यक् तरु धरनि येह करन-करि हरी।
> भव-जल को तरनि समर भुजग-विष जरी॥"

साधर्मी जनका समागम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूपी वृक्षके लिए पृथ्वीके समान है और पंचेन्द्रियरूपी हाथीके दर्प-दलनके लिए सिंहके समान है। संसार-सागरको पार करनेके लिए जहाज़ है और कामदेवरूपी साँपका विष दूर करनेके लिए विषनाशक जड़ी है।

देखिए, कलाकार किस हार्दिक दृढ़ताके साथ साधु-समागमके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं :

> "पूरब भव या प्रसाद रमनि शिव वरी।
> सेवो अब 'दौल' याहि बात यह खरी॥"

इस साधर्मी-समागमके प्रसादसे ही लोगोंने पहले मुक्तिरमाका वरण किया है। हम सबका कर्त्तव्य है कि मुक्तिलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए यह साधर्मी-समागम करें। इस बातकी यथार्थतामें प्रमाण देनेकी जरूरत नहीं।

साधर्मी जनके मिलनकी यह बेला कितनी सुन्दर और सुहावनी है!

> "धन-धन साधर्मी जन मिलन की घरी।"

■

नित पीजो धी-धारी

जैन-शासनमें जिनवाणीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जैन-शासन और जिनवाणीमें कोई अन्तर नहीं है। जिनकी शासना – उपदेश और जिन-वाणी – दोनों एक ही वस्तु हैं। शासना वाणी-द्वारा होती है और वाणी स्वयं शासनामय है – अन्तर इतना ही है।

जिनवाणी अनन्तद्रष्टा, अनन्तज्ञानी, अनन्तसुखी और अनन्तवीर्य-सम्पन्न वीतराग भगवान्‌की वाणी है इसलिए वह स्वभावतः सम्पूर्ण है, हितकारी है, आनन्दमय है और उसमें ऐसा कोई विकार नहीं है जो किसी-को सराग और रोषके मार्गपर ले जाये। उसमें विश्वके प्रति समत्व और मैत्रीभाव है और एक ऐसी दिव्य दिशाके प्रति रुझान है जिसके द्वारा संसार अपने समस्त भेद-भाव भूलकर एक अद्‌भुत संसारकी सृष्टि कर सकता है। वह सृष्टि जहाँ विश्वबन्धुता लहलहाती है, मानव एक-दूसरेसे प्रेम करता है, उसकी उन्नति और संवर्द्धनामें उसका हृदय उत्फुल रहता है, अपने कर्त्तव्यके प्रति निष्ठा और आत्म-बलका अनुभव करता है और एक ऐसे पथपर अग्रसर होनेका अवसर प्राप्त करता है जो उसे समस्त बाधा-बन्धनोंसे उन्मुक्त कर अनन्त आनन्द और शान्तिके सिंहासनपर आसीन कर देता है।

कलाकार दौलतराम आज अपने हृदय-फलकपर इसी जिनवाणीका सम्पूर्ण चित्र अंकित किये हैं। देखिए, वे जिनवाणीको सुधाका सुन्दर रूप देकर किस प्रकार इस सुधा-पानके लिए विद्वानोंका आह्वान कर रहे हैं :

"नित पीजौ धी-धारी।
जिनवानि सुधासम जान के, नित पीजौ धी-धारी॥"

अरे बुद्धिमानो, इस जिनवाणीको अमृत समझ कर खूब पिओ।

"वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद टारी।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी॥"

यह जिनवाणी-सुधा महावीर भगवान्‌के मुख-कमलसे निकलती है। जन्म और जरारूपी रोगको दूर करनेवाली है। गौतम गणधर आदि गुरुओंके हृदय-घटमें प्रतिष्ठित हुई है और पीते समय यह बहुत ही सुरुचि-पूर्ण मालूम होती है।

और :

"सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी॥"

जिस प्रकार पानी मैलको स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार यह जिनवाणी-सुधा भी पापरूपी मैलको साफ़ कर देती है और विद्वानोंके मनको अनुरक्त करती है। भ्रमरूपी धूलिको दूर करती है, मिथ्यात्वरूपी मेघोंको उड़ानेके लिए यह वायुके समान है।

और :

"कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी।
बंधविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी॥"

जिस प्रकार वृक्षोंके उपवनके लिए पृथ्वी आधारभूत रहती है, उसी प्रकार यह जिनवाणी भी कल्याणरूपी वृक्षोद्यानके लिए पृथ्वीके समान मूलभूत है और संसार-सागरको पार करनेके लिए नौकाके समान है। कर्मबन्धको तोड़नेके लिए तेज छेनी है और मुक्तिस्थानमें पहुँचानेके लिए सुदृढ़ नसैनी है।

जिनवाणी-सुधाका एक अन्य चित्र देखिए :

"स्वपरस्वरूप प्रकाशन को यह भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन-सुवारी ॥"

जिस प्रकार चन्द्रकी रजतधारामें समस्त संसार स्वच्छ और नहाया हुआ प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार यह जिनवाणी भी अपने और पर-वस्तुके स्वरूपका प्रकाश करनेके लिए सम्पूर्ण चन्द्रकलाकी तरह है । मुनियोंके मनरूपी कुमुदिनीको विकसित करनेके लिए सुधाकरकी प्रभाके समान है और समता सुखरूपी कुसुमोंके लिए वाटिकाकी तरह है ।

और :

"जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्यासारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ॥"

जिस जिनवाणीकी उपासनासे आत्मपदकी अनुभूति होती है, सम्पूर्ण अज्ञान दूर हो जाता है और विश्वके लिए मंगलमय समझकर त्रिभुवनपति इन्द्र आदिक जिसकी उपासना और भक्ति करते हैं ।

देखिए, कलाकार किस प्रकार जिनवाणीका सम्पूर्ण रूप व्यक्त करनेके लिए अपनेको असमर्थ पा रहे हैं :

"कोटि जीभ सों महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ॥"

कलाकार कहते हैं – जिस पतित-पावन – जिनवाणीका माहात्म्य-गान इन्द्र अपनी कोटि-कोटि जिह्वाओंसे भी नहीं कर सके, हम-जैसे मतिमन्द उसका क्या माहात्म्य-गान कर सकेंगे । हम यही चाहते हैं कि "अरे, बुद्धिमानो, तुम इस जिनवाणी सुधाको खूब पियो ।"

"नित पीजौ धी-धारी ।"

जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र

भगवान् महावीर अपने पवित्र जन्मसे भारत-भूमिको अलंकृत कर जनताके सामने जिस त्याग, साधना और कर्त्तव्यनिष्ठाका उज्ज्वल आदर्श उपस्थित कर गये हैं, विश्वके कोटि-कोटि मानव आज भी उसे श्रद्धा और भक्तिसे देखते हैं। उनका मंगल आदर्श आज भी संहार और स्वार्थलिप्साकी लीलामें निरत विश्वको आत्म-प्रयोगके लिए मौन-निमन्त्रण दे रहा है। सम्भव है कभी कालात्माकी चेष्टा उसे पुनः इस आदर्शकी ओर आकर्षित करे और मानव अपने विश्वजनीन मानवीय गौरवको पहचाने।

कलाकार आज इन्हीं भगवान् महावीरके आदर्शके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं :

> **"जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवन्द्य जगतारं।**
> **सिद्धारथ कुल-कमल-अमल रवि, भव-भूधर-पवि-भारं।**
> **गुन-मुनि-कोष अदोष मोषपति, विपिन कषाय तुषारं॥"**

वे भगवान् महावीर जिनेन्द्रचन्द्र जयवन्त रहें, जिन्हें सैकड़ों इन्द्र नमस्कार करते हैं और जो संसारसे देहधारियोंको पार करनेवाले हैं। भगवान् महावीर सिद्धार्थ-कुलरूपी कमलोंके विकासके लिए निर्मल सूर्यके समान हैं, संसाररूपी पर्वतको चूर करनेके लिए वज्रकी तरह हैं, गुणरूपी मणियोंके भण्डार हैं, दोषोंसे रहित हैं, मोक्षपति हैं और कषायरूपी वनको झुलसानेके लिए तुषार-सरीखे हैं।

और :

"मदन-कदन शिव-सदन पद-नमित नित अनमित यतिसारं ।
रमा-अनन्त-कंत अंतकक्रत-अन्त जंतु हितकारं ॥"

भगवान् महावीर मदनका दर्प दलन करनेवाले हैं, कल्याणके मन्दिर हैं, बड़े-बड़े मानी भी उनके चरणोंमें विनत रहते हैं, साधुओंके सुखकर हैं, अनन्त लक्ष्मीके पति हैं, यमराजका भी अन्त करनेवाले हैं और विश्वके प्रत्येक सचेतनके हितैषी हैं ।

तथा :

"फन्द चन्दना-कन्दन, दादुर-दुरित तुरित निर्वारं ।
रुद्र-रचित अतिरुद्र उपद्रव-पवन-अद्रिपति सारं ॥"

भगवान् महावीर चन्दनासतीके संकट दूर करनेवाले हैं और मेढकके पापको तुरन्त ही धो देनेवाले हैं । रुद्र नामके दैत्यने जो भयंकर उपद्रव-पवन चलाया था उसके लिए वे हिमाचलकी तरह अडिग रहे ।

अथ च :

"अन्तातीत अचिन्त्य सगुन तुम, कहत लहत को पारं ।
हे जगमौल 'दौल' तेरे क्रम, नमै सीस कर धारं ॥
जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र शत इन्द्रवंद्य जगतारं ॥"

भगवन्, तुम्हारे गुण अनन्त हैं और अचिन्त्य हैं । तुम्हारे गुणोंका कोई भी पार नहीं पा सकता है । हे जगन्मुकुट भगवन्, मैं तुम्हारे चरणोंको हाथ जोड़कर शिरसा वन्दन करता हूँ ।

वे भगवान् महावीर जयवन्त रहें, जिन्हें सैकड़ों इन्द्र नमस्कार करते हैं और जो प्राणियोंको संसारसे तारनेवाले हैं ।

"जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र !"

■

मेरी ऐसी बुधि कीजै

मनुष्य जब संसारके दु:ख और दु:खके कारणोंको ठीक-ठीक समझ लेता है तो सदैव इस प्रयत्नमें रहता है कि उसके जीवनाकाशमें पुन: वे बादल न घिरें जो उसे मलिन और भयंकर बना देते हैं। वह प्रतिक्षण सजग और सावधान रहता है और उसकी प्रत्येक क्रिया इस भावनासे सम्भृत रहती है कि संसारका बन्धन-चक्र एक क्षणके लिए भी उसे अपनेमें न फाँस ले।

हम कलाकारकी इस रचनामें आज इसी मानवीय आकांक्षाकी प्रतिध्वनि निहित पा रहे हैं। देखिए, कलाकार किस दृढ़ता और तन्मयताके साथ इस आकांक्षाको व्यक्त कर रहे हैं।

"हे जिन, मेरी ऐसी बुद्धि कीजै।
रागद्वेष दावानल तें बचि, समतारस में भीजै॥"

भगवन्, मेरी इस प्रकारकी बुद्धि कर दीजिए जो मेरी राग-द्वेषरूपी दावानलसे रक्षा हो सके और मेरी आत्मा समता-रससे सराबोर हो जाये।

और :

"परमें त्याग अपनपो निज में लाग न कबहूँ छीजै।"

मैं परवस्तुमें अपनापन छोड़कर उसे अपनी आत्मामें ही सदाके लिए स्थिर कर लूँ।

तथा :

"कर्म कर्मफल माँहि न राचै, ज्ञानसुधारस पीजै।"

मैं कर्म और कर्म-फलमें राग-द्वेष न करूँ और निरन्तर ज्ञान-सुधारस-का ही पान करता रहूँ।

कलाकारकी अन्तिम आकांक्षा देखिए :

"मुझ कारज के तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै।"

भगवन्, मेरी यही भावना और प्रार्थना है कि आप ही मेरी प्रत्येक क्रियाके कारण बनें – मैं जो कुछ करूँ, आपकी ही प्रेरणासे करूँ। भगवन्, मेरी इस प्रकारकी बुद्धि कर दीजिए।

"हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ॥"

■

रे मन, कर सदा संतोष

जो आशाके दास हैं, वे समस्त संसारके दास हैं और जिन्होंने आशा-पर विजय प्राप्त कर ली है, संसार उनकी सेवाके लिए उपस्थित रहता है।

"आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥"

आशाकी दासता और आशा-विजय ये दोनों विभिन्न वस्तुएँ हैं और इनके परिणाम भी जुदे-जुदे हैं, जैसा कि कविने अपनी एक उल्लिखित सूक्तिमें निर्देश किया है।

आशाकी ज्वाला इतनी प्रबल और उद्दाम है कि मनुष्यका इस ओर झुकाव होते ही वह इसके लपेटोंसे आक्रान्त हो जाता है और अपना सर्वस्व खो बैठता है। इसके विपरीत जीवनमें वही सफलता प्राप्त कर सके हैं जो आशाके वशवर्त्ती न होकर सन्तोषके पथपर अग्रसर हुए हैं। जीवनका सुख सन्तोषमें है, परन्तु मनमें जबतक लोभ और आशाकी अणुमात्र भी वासना जागृत रहेगी मानव सुखी नहीं हो सकता।

महाकवि बनारसीदास यहाँ मनको सन्तोषके पथपर प्रयाण करनेका ही उद्बोधन कर रहे हैं। उनका सहज व्यक्त उद्बोधन देखिए :

"रे मन, कर सदा संतोष, जातें मिटत सब दुख-दोष।"

अरे मन, तू सदैव सन्तोष धारण कर। तुझे मालूम नहीं, इस सन्तोष-के आश्रयसे ही संसारके समस्त दुःख और दोष दूर होते हैं।

कलाकार यहाँ असन्तोषका बीज दिखला रहे हैं। वे कहते हैं :

"बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिसना होति।
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति॥"

परिग्रहके बढ़नेसे मोह बढ़ता है और मोहके बढ़नेसे तृष्णा बढ़ती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अग्निमें अधिक ईंधनके डालनेसे उसकी ज्वाला और अधिक ऊँची होती जाती है।

देखिए, कलाकार परिग्रह-संचयके मूलमें छिपी हुई किस रहस्यपूर्ण अन्तर्वृत्तिका उद्घाटन कर रहे हैं :

"लोभ लालच मूढ़ जन सो, कहत कंचन दान।
फिरत आरत नहिं विचारत, धरम धन की हान॥"

मानव परिग्रह-संचय करके सुवर्णका दान करता है और कहता है हमारे परिग्रहमें कौन-सा पाप है, हम तो ऐसा करके सुवर्ण-दान तक करते हैं, परन्तु यह मूर्ख परिग्रह-संचयके पृष्ठवर्ती लोभ और लालचकी सीमापर कुछ भी विचार नहीं करता, जिसकी प्रेरणासे यह परिग्रह संचित किया जाता है। इसके अतिरिक्त इस संचयकी आर्त्तिमें जो यह अहर्निश निमग्न रहता है और इस प्रकार जिस धर्म-धनकी हानि उठाता है, उस ओर तो इसका ध्यान ही नहीं जाता।

देखिए, कलाकारने आशाके पीछे मरनेवालोंका कैसा वीभत्स चित्र खींचा है :

"नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि', को नृपति को रंक॥"

मूढ़ मानव आशाके पीछे नारकियोंके – अन्यायी धनियोंके पैर पूजता है और उनकी ग़ुलामी करता है और अपनेको दीन समझकर सदैव संकोच करता है और सन्दिग्ध बना रहता है। इसे इतना आत्म-भान नहीं हो पाता कि प्रत्येक जीवात्माके अन्दर अनन्त ज्ञान और शान्तिका पुंज छिपा हुआ है और वह संसारमें सब कुछ कर सकता है। रे मन, तू सदैव सन्तोष धारण कर।

"रे मन, कर सदा संतोष।"

■

चेतन, उल्टी चाल चले

पराधीनताके पाशमें जकड़ा हुआ मानव कठिनाईसे उन्मुक्त हो पाता है। वह इस बन्धनसे इतना हिल-मिल जाता है कि प्रथम तो उसे इस बातका भान ही मुश्किलसे हो पाता है कि वह किसी बन्धनसे बँधा हुआ है। कदाचित् उसे अपने बन्धनका ज्ञान भी होता है तो वह उससे छूटनेकी प्रक्रियासे अनभिज्ञ रहता है और उसका बन्धन-मुक्तिका प्रयत्न सफल नहीं हो पाता है। यह विपरीत दिशामें चलनेका परिणाम है। यदि मानव अपने पराधीनता-पाशमें बँधनेके कारणोंको समझ ले और ठीक दिशामें यत्न करे तो यह सम्भव नहीं कि उसकी चिर-सुप्त आत्म-शक्ति जाग्रत् न हो और वह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र न हो सके।

कलाकार यहाँ मानवकी इसी सफलताके रहस्यका उद्‌घाटन कर रहे हैं :

"चेतन, उल्टी चाल चले।
जड़ संगति सौं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले ॥"

मानव, तुमने बिलकुल विपरीत दिशामें प्रयाण किया। जड़वस्तु—कर्म-समूहकी संगतिसे तुम्हारे अन्दर भी जड़ता समा गयी और तुम्हारे सहज गुण न मालूम कहाँ विलीन हो गये।

मानवके विपरीत दिशामें प्रयाणका फल देखिए :

"हितसौं विरचि ठगनिसौं राचे, मोह पिशाच छले।
हँसि-हँसि फन्द सँवारि आप ही, मेलत आप गले ॥"

आत्मन्, तुम अपनी विपरीत परिणति तो देखो ! तुम अपने हितकर

भावोंसे तो उदास रहे और जो तुम्हारे अहितकर राग-द्वेष आदि वंचक भाव थे उनसे तुमने नेह किया। इतना ही नहीं मोहपिशाचने तुम्हें ख़ूब छला और तुमने बन्धनकी रस्सीको ख़ूब सँभाल-सँभालकर ख़ुशी-ख़ुशी अपने हाथों ही अपने गलेमें फँसाया।

"आये निकसि निगोद सिन्धु तें फिर तिह पंथ टले।
कैसैं परगट होय आग जो दबी पहार तले॥"

आत्मन्, तुमने निगोद-सागरसे निकलकर तो यह दुर्लभ नर-तन पाया था और अब अपनी करनीसे फिर उसी मार्गपर जा रहे। अरे, सोचो तो जो आग पहाड़के नीचे दबी हुई है वह क्या आसानीसे बाहर आ सकती है। उसके लिए तो पहाड़ फोड़कर ही बाहर लाना होगा। इसी प्रकार जो आत्म-शक्ति चिरकालसे कर्म-बन्धनसे निस्तेज पड़ी है। उसे जाग्रत् और सतेज बनानेके लिए भी महान् प्रयत्न वांछनीय है।

देखिए, कलाकार मानवकी मुक्तिके द्वारका निर्देश कर रहे हैं :

"भूले भव-भ्रमवीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले।
धर शुभ ध्यान ज्ञान-नौका चढ़ि, बैठे ते निकले॥"

आत्मन्, तुम संसारमें भ्रमवश दिव्य ज्ञान भूल रहे हो। इस संसार-सागरसे वे ही पार हुए हैं जो शुभ ध्यानका संकल्प लेकर ज्ञानरूपी नौका-पर आरूढ़ हुए। आत्मन्, तुमने बिलकुल विपरीत दिशामें प्रयाण किया।

"चेतन, उल्टी चाल चले॥"

■

दुविधा कब जैहैं या मन की

मानव-जीवनमें वह समय भी आता है जब मानव संसारके दुःखों, चिन्ताओं, उत्पीडनों और विशेषताओंसे इतना घिर जाता है कि वह इनसे मुक्त होनेके लिए छटपटाने लगता है और उसका मन इस बोझको उतार फेंकनेके लिए एकदम उद्यत हो जाता है। उसके मनमें उन्मुक्तिकी चाह इतनी प्रबल रूपसे प्रज्वलित हो उठती है कि वह एक क्षणके लिए भी किसी बन्धनमें बद्ध नहीं रहना चाहता।

कलाकारकी स्वर-लहरीमें आज यही मानवीय भावना प्रतिध्वनित हो रही है। देखिए किस सहज भावसे इस भावनाकी अभिव्यक्ति हो रही है ;

"दुविधा कब जैहैं या मन की।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तजि सेवा जन-जन की ॥"

न मालूम, हमारे मनकी यह दुविधा कब दूर होगी ? वह अवसर कब आयेगा, जब मैं इन पामर मनुष्योंकी गुलामीसे छुटकारा प्राप्त करूँगा और अपने निर्विकार आत्मारामकी अलख जगाऊँगा ?

देखिए, कलाकार मानवीय भावनाके किस लक्ष्य-बिन्दुका यहाँ निर्देश कर रहे हैं :

"कब रुचिसौं पीवैं दृग चातक, बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ॥"

न जाने कब हमारे नेत्र-चातक घनीभूत अक्षय मदकी सरस बिन्दुओं-का रुचिके साथ पान करेंगे — वह समय कब आयेगा जब हमारा मन

निराकुल मोक्ष-पदकी प्राप्तिके लिए ही अहर्निश चिन्ताशील रहेगा और वह शुभ घड़ी, न जाने जीवनमें कब आयेगी जब हमारे परिणामोंमें समता भावकी जागृति होगी और हमारा चिन्तन आत्म-विशुद्धिकी ओर अग्रसर होगा। इसके अतिरिक्त वह अवस्था भी प्राप्त होगी जब हमारे मनमें अपने शरीरके प्रति भी ममत्व-बुद्धि शेष न रहेगी।

उन्मुक्तिके अभिमुख मानवकी एक उच्च विचार-धारामें अवगाहन कीजिए :

"कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु-वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की॥"

न जाने, आत्माके अन्दर सुगुरुके वचनोंके प्रति एकरस दृढ़ता कब जागृत होगी और न जाने वह समय कब आयेगा जब आत्माके भीतर वास्तविक भेद-विज्ञानकी उज्ज्वल ज्योति जलेगी और वास्तविक सुखकी प्राप्ति होगी। इसके सिवाय वह क्षण भी, न जाने, कब आयेगा जब धनके प्रति लेश भी ममत्व-भाव न रहेगा?

देखिए, उन्मुक्तिके उन्मुख यह मानव किस क्षणके लिए लालायित है :

"कब घर छाँड़ि होहुँ एकाकी, लिए लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा छन की॥"

न मालूम, जीवनमें वह क्षण कब आयेगा जब मैं घर छोड़कर बिलकुल एकाकी होकर वनवासी बनूँगा। पता नहीं यह सुयोग मुझे कब मिलेगा। मैं उसकी चिर प्रतीक्षामें हूँ। उस सौभाग्यपूर्ण क्षणपर मैं सौ बार निछावर हूँ। न मालूम हमारे मनकी यह दुविधा कब दूर होगी।

"दुविधा कब जैहैं या मन की॥"

■

हम बैठे अपनी मौन सौं

मानव जबतक विवेकनिष्ठ नहीं बनता है, इस प्रकारकी अवांछनीय प्रवृत्तियोंमें उलझा रहता है कि जिनके कारण न तो वह स्वयं ही चैन ले पाता है और न दूसरोंको ही चैन लेने देता है। कभी दूसरोंकी निन्दा करता है। कभी दूसरोंका धन हरण करता है। कभी दूसरोंको अपशब्द कहता है। कभी अपनी चेष्टा और मनसे दूसरेका अहित करता है और बुरा सोचता है। परन्तु जब उसके अन्तस्में विवेक-बुद्धि जग जाती है, तो वह इन प्रवृत्तियोंसे घृणा करने लगता है और उसका मन एक इस प्रकारके लोकमें विहार करने लगता है, जहाँ सबके प्रति मैत्रीभाव है, समता है, विश्व-बन्धुता है और एक ऐसा सौम्य वातावरण है, जिसमें वह अपनी दिव्य आत्म-ज्योतिके ठीक-ठीक दर्शनका सुयोग लाभ करता है।

बस, मानव यहींसे महामानवके पथपर अग्रसर होता है और जनता उसके आत्मिक विकासको देखकर आश्चर्य करती है और श्रद्धासे अपना माथा टेक देती है। मानवका यह उत्कर्ष और आदर्श वस्तुतः श्रद्धा और आदरकी वस्तु है।

देखिए, एक साहित्यिक कलाकारने अपनी रचनामें इस आदर्शको किस सजीवताके साथ चित्रित किया है :

"हम बैठे अपनी मौन सौं।
दिन दस के मिहमान जगत जन बोलि बिगारैं कौन सौं॥"

हम तो मौनसे बैठे हैं – हमारा सबके प्रति मैत्रीभाव है। जगत्के हम

सब जन दस दिनके मेहमान हैं – न मालूम किसे कब यहाँसे चल देना है। इसलिए हम अप्रिय बोलीसे किसीका मन क्यों दुखायें ?

मानवके इस नूतन लोकके दर्शन कीजिए :

"गये बिलाय भरम के बादर, परमारथ-पथ पौन सौं।
अब अन्तर गति भई हमारी, परचे राधारौन सौं॥"

इस समय हम परमार्थ-पथके अनुसारी हैं और इस परमार्थरूपी पवनसे हमारे समस्त भ्रमके बादल विलीन हो गये हैं। हमारा स्वानुभवरूपी राधारमणसे परिचय हो गया है और हमारी प्रवृत्ति भी एकदम अन्तर्मुख हो गयी है।

इस लोककी अन्य छाया देखिए :

"प्रघटी सुधापान की महिमा, मन नहिं लागै बौन सौं।
छिन न सुहाय और रस फीके, रुचि साहिब के लोन सौं॥"

हमारे अन्तस्‌में अमृत पीनेकी महिमा जागृत हो उठी है और हमारा मन वमन-सेवनसे बिलकुल उचट गया है। अब हमें क्षण-भरके लिए भी अन्य रस अच्छे नहीं मालूम दे रहे हैं। वे सब फीके हो गये हैं और अब हमारी रुचि केवल आत्मारामके लावण्यपर ही अटकी हुई है।

देखिए, मानव इस लोकमें पहुँचकर किस प्रकार मुक्ति भावका अनुभव करता है :

"रहे अघाय पाय सुखसंपति, कब निकसै निज भौन सौं।
सहज भाव सद्‌गुरु की संगति, सुरझै आवागौन सौं॥"

हमने जो अक्षय सुख-सम्पत्ति प्राप्त की है, उससे हमारा मन अघा गया है – भर गया है, अब हमें किसी भी वस्तुके लिए अपने घरसे बाहर जानेकी जरूरत नहीं है।

हमें अपना सहज आत्मिक भावरूपी गुरु मिल गया है और हम संसारके आवागमनसे विमुक्त हो चुके हैं।

अब तो हम मौनसे बैठे हैं – हमारा सबके प्रति मैत्रीभाव है। जगत्-के हम सब जन दस दिनके मेहमान हैं – न मालूम किसे कब यहाँसे चल देना है ? इसलिए हम अप्रिय बोलीसे किसीका जी क्यों दुखायें ?

"हम बैठे अपनी मौन सौं।"

भोंदू भाई समुझ शबद यह मेरा

जीव-जगत्में दृष्टिका प्राप्त होना सरल नहीं है। संसारके सभी देह-धारियोंको दृष्टि नहीं मिलती। जीव-राशिमें इस प्रकारके बहुत कम हैं जिन्हें दृष्टि-लाभका सौभाग्य मिलता है। यहाँ दृष्टिसे अर्थ देखनेकी शक्तिसे है। जो वस्तुका ठीक-ठीक दर्शन करानेमें समर्थ हो उसे दृष्टि कहते हैं।

इस प्रकार जिसे दृष्टि मिली है उसे वस्तुका यथार्थ दर्शन तो करना ही चाहिए. परन्तु आश्चर्य तब होता है जब दृष्टि प्राप्त होनेपर भी मानव वस्तुको ठीक रूपसे देख नहीं पाता। कारण स्पष्ट है। मानवकी दृष्टि — चर्म-चक्षुका ऐसे तत्त्वोंसे निर्माण हुआ है, जो उसे वस्तुके अन्तर रूपका दर्शन नहीं हो पाता। जो कुछ उसे दिखलाई देता है, उसमें वस्तुका सम्पूर्ण रूप नहीं होता, केवल बाह्यरूप रहता है और यही कारण है जो मानवकी दृष्टि वस्तुको ठीक न समझकर भ्रान्त होती है और मानवको मिथ्यामार्गका यात्री बनाकर अशान्त करती है।

कलाकारने अपनी इस रचनामें इसी दृष्टिका विश्लेषण किया है और बतलाया है कि वस्तुका यथार्थ और सम्पूर्ण रूप समझनेके लिए किस दृष्टि-की आवश्यकता होती है तथा वह किस प्रकारसे प्राप्त की जा सकती है। कलाकारकी सूक्तिका रस लीजिए :

"भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आँखिन सौं तामें कछू न तेरा॥"

अरे भोले मानव, तुम मेरी इस बातपर तो विचार करो। मानव, जो कुछ तुम इन आँखोंसे देख रहे हो और अपना समझ रहे हो उसमें

तुम्हारा कुछ भी नहीं है ।

देखिए, कलाकार इन चर्म-चक्षुओंका किस प्रकार विश्लेषण कर रहे हैं :

"ए आँखें भ्रम ही सौं उपजीं भ्रम ही के रस पागीं ।
जहँ-जहँ भ्रम तहँ-तहँ इन कौ श्रम, तू इन ही कौ रागी ॥"

अरे मानव, ये आँखें भ्रमसे ही उत्पन्न हुई हैं और भ्रमके ही रसमें सनी हुई हैं। याद रख, जहाँ-जहाँ भ्रम है, वहाँ-वहाँ इन आँखोंका भ्रम है । अर्थात् प्रत्येक भ्रमके मूलमें इन आँखोंका ही प्रधान हाथ है । फिर भी तू इन आँखोंका रागी बना हुआ है ।

कलाकार-द्वारा चित्रित आँखोंका एक अन्य चित्र देखिए :

"ए आँखें दोउ रची चाम की, चामहि चाम विलोवै ।
ताकी ओट मोह निद्रा जुत सुपन रूप तू जोवै ॥"

मानव, ये दोनों ही आँखें चमड़ेकी बनी हैं और चर्म-चर्मके सिवाय वस्तुके अन्तर रूपका दर्शन तो इनसे हो हो नहीं सकता । अरे मानव, ये वही आँखें तो हैं, जिनके कारण तू मोह-निद्रामें मग्न होता है और संसारकी स्वप्नवत् समझता है ।

"इन आँखिन कौ कौन भरोसौ, ए विनसैं छिन माहीं ।
है इन कौ पुद्गल सौं परचै, तू तौ पुद्गल नाहीं ॥"

मानव, इन आँखोंका क्या भरोसा ? ये तो क्षण-भरमें नष्ट हो सकती हैं । इनका तो पुद्गलसे परिचय है । पर मानवात्मन्, तू तो पुद्गल नहीं है । फिर तू पर-वस्तुपर क्यों इतना राग और विश्वास करता है ?

आँखोंकी असमर्थताका एक चित्र देखिए :

"पराधीन बल इन आँखिन कौ, बिनु परकाश न सूझै ।
सो परकाश अगिनि रवि शशि कौ, तू अपनौ कर बूझै ॥"

मानव, देख, ये आँखें अपनी प्रधान शक्ति देखनेमें ही कितनी पराधीन हैं कि बिना प्रकाशके यह किसी भी वस्तुको नहीं देख पातीं और जिस प्रकाशमें ये देखनेकी शक्ति प्राप्त करती हैं वह प्रकाश तो आग, सूर्य और

चन्द्रका है। तू उसे अपना क्यों समझता है ?

इन आँखोंकी एक दूसरी जातिकी विशेषता देखिए :

"खुले पलक ये कछु इक देखहिं, मुँदे पलक नहिं सोऊ।
कबहूँ जाँहिं होहि फिर कबहूँ, भ्रामक आँखैं दोऊ॥"

अरे मानव, इन आँखोंकी शक्तिकी विचित्रता तो देख। जबतक इनके पलक खुले रहते हैं ये तभीतक वस्तुको देख पाती हैं, किन्तु जैसे ही पलक बन्द हुए, ये कुछ भी नहीं देख पातीं। ये कभी चली जाती हैं और कभी फिरसे आ जाती हैं। इनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखनेकी ज़रा भी क्षमता नहीं है – दोनों ही आँखें, मानव, तुझे भ्रमके गर्तमें गिराने-वाली हैं।

इन आँखोंकी एक अन्य विशेषता देखिए :

"जंगम काय पाय ए प्रगटैं, नहिं थावर के साथी।
तू तो इन्हें मान अपने दृग, भयौ भीम कौ हाथी॥"

मानव, इन आँखोंका जंगम शरीरसे ही सम्बन्ध है – त्रसपर्यायमें ही ये प्रकट होती हैं, स्थावर कायके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु मानव, तूने तो इन्हें अपने निजके नेत्र मान लिये हैं और फलतः इस प्रकार मतवाला हो गया है जैसे भीमका हाथी हो।

देखिए, कलाकार किस सहजभावसे वास्तविक नेत्रोंकी व्याख्या और उनके उद्‌घाटनका प्रकार दिखला रहे हैं :

"तेरे दृग मुद्रित घट-अन्तर, अन्धरूप तू डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आँखें, कै गुरु-संगति खोलै॥"

मानव, तेरे वास्तविक नेत्र तेरी आत्माके अन्दर बन्द पड़े हुए हैं और तू अन्धा होकर डोल रहा है। तेरी वे आँखें या तो सहज ही खुल जायेंगी या सद्‌गुरुकी संगतिसे वे खुलेंगी। भोले मानव, तुम मेरी इस बातपर तो विचार करो।

"भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा॥"

ते हिरदैं की आँखैं

अन्तर्दृष्टिकी महत्ता उसका मूल्यांकन करनेवालोंसे छिपी नहीं है। अन्तर्दृष्टिके प्राप्त होते ही मनुष्यका मन स्वस्थ, प्रशान्त और निश्चल हो जाता है और इसके प्राप्त होते ही वह अपनेको सुख-सागरमें आकण्ठ-मग्न पाता है। जबतक मनुष्यकी बहिर्दृष्टि रहती है वह अशान्त, दुःखी और अस्थिर रहता है और उसका मन गन्तव्य लक्ष्यकी ओर प्रवृत्त नहीं होता, परन्तु अन्तर्दृष्टिके प्राप्त होते ही उसका लक्ष्य स्थिर हो जाता है और एक दिन वह आता है जब वह अपने लक्ष्यमें कृतकार्य होता है। अन्तर्दृष्टिकी यह सबसे बड़ी विशेषता है जो इसके अभावमें चक्षुष्मान् भी अन्धा कहलाता है और इसके सद्भावमें अन्धा भी चक्षुष्मान्।

देखिए, अपनी इस रचनामें कलाकारने अन्तर्दृष्टिका कितना सुन्दर चित्रण किया है :

> **"भोंदू भाई, ते हिरदै की आँखैं।**
> **जे करषै अपनी सुख सम्पति, भ्रम की सम्पति नाखैं॥"**

भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं, जो अपनी आत्मीय सुख-सम्पत्तिका उपभोग करती हैं और भ्रमकी सम्पत्तिको दूर करती हैं।

इन आँखोंका रुचिर चित्र देखिए :

> **"जे आँखैं अमृतरस बरसैं, परखैं केवलि वानी।**
> **जिन्ह आँखिन विलोक परमारथ, होहिं कृतारथ प्रानी॥"**

जो आँखें अमृत-रसकी वर्षा करती हैं, भगवान् केवलीकी वाणीका जो स्पर्श करती हैं – उसकी पवित्र और मंगल-धारामें सर्वांगसे आस्नात

रहती हैं और जिन आँखोंसे परमार्थके दर्शन होते हैं और प्राणी अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

इन आँखोंका एक अन्य रूप देखिए :

"जिन आँखिनहिं दशा केवल की, कर्म लेप नहिं लागै।
जिन आँखिन के प्रगट होत घट, अलख निरंजन जागै॥"

भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं, जिनके कारण केवलीके पदकी प्राप्ति होती है और जिनके कारण आत्मा कर्मके बन्धनसे लिप्त नहीं होता और वे ही सच्ची आँखें हैं, जिनके अन्तस्‌में प्रकट होते ही आत्मामें निरंजन अलखकी उज्ज्वल ज्योति जागृत हो जाती है।

इन आँखोंका एक अन्य चित्र देखिए :

"जिन आँखिन सौं निरखि भेद गुन, ज्ञानी ज्ञान विचारै।
जिन आँखिन सौं लखि स्वरूप मुनि, ध्यान धारणा धारै॥"

जो आँखें ज्ञानी जीवके भेद-विज्ञानकी प्रतीति और वस्तुके ज्ञान और गुणकी जानकारीमें सहायक होती हैं और साधुजन जिनके द्वारा आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार करके ध्यान-धारणा आदिकी ओर प्रवृत्त होते हैं, भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं।

इन अन्तर्नेत्रोंका एक अन्य रूपान्तर देखिए :

"जिन आँखिन के जगे जगत के, लगे काज सब झूठे।
जिनसौं गमन होइ शिव सनमुख, विषय-विकार अपूठे॥"

भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं, जिनके हृदयमें जाग्रत् होते ही संसारके समस्त कार्योंसे अनुराग पूर्ण आसक्ति दूर हो जाती है, मानव मोक्ष-मार्गकी ओर प्रयाण करने लग जाता है और उसका मन विषय-विकारसे एकदम अछूता हो जाता है।

इन आँखोंकी प्रभाका रूप देखिए :

"इन आँखिन में प्रभा परम की, पर सहाय नहिं लेखै।
जे समाधि सौं लखै अखंडित, ढकै न पलक निमेखै॥"

भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं, जिनमें वह सातिशय प्रभा जाज्वल्यमान रहती है जिसे कभी भी किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती और जो समाधिके द्वारा अखण्ड वस्तुका यथार्थ परिज्ञान रखती हैं तथा न जिनपर कोई पदार्थ आवरण कर पाता है और न ही कभी जिनके पलक झपते हैं।

देखिए, कलाकार किस मार्गका निर्देश कर रहे हैं, जिसके द्वारा यह नेत्र-वैषम्य दूर किया जा सकता है :

"जिन आँखिन की ज्योति प्रगट कैं, इन आँखिन में भासै।
तब इनहू को मिटै विषमता, समता रस परगासै॥"

मानव, जब इन अन्तर्नेत्रोंकी ज्योति अपने जाग्रत् रूपमें इन चर्म-चक्षुओंमें झलकने लगेगी—ये चर्म-चक्षु भी अन्तर्नेत्रमय हो जायेंगे तब इनका यह वैषम्य दूर हो जायेगा और इनमें भी समता-रस लहराने लगेगा।

भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं।

इन अन्तर्नेत्रोंकी उपयोगिताके सम्बन्धमें कलाकारका अभिमत देखिए :

"जे आँखें पूरनस्वरूप धरि, लोकालोक लखावैं।
ए वे यह वह सब विकलप तजि, निरविकलप पद पावैं॥"

मानव, जो आँखें अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्राप्त करके लोक और अलोक-का दर्शन कराती हैं और समस्त विकल्पोंको दूर कर निर्विकल्प पदकी प्राप्ति कराती हैं। भोले मानव, वे ही हृदयकी सच्ची आँखें हैं।

"भोंदू भाई, ते हिरदै की आँखें॥"

■

ऐसा काज न करना हो

जगत्में मनुष्य-जन्मका मिलना बड़ा दुर्लभ है। यह जीव अनन्तकाल-तक चौरासी लाख योनियोंमें जन्म-मरण करता है और बड़ी कठिनाईसे मनुष्य-जन्मका लाभ कर पाता है। इसके लिए उसे अविराम साधना करनी पड़ती है। वह अपने अन्तर्मलको स्वच्छ करता है और आत्मशुद्धिकी एक श्रेणीमें पहुँचकर मनुष्य-भवको प्राप्त करता है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्य-भवकी प्राप्ति एक सीमातक आत्म-विशुद्धिका परिणाम है, जो इस बातको सूचित करता है कि यह जीव अब ऐसी स्थितिमें है कि प्रयत्न करनेपर सर्वात्मना कर्म-बन्धसे मुक्त होकर शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है।

परन्तु ज्यों ही इसे मनुष्य-भव मिलता है वह इस 'नर-भव' को प्राप्त करनेके लिए की गयी अपनी साधनाको एकदम भूल जाता है और भूल जाता है उन असंख्य योनियोंमें भोगे हुए अनन्त पीड़ाओंके पुंजको। फल यह होता है कि यह जीव मनुष्य होकर भी विवेक-मूढ़ होकर अमा-नवीय कार्य करने लग जाता है और अपनी साधनासे पतित होकर पुनः उसी पीड़ा-पयोधिमें गोते लगाने प्रारम्भ कर देता है।

मनुष्यके लिए इससे अधिक लज्जा एवं करुणाजनक और क्या बात हो सकती है कि वह अपनी अनन्त साधनासे प्राप्त की गयी चिन्तामणि-दुर्लभ वस्तुको यों ही खो दे और फिर दीन-हीन बनकर रोने-सिसकने लगे। मनुष्यके पतनकी यह चरम सीमा है।

कविवर 'बुधजन' ऐसे विवेक-विकल मानवको ही सम्बोधित कर रहे

हैं। वे कहते हैं :

"नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो।"

हे आत्मन् ! तुम ऐसा काम कभी न करना, जिससे मनुष्य-भव प्राप्त करके भी तुम्हें फिरसे दुःख उठाने पड़ें।

कविवरकी दृष्टिमें कर्म-बन्धन ही संसारके दुःखजालका कारण है, जो ममत्व-भावसे और भी दृढ़ होता जाता है। इसलिए वे कितने स्पष्ट एवं सरल शब्दोंमें मनुष्यको मतलबकी बात बतला रहे हैं। सुनिए :

"नाहक ममत ठानि पुद्गल सौं, करम-जाल क्यों परना हो।
नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो॥"

आत्मन् ! तुम पुद्गलसे — परवस्तुसे ममत्व जोड़कर व्यर्थमें क्यों कर्म-चक्रके बन्धनमें पड़ते हो ? तुम ऐसा काम कभी न करना, जिससे मनुष्य-भव प्राप्त करके भी तुम्हें फिरसे दुःख उठाने पड़ें।

कविवर आत्मस्वभाव एवं पर-वस्तुके स्वरूपमें अन्तर दिखलाते हुए कितने सुन्दर ढंगसे जीवको कर्त्तव्य-मार्गपर आरूढ़ रहनेके लिए आह्वान कर रहे हैं :

"यह तो जड़, तू ज्ञान-अरूपी, तिल-तुष ज्यों गुरु बरना हो।
राग-दोष तजि, भज समता कौं, कर्म साथ के हरना हो॥"

हे आत्मन् ! यह पुद्गल—परवस्तु जड़ है। तुम अरूपी हो और ज्ञान-मय हो। तुम दोनोंका तिल-तुषके समान सम्बन्ध है। जिस प्रकार तिलोंसे तुषको पृथक् कर देनेपर शुद्ध तैलमात्र अवशेष रह जाता है उसी प्रकार कर्म-मलसे विमुक्त होनेपर आत्मा भी शुद्ध स्वरूपसे प्रदीप्त हो उठता है। इसलिए आत्मन् ! तुम राग-द्वेषको छोड़कर अपने कर्म-बन्धनको तोड़ दो और अपने भीतर सम्पूर्ण सम-भावको जाग्रत् करो।

कविवर व्यावहारिक रूपकों-द्वारा आध्यात्मिक विषयके विवेचन करनेमें बहुत ही निपुण हैं ! कितनी परिमित पदावलीमें वह भव-सागरसे

पार हो जानेका मार्ग दिखला रहे हैं :

"यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो ।
'बुधजन' समुझि सेय जिनवर-पद, ज्यों भव-सागर तरना हो ॥"

हे आत्मन् ! इस मनुष्य-भवको प्राप्त करके भी विषय-सुखमें मग्न हो जानेका अर्थ है हाथीपर सवारी करनेके बाद सिरपर ईंधन ढोना । इस-लिए आत्मन् ! यदि तुम भव-सागरसे पार होना चाहते हो – संसारके दुःखोंसे छुटकारा चाहते हो तो तुम्हें समझदारीके साथ उन जिनेन्द्र भगवान्-के चरणकमलोंकी उपासना करनी चाहिए, जिन्होंने अपनी आत्माको कर्म-बन्धनसे मुक्त कर लिया है ।

● मनुष्य मनुष्यका जन्म लेकर भी जबतक सदाके लिए दुःखोंसे छुटकारा पानेके मार्गपर दृढ़ता एवं निष्ठासे अग्रसर नहीं होता है, कविवर 'बुधजन' की वाणी उसे पुकार-पुकारकर सम्बुद्ध करती रहेगी :

"नर-भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥"

■

बाबा मैं न काहू का

मोहका यह बहुत बड़ा मद है। संसारका मानव अनादिकालसे उसके मदमें उन्मत्त है। इसके कारण उसे एक क्षणके लिए भी शुद्ध आत्म-स्वरूप-की झलक नहीं मिल पाती। वह सोच ही नहीं पाता कि इस शरीरके अन्दर रहनेवाला 'मैं' क्या है और उसके साथी शरीर तथा अन्य बाह्य वैभव सामग्रीका इस 'मैं' से कितना और कैसा सम्बन्ध है ? फल यह होता है कि इस 'मैं' और इससे पृथक् अन्य वस्तुओंका यथार्थ विवेक न होनेके कारण यह इन सब चीज़ोंमें अपनत्व मान बैठता है और 'मैं' के स्वरूपको भूलकर बाह्य वस्तुओंमें ही 'मैं' के दर्शन करने लगता है।

"मैं सुखी दुखी, मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय, मैं सबल-दीन, मैं रंक सुभग, मूरख-प्रवीन॥"

इत्यादि कल्पनाओंमें मोहका प्रबल उद्रेक ही मूल है और इसी भावके कारण समस्त वस्तुओंमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करके यह जीव चिर-कालसे आकुल-व्याकुल हो रहा है।

काल-लब्धि आनेपर इसे आत्म-भान होता है – 'मैं' और उससे सम्ब-न्धित समस्त वस्तुओंकी ठीक-ठीक जानकारी होती है। मोह-मद मन्द हो जाता है। अन्तरात्मा 'स्व-पर-विवेक' की उज्ज्वल ज्योतिसे आलोकित हो उठती और गुनगुनाने लगती है :

"बाबा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे।
सुर-नर नाक-तिर्यक गति में, मोकौं करमन घेरा रे॥"

बाबा, मैं किसीका नहीं हूँ और मेरा कोई नहीं है–शुद्ध आत्म-स्वभाव

ही मेरी निधि है और उसकी सम्पूर्ण उपलब्धि ही मेरा लक्ष्य है। अन्य समस्त सांसारिक वस्तुओंका इस आत्म-स्वभावसे कोई मेल नहीं है। संसार-की इन चीज़ोंमें भी 'स्व' की कल्पना करनेसे मुझे कर्मोंने नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-गतियोंमें बुरी तरह रुला दिया।

अन्तर्दृष्टि खुलते ही 'मैं' से सम्बन्धित समस्त चीज़ोंकी सम्यक् प्रतीति होने लगती है और तब आत्मा बड़ी सरलतासे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपको पहचान लेती है। देखिए, अन्तस्में किस प्रकार 'स्वपर-विवेक' की ज्योति जाग्रत् हो रही है।

"मात-पिता-सुत-तियकुल परिजन, मोह-गरल उरझेरा रे।
तन-धन-वसन-भवन जड़, न्यारे, हूँ चिन्मूरति न्यारा रे॥"

माता-पिता, पुत्र, स्त्री, कुल और नौकर-चाकर – यह सब मोह-जाल-में फँसानेवाले हैं – इनमें राग और अपनत्व-बुद्धि करके आज तक हम मोह-पाशमें फँसे रहे और दुःख उठाते रहे। वास्तवमें शरीर, धन, वस्त्र और मकानका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह समस्त वस्तुएँ जड़ हैं और आत्मासे पृथक् हैं। आत्माका चैतन्य स्वभाव है और वह स्वयं इन सब चीज़ोंसे पृथक् अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

विभाव भावोंको छोड़कर किस प्रकार कविवर आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार कर रहे हैं:

"मुझ विभाव जड़ कर्म रचत हैं, करम न हम को फेरा रे।
विभाव-चक्र तजि धारि सुभावा, अब आनंद-घन हेरा रे॥"

शुद्ध आत्मा-भावको छोड़कर अन्य समस्त भाव एवं कल्पनाएँ वैभाविक हैं, जो स्वयं आत्म-स्वरूपसे पृथक् जड़स्वरूप हैं और नवीन कर्म-परम्पराकी सृष्टिके कारण हैं और कर्म ही हमें संसार-भ्रमणके द्वारा रुलाते हैं। अब हमने वैभाविक भावोंको छोड़ दिया है और शुद्ध भावोंको अपना लिया है। इस समय हम केवल शुद्ध सच्चिदानन्दमय आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार कर रहे हैं।

कविवर सच्चिदानन्द-रसके पानमें इतने तन्मय हो रहे हैं कि इसके सामने उन्हें अन्य समस्त जप-तप केवल इसी साध्यको प्राप्त करनेवाले साधन-भर ही दिखलाई दे रहे हैं। कविवरके शब्दोंमें ही सुनिए :

"खरच खेद नहिं अनुभव करते, निरखि चिदानन्द तेरा रे।
जप-तप व्रत श्रुत सार यही है, 'बुधजन' कर न अबेरा रे॥"

शुद्ध चैतन्यमय आत्मस्वरूपको साक्षात्कार करनेपर हमें त्याग करते समय खेदका अनुभव नहीं होता। क्योंकि हमने निश्चय कर लिया है कि हमारा सम्बन्ध और अपनत्व केवल अपने शुद्ध आत्म-स्वभावसे है, इसलिए अन्य समस्त पर-वस्तुओंके त्यागमें हमें तनिक भी दुःखका अनुभव नहीं होता। जप, तप, व्रत और सम्पूर्ण शास्त्रज्ञानका भी यही ध्येय है कि हमें अपने सच्चिदानन्दमय आत्म-स्वरूपके स्थिर दर्शन हों।

आज लोकमें अपने दायित्वको उपेक्षित कर कर्त्तव्यसे जी चुरानेवाले अनेक जन ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं :

"बाबा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे॥"

परन्तु कहाँ ये हैं वह व्यक्तियाँ जिन्होंने मोहान्धकारको उच्छिन्न कर सर्वस्वका त्याग कर दिया हो और कहते हों :

"बाबा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे॥"

इसपर भी संसार उन्हें ही अपना सर्वस्व मानकर उनकी वन्दना करता हो।

धर्म बिन कोई नहीं अपना

संसारमें मनुष्य अपनी अर्थशक्ति और जनशक्तिका बड़ा भरोसा रखता है। वह इन्हें अपनी निकटतम वस्तुएँ मानता है और उसे विश्वास रहता है कि समय आनेपर हमारा धन और माता-पिता, पुत्र, मित्र तथा स्त्री एवं परिजन वग़ैरह अवश्य ही हमारे काम आयेंगे और विपत्तिमें हमारे सहायक बनेंगे। परन्तु समय आनेपर यही मनुष्य देखता है कि उसका पैसा और उसके स्वजन-परिजन—कोई भी उसकी विपत्तिके साथी नहीं हैं—एक भी ऐसा नहीं है जो उसके दुःखको हलका कर सके। तब उसे मालूम पड़ जाता है कि इस जगत्में जिस धन और स्वजन-परिजनका हम 'अपना-अपना' कहकर उद्घोष करते हैं, उनमें-से एक भी 'अपना' नहीं है। उस समय उसकी विपत्तिमें यदि कोई सहायता करता है, उसे शान्ति, सुख और सन्तोष पहुँचाता है तो वह है केवल उसकी आत्माका भाव—कर्म। आत्माके परिणाम शान्ति, सन्तोष एवं समता आदि ही 'अपने' कहे जा सकते हैं, क्योंकि ये भाव आत्माके स्वभाव हैं जो निरन्तर आत्माके साथ रहनेवाले हैं। धन, स्वजन-परिजन आत्मासे पृथक् हैं और नश्वर हैं। इसलिए जो चीज़ अपनी नहीं है उसपर प्रतीति रखना व्यर्थ है और अज्ञताका सूचक है।

कविवर 'बुधजन'ने इस पदमें इसी धर्म-तत्त्वके महत्त्वका दिग्दर्शन कराया है। पदकारके शब्दोंमें ही सुनिए, क्यों हमें धर्मपर ही सम्यक् प्रतीति और अपनत्वका भाव रखना चाहिए :

"धर्म बिन कोई नहीं अपना।

सुख-संपति धन थिर नहिं जग में, जैसे रैन-सपना ॥''

आत्मन् ! संसारमें धर्म ही अपनी चीज़ है और इसपर ही भरोसा किया जा सकता है कि समय आनेपर यह हमारी विपत्तिमें सहायक होगा। जगत्की समस्त सुख-सामग्री और अर्थका कुछ भी ठिकाना नहीं है। जिस प्रकार रात्रिका स्वप्न जगनेपर मिथ्या निकल जाता है, उसी प्रकार जगत्का यह वैभव भी क्षणनश्वर है और रात्रिके स्वप्नके समान न अपनेमें कुछ अर्थ रखता है और न इस आत्माको समयपर कुछ सहायता पहुँचा सकता है।

वास्तवमें धर्मके बिना कोई अपना नहीं है।

कविवर कहते हैं, हमारा वर्तमान अतीतके धर्माचरण और अनाचरण-का फल है और भविष्यका निर्माण हमारे वर्तमान धर्माचरणपर निर्भर है। कितने स्पष्ट शब्दोंमें वह धर्माचरणकी उपयोगितापर प्रकाश डाल रहे हैं :

''आगे किया, सो पाया भाई, याही है निरना।
अब जो करैगा, सो पावैगा, तातैं धर्म करना ॥''

आत्मन् ! यह बिलकुल स्पष्ट है कि पूर्व जन्ममें जो कुछ तुमने धर्मका पालन किया उसके अनुसार ही तुम्हें वर्तमानमें सुख-सामग्री प्राप्त हुई है और वर्तमानमें जैसा धर्माचरण करोगे तदनुसार ही भविष्यमें साधन-सामग्री मिलेगी। इसलिए पूर्ण शान्ति और सुख प्राप्त करनेके लिए केवल धर्मका ही पालन करना चाहिए।

कविवर लोक-दृष्टिसे भी धर्माचरणकी महत्ताका समर्थन कर रहे हैं। वे कहते हैं :

''ऐसैं सब संसार कहत है, धर्म कियैं तिरना।
पर-पीड़ा विसनादिक सेवैं, नरक विषैं परना ॥''

समस्त संसार इस बातका समर्थन करता है कि यह जीव धर्मके द्वारा ही संसार-सागरसे पार होता है। इसके विपरीत जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है और व्यसन आदिका सेवन करता है वह नरकमें जाता है और असीम

दुःखोंको उठाता हुआ संसार-समुद्रमें गोते लगाता रहता है।

संसारमें सुख-दुःख कर्माधीन हैं। शाश्वत सुख-लाभ धर्मसे ही हो सकता है। कविवर कहते हैं अशुभ कर्मका उदय राजा और रंक किसीका नहीं छोड़ता है। सुनिए :

"नृप के घर सारी सामग्री, ताकैं ज्वर तपना।
अरु दारिद्री कैं हू ज्वर है, पाप-उदय थपना॥"

राजा भी इस संसारमें सुखी नहीं है और दरिद्र भी सुखी नहीं है। राजाके यहाँ यद्यपि सम्पूर्ण सुख-सामग्री विद्यमान है, फिर भी तृष्णाके कारण वह सामग्री उसे दुःख और सन्ताप ही पहुँचा रही है। दरिद्री तो अपने अशुभ कर्मके कारण अभावमें दुःखी है ही।

कविवर कह रहे हैं, विपत्तिमें कोई सगा-सम्बन्धी साथ नहीं देता। संसार स्वार्थी है। उससे सहायताकी आशा करना दुराशामात्र है। ऐसे अवसरोंपर धर्मका ही केवल भरोसा किया जा सकता है। उनके ही शब्दोंमें सुनिए :

"नातो तो स्वारथ के साथी, तोहि विपति भरना।
वन-गिरि-सरिता अगनि जुद्ध में धर्महि का सरना॥"

आत्मन्! तेरे जितने भी सम्बन्धीजन हैं, जिन्हें तू अपना बतलाता है, सब स्वार्थके साथी हैं – अपना काम निकल जानेपर तुम्हारा कोई भी साथ देनेवाला नहीं है। विपत्तियोंका बोझ तुझे अकेले ही उठाना होगा। वनमें, पहाड़ोंपर, नदी और अग्निकाण्डोंमें तथा युद्ध-जैसे अवसरोंपर केवल धर्म ही तुम्हारी शरण हो सकता है।

कविवरके शब्दोंमें ही धर्मकी संक्षिप्त रूपरेखा सुनिए :

"चित 'बुधजन' सन्तोष धारना, पर-चिन्ता हरना।
विपति पड़ै तो समता रखना, परमातम जपना॥"

आत्मन् ! चित्तमें सदैव सन्तोष धारण करना, दूसरोंकी आकुलताको दूर करना, विपत्ति-कालमें व्याकुल न होकर समता धारण करना और निरन्तर परमात्माका पुण्य स्मरण करना–यही धर्म है। जगत्में धर्मके सिवाय कोई अपना नहीं है।

"धर्म बिन कोई नहीं अपना"

■

तैं तो अमृत तजि विष लीना

अबोध मानव अपनी अज्ञानतामें बड़े-बड़े अनर्थ और भूलें कर डालता है। वह इस बातका तनिक भी विवेक नहीं कर पाता कि किस चीज़में उसका लाभ है और किसमें हानि। ऐसी अवस्थामें वह अपनी हितकारी वस्तुको भी छोड़ देता है और हानिकारी वस्तुको अपना लेता है। उसे क्या पता कि इस चीज़में उसे लाभ हो सकता है और इस चीज़में हानि। फलतः वह अमृतको भी छोड़ देता है और विषको अपना लेता है।

एक दीर्घकालीन साधनाके बाद यह जीव मनुष्य-योनिमें जन्म लेता है, अपने शाश्वत कल्याणका अवसर प्राप्त करता है, फिर भी यदि इसकी संसार-भोगोंके प्रति आसक्ति कम नहीं होती है तो इससे बढ़कर इसकी नादानी और क्या हो सकती है? अपनी अज्ञानावस्थामें यह नादानी क्षम्य भी मानी जा सकती है; परन्तु सत्परामर्श मिलनेपर भी जब यह अपनी भूलको स्वीकार नहीं करता है और इसके विपरीत अपने सच्चे हितैषीसे ही खीजने लगता है तब इसकी नादानी अक्षम्य और निष्प्रतीकार हो जाती है।

कविवर 'बुधजन' प्रस्तुत पदमें इस कोटिके नादान व्यक्तिके लिए ही सम्बोधन कर रहे हैं। वे कहते हैं :

"तैं क्या किया नादान, तैं तो अमृत तजि विष लीना।
लख चौरासी जौनि माँहि तैं, श्रावक-कुल में आया।
अब तजि तीन लोक के साहब, नवग्रह-पूजन धाया॥"

रे मूर्ख, तूने यह क्या किया? तूने तो अमृत छोड़कर विष ले लिया।

चौरासी लाख योनियोंमें अनादिकालसे भ्रमण करते हुए बड़ी कठिनाईसे तूने एक सद्गृहस्थके कुलमें जन्म लिया, इस समय तुझे सम्यक् आत्म-कल्याणके लिए त्रिलोकीनाथ श्री जिनेन्द्रदेवको अपना आदर्श बनाना चाहिए था; परन्तु ऐसा न करके तू नवग्रहोंकी पूजामें संलग्न हो गया।

आज भक्तजन भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए मन्दिरमें जाते हैं; परन्तु वे यथार्थ भगवद्भक्तिका स्वरूप नहीं समझते और न उसके ध्येयसे ही अवगत होते हैं। यही कारण है कि वे करते तो हैं वीतराग भगवान्‌के दर्शन; पर उनका मन भगवान्‌की वीतरागताकी ओर आकर्षित न होकर पुत्रके साथ खेलने लगता है। देखिए; कविवरने भगवद्भक्तिका प्रदर्शन करनेवाले भक्तोंका कैसा सजीव चित्र अंकित किया है :

"वीतराग के दरसन ही तैं, उदासीनता आवै।
तू तो जिन के सन्मुख ठाड़ा, सुत को ख्याल खिलावै॥"

शुद्ध हृदयसे वीतराग भगवान्‌के दर्शन करनेपर मनमें निर्विकार वीत-राग भाव जाग्रत् होते हैं; परन्तु रे मूर्ख, तू कर तो रहा है वीतराग जिनेन्द्र-के दर्शन और खिला रहा है मनसे अपने पुत्रको। यह भगवद्भक्ति नहीं है। इसे भगवद्भक्तिका दिखावा या पुत्र-भक्ति कहा जा सकता है।

जिन-भक्तिका लक्ष्य और महत्त्व संसार-मुक्ति है। कविवरके शब्दोंमें सुनिए कि आज यही जिनभक्ति किस प्रकार संसार-भोगैषणाकी साधना बनायी जा रही है। कविवर कहते हैं :

"सुरग-सम्पदा सहजै पावै, निश्चय मुक्ति मिलावै।
ऐसी जिनवर-पूजन सेती जगत्-कामना चावै॥"

जिनेन्द्र-भक्ति करनेसे परिणामोंमें जो निर्बलता आती है उसके कारण स्वर्गकी विभूति तो बड़ी सरलतासे मिल जाती है, पर सर्वाधिक कठिन साध्य जो संसार-बन्धनसे मुक्ति है उसे भी विशुद्ध जिनभक्त प्राप्त कर लेता है। परन्तु रे मूर्ख, तू इस प्रकार सर्वातिशायी फलदान करनेवाली

जिनभक्ति-द्वारा भी जगत्-कामनाओंका ही पोषण करता है। धिक्कार है तेरी इस कुबुद्धिको !

मनुष्यके मनमें सांसारिक वासनाओंके प्रति इतना तीव्र अनुराग है कि विवेकी व्यक्ति-द्वारा बतलायी जानेवाली अपनी भूलको भी वह स्वीकार नहीं करता है। इसके विपरीत वह उस सन्मार्गदर्शकसे ही झगड़ बैठता है और सत्यको असत्य मानकर फिर उसी असीम संसारका ताना-बाना बुनना प्रारम्भ कर देता है। कविवरके शब्दोंमें सुनिए :

"'बुधजन' मिलैं सलाह कहैं तन, तू वापै खिजि जावै।
जथाजोग कौं अजथा मानै, जनम-जनम दुख पावै॥"

कविवर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति अपने सत्परामर्शदाताओंसे भी खीजने लगते हैं; जब कि संसारमें सत्परामर्शदाता भी बड़ी कठिनाईसे मिलते हैं। फल यह होता है कि यह व्यक्ति तब सत्यको भी असत्य मान बैठता है और फिर उसी संसार-चक्रको प्रारम्भ कर देता है।

कविवरकी यह स्पष्टोक्ति जिनभक्तिके नामपर मिथ्या प्रदर्शन करने-वालोंके प्रति एक सच्चे परामर्शदाताके रूपमें आज भी संकेत कर रही है :

"तैं क्या किया नादान, तैं तो अमृत तजि विष लीना॥"

■

सुकृत का सौदा कर लैं

संसार एक बाज़ार है और मनुष्य उसका एक व्यापारी है। व्यापारी बाज़ारमें जाता है और सौदा ख़रीदता है। जो व्यापारी सौदेका पारखी होता है वह हमेशा ऐसा सौदा ख़रीदता है, जिसमें उसे अधिकाधिक लाभ हो। हानि पहुँचानेवाले सौदेका वह स्पर्श भी नहीं करता। परन्तु जिस व्यापारीको अच्छे-बुरे मालकी परख नहीं होती वह खराब सौदा भी ख़रीद लेता है। फल यह होता है कि एक व्यापारी अपनी व्यापारिक कुशलताके कारण दिन-प्रतिदिन प्रगति करता है और व्यापारमें पूर्ण सफलता प्राप्त करता हुआ सुख और शान्तिका अनुभव करता है और दूसरा अपनी अज्ञानताके कारण सदैव घाटेमें रहता है और अपने दुर्दैवपर आँसू बहाता रहता है।

तो कविवर बुधजनकी दृष्टिमें संसार एक बाज़ार है और उसका प्रत्येक मनुष्य एक व्यापारी है। इस संसार-बाज़ारमें मानव-व्यापारीको सुकृतका सौदा करना है। ऐसा करनेपर ही वह अपने जीवनमें लाभ उठा सकेगा—जीवनका शाश्वत आनन्द ले सकेगा। इसके लिए मानव-व्यापारीको प्रतिक्षण अपनी विवेक-बुद्धि जाग्रत रखनी है। उसे अतीतके घाटेके सौदेपर, वर्तमानमें सुकृतके सौदेपर और भावी जीवनको परमानन्दमय एवं पूर्ण निराकुल बनानेके लक्ष्यपर सतर्कतासे दृष्टि रखनी है। एक क्षणका प्रमाद उसे अनन्त घाटेका सौदा करा सकता है। देखिए, कविवर इस ओर कितने हृदयस्पर्शी शब्दों-द्वारा प्रेरणा कर रहे हैं :

> "कर लै हो जीव, सुकृतका सौदा कर लै,
> परमारथ कारज कर लै हो।"

"उत्तम कुल को पायकैं, जिनमत-रतन लहाय ।
भोग भोगवे कारनैं, क्यों शठ देत गमाय ॥"

हे आत्मन् ! तू इस संसार-बाज़ारमें परमार्थके लिए, आत्म-कल्याणके लिए सुकृतका सौदा कर ले – सम्यक् आचारका पालन कर । तूने सौभाग्य-से सर्वश्रेष्ठ सद्गृहस्थके कुलमें जन्म लिया है और इसपर भी तुझे वीतराग जैन धर्मके मार्गपर चलनेका सुअवसर मिला है । फिर भी रे मूढ़ आत्मन् ! तू इस सुयोगको क्यों क्षणिक एवं विनश्वर भोग-विलासमें बिताये दे रहा है ?

कविवर कहते हैं :

"व्यापारी बन आइयौ, नर-भव-हाट-मँझार ।
फलदायक व्यापार कर, नातर विपति तयार ॥"

रे आत्मन् ! तू व्यापारीके रूपमें इस संसार-बाज़ारमें आया है । तेरा कर्त्तव्य है कि तू ऐसा व्यापार कर जिससे तू लाभमें रहे और जीवन सब प्रकार आनन्दमय हो जाये । यदि तू ऐसा नहीं करता है तो विपत्तिको तू अपने सिरपर तैयार खड़ी समझ ।

कविवर कहते हैं कि न मालूम कबसे यह जीव इस बाज़ारमें सौदा करता चला आ रहा है और अबतक इसे ऐसा निमित्त नहीं मिल सका जो यह लाभका सौदा करके जीवनको निर्द्वन्द्व बना पाता । अब इसे सुयोग मिला है तो इसे उसका अवश्यमेव सदुपयोग करना चाहिए । कविवर लाभ-के सौदेकी ओर एक हलका किन्तु गम्भीर संकेत कर रहे हैं ।

"भव अनन्त धरतौ फिर्यौ, चौरासी वन माँहि ।
अब नरदेही पायकैं, अघ खोवै क्यों नाँहि ॥"

रे आत्मन् ! तूने चौरासी लाख योनियोंमें अनन्त भव धारण किये । बड़ी कठिनाईसे तूने यह मानव-शरीर प्राप्त किया है—संसार-बाज़ारमें सुकृतका सौदा करनेका यह देव-दुर्लभ सुयोग तुम्हें प्राप्त हुआ है । अब तुम्हारा कर्त्तव्य है कि जिन दुर्वासनाओंके कारण तुम्हें इन अनन्त भवोंमें

दु:ख उठाने पड़े उन्हें अपने मनसे एकदम दूर कर दो। यह मलिन भावनाएँ ही तुम्हारे लाभके सौदेमें बाधा करनेवाली हैं।

कविवर हानि-लाभ पहुँचानेवाले सौदेके कतिपय अन्य रूपोंकी ओर संकेत कर रहे हैं :

"जिनमुनि आगम परखकैं, पूजौ करि सरवान।
कुगुरु, कुदेव के मान वैं, फिर्यौ चतुर्गति थान॥"

हे आत्मन्! अब तुम अपने विवेकको सजग रखकर परीक्षा-प्रधानी बनो। इस बातको परखनेका प्रयत्न करो कि तुम्हें किस गुरु-देवका आदेश या उपदेश लाभ पहुँचा सकता है। जो साधु वीतराग एवं निर्विकारी हैं राग-द्वेषकी कुवासनाओंपर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, वे ही सच्चे साधु हैं और वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी आप्तकी वाणीसे जिसकी रचना है वही सच्चा आगम है। इस प्रकारका विवेक रखकर आत्मन्! तू श्रद्धाके साथ सच्चे साधु और आगमका ही आदेश मानो। कुगुरु एवं कुदेवको पूजते हुए अबतकका जीवन व्यर्थ ही बिता दिया।

देखिए, कविवर किस प्रकार अनादिकालीन निद्रा एवं चिर-प्रमादको दूर करनेके लिए मानवात्माको सम्बुद्ध कर रहे हैं :

"मोह-नींद माँ सोवता, डूबौ काल अटूट।
'बुधजन' क्यों जागौ नहीं, कर्म करत है लूट॥"

आत्मन्! मोह-निद्रामें पड़े-पड़े तुम्हें चिरकाल व्यतीत हो गया। तुम्हें पता नहीं है कि कर्म-चक्र किस प्रकार तुम्हारे आत्म-गुण रत्नोंकी लूट कर रहा है। जागो, अब भी नहीं जाग रहे हो!

जीवन-व्यापारमें लाभ उठानेके इच्छुक प्रत्येक मानवात्माके लिए कविवरकी यह पवित्र प्रेरणा न मालूम कबतक स्फूर्ति दान करती रहेगी :

"सौदा कर लै, कर लै हो जीव,
सुकृत का सौदा कर लै हो॥"

■

यह वरदान सुपाऊँ

मनुष्य कामनाओं और अभिलाषाओंका दास है। उसकी भगवद्भक्ति भी निष्काम नहीं होती। उसमें भी एक-न-एक कामना रहती ही है। कोई भक्त भगवान्‌से पुत्र माँगता है, कोई पैसा माँगता है और कोई पूजा-प्रतिष्ठा आदि। ग़रज़ यह कि भगवान्‌की भक्तिके पीछे भी चाह और अभिलाषा अवश्य रहती है। ऐसे भक्त बहुत बिरले होते हैं जो निष्काम होकर भगवान्‌की भक्ति करते हैं। मालूम देता है जैसे निष्काम भक्तिका आधार इतना सूक्ष्म और लोक-दृष्टिसे नीरस है कि भक्त जन अधिकांशत: उस ओर प्रवृत्त ही नहीं होते। दूसरी ओर भव-भोगरत मानवकी भक्तिका आधार एकदम स्पष्ट और सरस होता है और लक्ष्य-प्राप्तिकी लालसामें वह बड़ी तन्मयताके साथ उसे पकड़े रहता है। परन्तु सकाम भक्तका इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं जाता है कि कामनाको लेकर की गयी उसकी भगवद्भक्ति भगवद्भक्ति न रहकर कामना-भक्ति ही बनी रहती है, क्योंकि भगवद्भक्तिके कालमें उसकी मनोगति इष्ट कामनाकी ओर ही गतिशील रहती है, भगवान्‌के गुणोंमें तो उसे अनुराग हो नहीं पाता। फलत: कामना-पूर्तिके लिए आवश्यक साधना न होनेसे वह अपने ध्येयमें असफल रहता है, भगवद्भक्तिके प्रति अविश्वास करने लगता है और दुर्दैवको कोसने लगता है। निष्काम भक्तिका ध्यान निरन्तर भगवान्‌के गुणोंकी ओर केन्द्रित रहता है। अत: उस कालमें वह न केवल शुभ कर्मोंका आस्रव करता है, अपितु पूर्वबद्ध कर्मोंको निर्जरा भी करता है और लक्ष्य-प्राप्तिमें सदैव सफल रहता है।

कविवर भागचन्द्र भी ऐसे ही निष्काम भक्तोंमें-से हैं। वह भगवान्-के अनन्य भक्त हैं, परन्तु इस अप्रतिम भक्तिवश वह भगवान्से किसी लौकिक एवं भौतिक विभूति प्राप्त करनेकी कामना प्रकट नहीं करते। उनकी केवल एक ही कामना है जो कामना होकर भी ऐसी कामना है जिसकी पूर्ति होनेपर भक्त एकदम निष्काम और परमानन्दमय हो जाता हैं — उसकी समस्त चाह-दाह क्षीण हो जाती है और उसकी आत्मा अपने ही शुद्ध-बुद्ध सागरमें सदाके लिए डूब जाती है। देखिए, भक्तप्रवर भागचन्द्र भगवान्से क्या वरदान माँग रहे हैं। वे कहते हैं :

"प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ।"

भगवन्! मुझे ऐसा वरदान दीजिए, जिससे मैं पुनः संसारके कीचड़में न फँसूँ — मेरा अनादिकालीन संसार-परिभ्रमण समाप्त हो जाये। वह भगवान्से वरदान चाहते हैं, एक कामना करते हैं; परन्तु जब इस वरदान और कामनाका सर्वात्मना विश्लेषण करते हैं तब यह वरदान न वरदान ठहरता है और न कामना कामना। उसके इच्छित वरदानकी एक झाँकी देखिए।

"जल-गंधाक्षत पुष्प सुमोदक, दीप-धूप-फल सुन्दर ल्याऊँ।
आनन्द-जनक कनक-भाजन धरि, अर्घ अनर्घ बजाय चढ़ाऊँ॥"

भक्त-शिरोमणि भागचन्द्र भगवान्से एक अलौकिक वरदानकी याचना कर रहे हैं। वे कहते हैं : भगवन्! मुझे ऐसा वरदान दीजिए, जिससे मैं जल, सुगन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन अष्ट द्रव्योंको और इन द्रव्योंके मेलसे बनाये गये अर्घको एक परम रमणीय कनक थालमें सुसज्जित करके आपके श्रीचरणोंमें अर्पित करूँ।

कविवर भागचन्द्रकी भक्ति एक वैज्ञानिक भक्ति है और उसका यह व्यावहारिक निरूपण है। उनकी भगवद्भक्तिका एक पहलू है **'स्वाध्यायः परमं तपः'** और सत्संग। आगमके अभ्यास एवं स्वाध्यायको वह शुद्ध

आत्मानुभूति—यथार्थ आत्म-दर्शनका साधन मानते हैं और सत्संगमें आत्मा-के परमादर्शकी झाँकी पाते हैं। उनके ही शब्दोंमें सुनिए :

"आगम के अभ्यास माँहि पुनि, चित एकाग्र सदैव लगाऊँ।
संतनि की संगति तजि कै मैं, अन्त कहूँ छिन एक न जाऊँ॥"

हे भगवन्! मेरा मन निरन्तर आगमोंके परिशीलनमें लगा रहे, जिससे मुझे निरन्तर आत्म-स्वरूपके यथार्थ दर्शन होते रहें और मैं सदैव साधुओंके समागमका लाभ उठाता रहूँ, उन्हें एक क्षणके लिए भी छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाऊँ—मेरा मन प्रतिक्षण साधुओंके निर्विकार एवं लोकोत्तर आदर्शको जीवनमें मूर्तिमन्त करनेकी ओर लगा रहे।

भक्त-हृदयकी आकांक्षाएँ अभी समाप्त नहीं हुई हैं। भक्त-हृदय अपने लोक-मंगलकारी स्वरूपको सर्वात्मना प्रकट किये बिना रुक नहीं सकता। देखिए :

"दोष-वाद में मौन रहूँ फिर, पुण्य पुरुष-गुन निशिदिन गाऊँ।
मिष्ट इष्ट सब ही सौं भाषौं, वीतराग निजभाव बढ़ाऊँ॥"

भगवन्! मैं दूसरोंकी निन्दा-बुराई करनेमें सदैव मौन रहूँ – पर-निन्दाका भाव तक मेरे मनमें न आये। मैं प्रतिक्षण वीतराग महात्माओंके गुणोंका गान करता रहूँ। मैं सबसे ही मीठा और प्रिय सम्भाषण करूँ और अपने भावोंको भी निर्विकार वीतरागताकी ओर आकर्षित करता रहूँ।

कविवरकी अन्तिम साध है, परमानन्द स्वरूप अन्तरात्मामें रमण। जबतक इस भव-बन्धनसे उन्हें मुक्ति नहीं मिलती तबतक ही वह भगवान्-के वीतराग आदर्शका अवलम्ब लेना चाहते हैं। उनकी जीवन-साध उन्हींके शब्दोंमें सुनिए :

"बाहिज दृष्टि ऐंच कैं अन्तर, परमानन्द स्वरूप लखाऊँ।
'भागचन्द्र' शिव प्राप्त न जौ लौं तौ लौं तुव चरणाम्बुज ध्याऊँ॥"

भगवन्! मैं अपनी आत्म-विमुख बाह्य दृष्टिको खींचकर अपने अन्दर

विराजमान परमानन्दमय आत्म-दर्शनमें संलग्न बना रहूँ और बाहरकी वस्तुओंसे अपनी दृष्टिको यहाँतक हटाऊँ कि आपके चरणोंका भी—आपके वीतराग आदर्शका भी तबतक अवलम्ब लूँ जबतक मैं स्वयं वीतराग मुक्त न बन जाऊँ।

भक्तप्रवर भागचन्द्र भगवान्से वरदान चाहते हैं कि वह वीतराग बन जायें, जिससे उन्हें पुन: संसारमें न रोना पड़े।

आजके कामनाकुल संसारके लिए कविवरकी इस भक्तिभावनामें एक गहरा सन्देश छिपा हुआ है ! क्या वह उसे समझेगा ?

"प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ ॥"

■

जे दिन तुम विवेक बिन खोये

अज्ञान समस्त दुःखोंकी जड़ है। यह एक ऐसी वस्तु है जो आत्म-विवेकको आच्छन्न किये रहती है, ऐसा अन्धकार है जिससे आत्माका ज्ञान-सूर्य भी निष्प्रभ एवं निस्तेज बना रहता है। फलतः अज्ञानावस्थामें यह आत्मा हित और अहितको नहीं पहचान पाती। जिस प्रकार मदिरा पीकर मनुष्य मदमत्त हो जाता है और उसे अच्छे और बुरेका, कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्यका कुछ भी विवेक नहीं रहता, उसी प्रकार अज्ञानकी अवस्था-में भी मनुष्य इतना आत्म-विस्मृत रहता है कि वह हेय और उपादेयमें तनिक भी विवेक नहीं कर पाता। फल यह होता है कि जो वस्तु उसे हानि पहुँचा सकती है वह उसीको लाभकर मान बैठता है और जब उस वस्तुसे, उसे आनन्द नहीं मिलता, तो वह निराश होकर उद्विग्न हो उठता है। वह एक बार नहीं अनन्त बार इस प्रकार मार्ग-भ्रष्ट होता है और दुःख उठाता है। आत्माकी अनादिकालीन संसार-यात्रा अज्ञानमूलक ही है। अज्ञानके कारण उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी नहीं हो पाती। वह बहिर्मुखी रहती है और वह बाह्य-जगत्के वैभवमें आनन्दकी खोज करता है। आनन्द और शान्ति आत्म-वस्तुएँ हैं। वे पर-वस्तुमें कैसे मिल सकती हैं। पर आत्माका अज्ञान पर-वस्तुमें ही आत्म-वस्तुकी खोज करना चाहता है। वह बार-बार पर-वस्तुको पकड़ता है और उसमें-से आनन्द और शान्ति निका-लनेका प्रयत्न करता है, पर प्रत्येक बार असफल रहता है और दुःखी होता है। पता नहीं, इस आत्माने इस प्रकार कितने अनगिनत क्षण विवेक-विकल होकर निकाल दिये।

विवेक-सूर्यके प्रकाशने कविवर भागचन्द्रकी अन्तरात्माके कोने-कोनेको आलोकित कर दिया है। उन्हें स्व और परका बहुत स्पष्ट बोध हो चुका है। वह आज आत्मलोचन कर रहे हैं और उन्हें इस बातका बड़ा पश्चात्ताप और दुःख हो रहा है कि न जाने कितने असंख्य क्षण उन्होंने अपनी अज्ञानावस्थामें व्यतीत कर दिये। कविवर कहते हैं :

"जे दिन तुम विवेक बिन खोये।
मोह-वारुणी पी अनादि तें पर-पद में चिर सोये।
सुख-करण्ड चितपिण्ड आप-पद, गुन अनन्त नहिं जोये॥"

हे आत्मन्! तुमने इतने दिन विवेकके बिना ही बिता दिये। तुम अनादिकालसे मोहरूपी मदिराको पीकर चिरकाल तक 'पर-पद'में ही सोते रहे — अपनेको भूलकर पर-वस्तुको ही आत्म-वस्तु समझते रहे। तुमने उस आत्म-पदकी ओर ध्यान ही नहीं दिया, जो अनन्तगुणमय एवं चैतन्यपुंज है और अनन्त सुखकी राशि है।

कविवरका आत्मालोचन आत्माकी विवेक-विकल-अवस्थाके मूल कारण तक पहुँचता है और देखिए, वह उसका कितना वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं :

"होय बहिर्मुख, ठानि राग-रुख, कर्म-बीज बहु बोये।
तसु फल सुख-दुख सामग्री लखि, चित में हरषे रोये॥"

हे आत्मन्! पहले तुम बहिर्मुख हुए — तुमने अपनी वृत्तिको अन्तर्मुख न करके बाह्य वस्तुओंको पकड़नेमें लगा दिया, उनसे राग करने लगे और असीम कर्म-बीज बोने प्रारम्भ कर दिये। कर्म-फलने सुख-दुःखकी सामग्री जुटानी शुरू की। सुख-सामग्री पाकर तुमने खुशी मनायी और दुःख-सामग्रीको देखकर तुम रो पड़े।

अज्ञान-अवस्थामें आत्मा पर-वस्तुमें राग-द्वेष करता है और निरन्तर नवीन कर्मोंका आस्रव करता है। जबतक आस्रव जारी रहता है, संसार-

रोग दूर नहीं हो सकता। आस्रवको रोकनेका प्रमुख उपाय है — ध्यान। ध्यान आत्म-दृष्टिको अन्तर्मुखी करता है और उसे बाह्य-वस्तुके लोभसे अछूता रखता है। कविवरके शब्दोंमें सुनिए :

"धवल ध्यान शुचि सलिल-पूर तैं, आस्रव-मल नहिं धोये।
पर द्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ॥"

हे आत्मन्! तुमने शुक्लध्यानरूपी पवित्र जल-प्रवाहसे आस्रवमलको स्वच्छ नहीं किया। तुम सदैव पर-वस्तुओंको प्राप्त करनेकी कामना करते रहे और विविध वस्तुओंका विशाल संग्रह करके एक क्षणके लिए भी तुम्हारी आसक्ति उनसे दूर नहीं हुई।

कविवर भागचन्द्रका आत्म-दर्शन बहुत स्पष्ट है, सत्य है और अडोल है। मोक्ष-मार्ग ही उन्हें 'सम-रस' का लहराता सागर दिखलाई दे रहा है। उनकी इस श्रद्धाको कोई भी खण्डित नहीं कर सकता कि विशुद्ध आत्म-रमणमें ही सच्ची शान्ति और सम्पूर्ण सुख है। देखिए, कविवर अपने आत्म-दर्शनकी किस प्रकार समाप्ति कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"अब निज में निज जान नियत तहाँ, निज परिनाम समोये।
यह शिवमारग समरससागर, 'भागचन्द, हित तो ये ॥"

हे आत्मन्! अब मैंने तुम्हारे यथार्थ दर्शन कर लिये हैं और इस समय आत्माको ही आत्म-वस्तु समझकर अपने परिणामोंको अन्तर्मुख—आत्माभिमुख ही किये हुए हूँ — पूर्ण रीतिसे आत्म-रमण कर रहा हूँ। कविवर कहते हैं, यह अचल आत्मानुभव ही मोक्ष है, जहाँ शान्ति-रसका अपूर्व सागर हिल्लोलित रहता है और आत्माका कल्याण भी इसी आत्मानुभूतिमें निहित है।

आजका मानव आत्मदर्शन नहीं, पर-दर्शनके पीछे पड़ा हुआ है। उसकी विवेक-परिभाषा भी अपनी स्वतन्त्र है। ऐसी स्थितिमें कविवरके आत्म-दर्शनसे प्रेम रखनेवाले और उसे वास्तविक समझनेवाले कितने हैं?

फिर भी इसमें दो मत नहीं हो सकते कि यदि हम यथार्थ आत्म-शान्ति चाहते हैं तो हमें एक दिन कविवरके द्वारा बतलाये गये मार्गपर चलना ही पड़ेगा – 'नान्यः पन्थाः'।

"जे दिन तुम विवेक बिन खोये।"

■

खूब चित्त लगावना

संसार सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकारके विभिन्न सिद्धान्तोंकी सदासे ही ऐसी क्रीड़ा-भूमि रहा है, जिसमें जीवन-संशोधनका इच्छुक मानव कल्याणकारी मार्गको निश्चय करने एवं अपनानेमें बड़ी कठिनाईका अनुभव करता है। सम्यक् और मिथ्या – दोनों ही सिद्धान्त अपनी-अपनी चमकसे उसकी दृष्टिको प्रभावित करते हैं और स्वयंकी परीक्षा-प्रधान निर्णायक शक्ति न होनेसे वह दिङ्मूढ हो जाता है और मिथ्यासिद्धान्त अपनाकर जीवन-लक्ष्यको पूर्ण करनेमें असफल रहता है। परन्तु यदि उसे कोई कल्याणाभिलाषी पथ-प्रदर्शक मार्ग-दर्शन कराता है तो उसे समीचीन सिद्धान्तोंको चुननेमें कुछ भी कठिनाई नहीं होती और वह उन्हें जीवनमें उतारकर लक्ष्य-सिद्धिमें पूर्ण सफल रहता है।

कविवर भागचन्द्र इस पदमें ऐसे ही जन-मंगलाभिलाषी पथ-प्रदर्शकका प्रतिनिधित्व करते हुए दिखलाई दे रहे हैं। उनके पथ-प्रदर्शनके मननसे प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वपर-कल्याणके लिए जिन जीवन-सिद्धान्तोंको निर्धारित किया है, उनकी वह विधिवत् छान-बीन कर चुके हैं और सब प्रकारसे स्वपर हितकारी होनेके नाते ही उन्हें जीवनमें आत्मसात् करनेका दूसरोंके लिए उपदेश कर रहे हैं। यही कारण है कि हम उनके परोपदेश-दानमें एक अनुभवी दृढ़ श्रद्धावान्की अखण्ड श्रद्धाका दर्शन करते हैं। कविवर कहते हैं :

"अहो, या उपदेश माँही, खूब चित्त लगावना।
होयगा कल्यान तेरा, सुख अनन्त बढ़ावना॥

रहित दूषन विश्वभूषन, देव जिनपति ध्यावना।
गगनवत् निर्मल अचल मुनि, तिनहिं शीश नवावना॥"

हे आत्मन्! तुम इस उपदेशको बड़ी संलग्नताके साथ जीवनमें उतारना। इस उपदेशके आचरणसे तुम्हारा कल्याण होगा और इससे ही तुम्हारा अनन्त सुख बढ़ेगा।

आत्मन्! तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि तुम ऐसे जिनेन्द्रदेवका ध्यान करो – और उनके आदर्शको जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करो, जिन्होंने आत्माकी समस्त कालिमाको धोकर उसकी सम्पूर्ण शक्तियोंको विकसित कर लिया है, जो समस्त दोषोंसे रहित हो चुके हैं और विश्वके लिए मनोज्ञ आभूषणके समान जो सर्वप्रिय हैं। नमस्कार भक्ति भी तुम्हारी उन मुनियोंके प्रति होनी चाहिए, जिनका चरित्र आकाशके समान निर्मल एवं अविचल है।

यहाँ कविवर आत्माको सम्यक् धर्मका परिचय देते हुए सम्यक् श्रद्धावान् होनेका उपदेश कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"धर्म अनुकम्पा-प्रधान, न जीव कोइ सतावना।
सप्त तत्त्व परीक्षना करि, हृदय श्रद्धा लावना॥"

आत्मन्! सच्चा धर्म वह है, जिसमें जीव-दयापर बल दिया गया हो और मनसा वाचा कर्मणा किसी भी जीवको सतानेका विधान न हो। इसके अतिरिक्त आत्मन्! तुम जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन सात तत्त्वोंकी सम्यक् परीक्षा कर अपने मनमें सम्यक् श्रद्धाको प्रतिष्ठित करो – सम्यग्दृष्टि बनो।

आत्मामें सम्यक् श्रद्धाको प्रतिष्ठित करनेकी पद्धति भी कविवरकी बहुत सुलझी हुई है। सुनिए, वह कहते हैं :

"पुद्गलादिक तैं पृथक, चैतन्य ब्रह्म लखावना,
या विधि विमल सम्यक्त्व धरि, शंकादि-पंक बहावना॥"

हे आत्मन् ! तुम अपने इस चैतन्य ब्रह्मको पुद्‌गल आदि द्रव्योंसे भिन्न समझो – पर-वस्तुमें किंचित् भी आत्म-बुद्धि न करो। इस प्रकार निर्मल सम्यक्त्वको धारण करो और शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि दूषित मनोविकारोंको सर्वथा अन्तस्‌से दूर कर दो।

संसारमें ऐसे अधिक जन हैं, जिन्हें हितोपदेश रुचिकर लगे; क्योंकि उसके आचरणके लिए उन्हें एक चिर-अभ्यस्त सहज संसार – मार्गसे हटकर कष्टसाध्य त्याग एवं साधनाका जीवन व्यतीत करनेके लिए तैयार होना पड़ता है। मानव कितनी ही लम्बी अवधिसे अस्वस्थ और दुःखी हो; पर उसे कटु ओषधिके पीनेमें ज़ोर ही पड़ता है। बहुत कम ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कड़वी दवाके पीनेमें तनिक भी संकोच नहीं करते और निर्वि-कार भावसे श्रद्धापूर्वक उसे गले उतार जाते हैं। अपने उपदेशके सदुपयोग करनेके सम्बन्धमें कविवरकी भी यही श्रद्धा है। वह कहते हैं :

"रुचैं भव्यन को वचन जे, शठन को न सुहावना।
चन्द्र लखि ज्यों कुमुद विकसै, उपल नहिं विकसावना॥"

यह हितोपदेश भव्य जीवोंके लिए ही रुचिकर लगेगा, अभव्य आत्मा इसे सुनकर कभी भी उत्फुल्ल नहीं हो सकता। चन्द्रोदय होनेपर कुमुद ही तो विकसित होते हैं; पत्थर तो विकसित नहीं हो सकते। कविवर अपने उपदेशका उपसंहार करते हैं :

"'भागचन्द्र' विभाव तजि, अनुभव स्वभावित भावना।
या शरण न अन्य जगतारन्य में कहुँ पावना॥"

आत्मन् ! अब तुम वैभाविक परिणतिको छोड़ दो और केवल अपने द्वारा अनुभूत शुद्ध आत्मानुभवमें ही रमण करो। इस भीषण संसार-काननमें इस जीवके लिए केवल आत्मानुभव ही शरण देनेवाला है।

खूब चित्त लगावना।

■

विपति में धर धीर

मानव-जीवन विपत्तियोंसे भरा हुआ है। एक-न-एक विपत्ति उसके पीछे लगी ही रहती है। विपत्ति अपने-आपमें इतनी भयंकर है कि उसकी कल्पनासे ही मनुष्यका हृदय धड़कने लगता है जब विपत्ति उसके सिर ही आ पड़ती है तब वह एकदम कर्त्तव्यमूढ़ हो जाता है। और उसकी व्यथाका पारावार मर्यादातीत हो जाता है। विपत्तिका सामना करनेका उसमें तनिक भी साहस नहीं होता और न इतना विवेक ही होता है कि वह विपत्तिके यथार्थ स्रोत तक पहुँच सके। फल यह होता है कि विपत्तिकालमें उसका प्रत्येक क्षण रोने-धोने और दूसरोंको दोष देनेमें ही व्यतीत होता है। बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें विपत्तिके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान है और ऐसे व्यक्ति उनसे भी कम हैं जो यह जानते हुए भी विपत्तिके आ पड़नेपर एक क्षणके लिए भी अपने हृदयमें विकार नहीं आने देते और साहसके साथ उसका सामना करते हैं।

कविवर द्यानतरायको विपत्तिके स्वरूप और स्रोतका वास्तविक परिज्ञान है। उन्हें मानवकी यह स्थिति सह्य नहीं है कि वह विपत्तिके आ पड़नेपर इस प्रकार विवेक-विकल होकर आर्तिमें पड़ा रहे। फलत: वह विपत्ति-ग्रस्त मानवको एक अपूर्व प्राणप्रद सन्देश देनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। वह कहते हैं:

"विपति में धर धीर, रे नर, विपति में धर धीर।
सम्पदा ज्यों आपदा रे, विनश जैहै वीर॥"

रे मानव, तू विपत्तिके आ पड़नेपर धैर्य धारण कर। धैर्य और

समताके साथ विपत्तिका सामना कर। हे भाई ! जिस प्रकार सम्पत्ति आती है और कुछ समयकी अतिथि बनकर प्रस्थान कर देती है, उसी प्रकार विपत्ति भी शाश्वत नहीं है – वह भी अपना फल-दान कर एक निश्चित अवधिमें चली जानेवाली है।

कविवरका आशय है कि मनुष्यको विपत्तिकी वास्तविक जानकारी हो जाये तो वह निर्विकार होकर किसी भी संकटका वीरताके साथ सामना कर सकता है। वह कहते हैं :

"धूप-छाया घटत-बढ़ ज्यों, त्यौं हि सुख-दुख-पीर ॥"

रे मानव, जिस प्रकार धूप-छाया कभी बढ़ती है और कभी घटती है उसी प्रकार संसारके सुख-दुःख भी नित्य रहनेवाले नहीं हैं। फिर थोड़े समय तक रहनेवाली वस्तुसे तुम इतने व्याकुल क्यों हो ?

कविवर कहते हैं, विपत्तिके आ पड़नेपर दूसरोंको कोसना और गाली देना अपनी अज्ञानता प्रकट करना है। इसके विपरीत विपत्तिकी तह तक पहुँचकर उसके समूल उच्छेदनमें ही सच्ची वीरता है। कविवरके शब्दोंमें ही उसका उत्साहपूर्ण उद्बोधन सुनिए। वह कहते हैं :

"दोष 'द्यानत' देय किसको, तोरि करम-जंजीर।"

रे मानव, विपत्तिके आ पड़नेपर तू दूसरोंको क्यों कोसता है ? तू यह नहीं समझता कि तेरी यह विपत्ति तेरे ही पूर्वजन्ममें अर्जित अशुभ कर्मोंका परिणाम है। फिर क्या कारण है जो तू विपत्तिसे इतना घबड़ाता है। अरे ! इस कर्म-शृंखलाको ही तोड़नेका प्रयत्न क्यों नहीं करता, जिससे सदाके लिए विपत्तिसे छुटकारा मिल जाये। रे मानव, तू विपत्तिके आ पड़नेपर धैर्य धारण कर। धैर्य और साहसके साथ विपत्तिका सामना कर।

"विपति में धर धीर।"

■

अब हम अमर भये न मरेंगे

मृत्युका नाम सुनते ही मनुष्यके मनमें भय और दुःखका संचार होने लगता है। यदि मनुष्यका वश चले तो वह कभी भी मरनेके लिए तैयार न हो। मृत्युकी वेला उपस्थित होते ही वह सोचता है – 'हाय! अपने भुज-बलसे अर्जित इस विभूति और इस हरे-भरे प्राण-प्रिय परिवारको छोड़कर चल देना होगा! कैसे छोड़ूँ इन्हें? इनकी कौन देख-भाल करेगा और इस सम्पत्तिका भी पता नहीं कौन कैसा उपयोग करेगा? हाय! मैं मरा! क्या कोई भी ऐसी शक्ति, ओषधि एवं सम्बन्धी नहीं जो मुझे कराल कालके द्वारा कवलित होनेसे बचा सके।' सारांश यह है कि मृत्युके क्षण उपस्थित होते ही मनुष्य उससे बचनेका वश-भर प्रयत्न करता है। ममत्व और मोहका वह पिण्ड बन जाता है। प्रत्येक वस्तुसे उसका आत्म-भाव इतना तीव्र जागृत हो जाता है कि उसे छोड़ते हुए वह मर्मान्तिक वेदनाका अनुभव करता है।

परन्तु जिस व्यक्तिको आत्माका यथार्थ ज्ञान होता है, मृत्यु उसके मनमें भय और दुःखका तनिक भी संचार नहीं कर पाती। वह आत्माके सिवाय अन्य समस्त वस्तुओंको समझता है और उनमें उसकी लेशमात्र भी ममता नहीं होती। यही कारण है कि मौतके अवसरपर अपनी समस्त विभूति और समृद्ध परिवार छोड़ते हुए भी उसे किंचित् भी दुःख नहीं होता। यतः जन्म-जन्मान्तरका मूल कारण आत्मा एवं पर-वस्तुओंमें सम्यक् श्रद्धाका अभाव है और इसी कारण मानव पर-वस्तुओंमें ममत्व रखता है और जन्म-मरणके चक्रमें फँसा रहता है, अतः सम्यक् श्रद्धा जागृत होते ही यथार्थ आत्म-बोधी अपनेको अमर मानने लगता है।

कविवर द्यानतराय भी ऐसे ही दृढ़ आत्म-श्रद्धानी मानव हैं, जिन्हें अपनी अमरतापर पूरा विश्वास है। देखिए, अपनी अमरतानुभूतिको कविवर कितनी सजीव शैलीमें व्यक्त कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"अब हम अमर भये न मरेंगे।
तन-कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यों करि देह धरेंगे॥"

अब हम अमर हो गये। हम कभी नहीं मरेंगे।

हमने आत्मा एवं पर-वस्तुओंमें होनेवाली मिथ्या श्रद्धाको छोड़ दिया है। जन्मान्तर लेनेका प्रधान कारण यही मिथ्या श्रद्धा है। जब हमने इस मिथ्या श्रद्धाको तिलांजलि देकर सम्यक् आत्म-श्रद्धा प्राप्त कर ली है तो दूसरे शरीर ग्रहण करनेका अब प्रश्न ही नहीं।

अब हम अमर हो गये हम कभी नहीं मरेंगे।

कविवर जन्म और मरणके मूल कारणका विश्लेषण करते हुए संसार-बन्धके कारणोंका मूलोच्छेद करनेके लिए प्रस्तुत हो रहे हैं :

"उपजै-मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हरैंगे।
राग-दोष जग-बन्ध करत हैं, इन को नाश करैंगे॥"

कालके कारण ही प्राणी मरता है और जन्म लेता है। इसलिए अब हम कालको ही दूर करेंगे। कालपर हम विजय प्राप्त करेंगे। इसके अतिरिक्त संसार-बन्धके कारण जो राग और द्वेष हैं, इनका भी नाश करैंगे अर्थात् इन्हें भी अपनी आत्मासे सर्वथा पृथक् करेंगे।

मनुष्यको अमरत्वकी ओर ले जानेमें भेद-विज्ञानका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भेद-विज्ञान होनेपर ही मनुष्य सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि एवं आत्म-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो पाता है। इसी तथ्यको कविवर कितने स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त कर रहे हैं :

"देह विनाशी, मैं अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरैंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हों निखरैंगे॥"

शरीर नाशवान् है और आत्मा कभी नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। इस प्रकार आत्मा और शरीर – आत्मा तथा पर-वस्तुका यथार्थ विवेक करके भेद-विज्ञानी. बनेंगे। इसके पश्चात् पर-वस्तुको नाशवान् और आत्म-स्वरूपको अविनश्वर समझते हुए हम आत्म-संशोधन करेंगे। अनादि-कालसे संबद्ध कर्म-मलको दूर कर आत्माको सम्पूर्ण रूपसे उज्ज्वल करेंगे।

अज्ञानपूर्ण मृत्यु निरन्तर दुःखद और भयप्रद रहती है और उससे जन्मान्तर-परम्परा एवं दुःख-सन्तानके उच्छेदमें कोई सहायता प्राप्त नहीं होती। इसी आशयको लेते हुए कविवर अपनी आत्मानुभूतिका उपसंहार करते हैं :

"मरे अनन्त बार, बिन समझैं, अब सब दुख बिसरैंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरैंगे ॥"

आत्मन्, हमने अनन्त बार अज्ञानतापूर्वक मरण किया और असीम दुःखोंको उठाया। यतः अब हमें यथार्थ आत्म-प्रतीति और भेद-विज्ञान हो चुका है, इसलिए मृत्युके अवसरपर दुःख अनुभव करनेका अब कोई काम नहीं रहा; क्योंकि हमने समझ लिया है कि मृत्युके आनेपर जो भी हमसे बिछुड़ जानेवाली वस्तु है वह पर है। उसका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अब हम समस्त दुःखोंको भूल जायेंगे और अन्य समस्त चिन्ताओंसे मुक्त होकर केवल आत्मानुभव करते हुए ही मृत्युका सहर्ष आलिंगन करगे।

क्या अपने भीतर हम भी वह आत्म-श्रद्धा जाग्रत् कर सकेंगे, जिससे हम भी दृढ़ताके साथ कह सकें :

"अब हम अमर भये न मरैंगे।"

■

तू आतम-हित कर रे

मनुष्यका यह स्वभाव है कि अपने कल्याणकी ओर वह बहुत कम प्रवृत्त होता है। उसे चिन्ता रहती है केवल अपने शरीर, स्त्री-पुत्र, माता-पिता एवं धन-धान्यादिकी। अहर्निश वह इनके कल्याणमें ही निमग्न रहता है। वह सोच ही नहीं पाता है कि इन सबसे अतिरिक्त भी एक आत्म-वस्तु है, जो इसी शरीरके अन्दर विद्यमान है और उसकी हित-साधनाकी ओर भी कुछ ध्यान देना है। इसका मुख्य कारण है उसे आत्म-स्वरूपकी स्पष्ट एवं यथार्थ प्रतीतिका अभाव। आत्म-स्वरूपकी यथार्थ प्रतीतिके लिए नीर-क्षीर-विवेकी भेद-विज्ञान आवश्यक है। भेद-विज्ञान होनेपर स्व-पर-पदार्थोंका स्पष्ट बोध हो जाता है और इससे मानवकी प्रवृत्ति आत्माभिमुखी हो जाती है। ऐसी दशामें न केवल वह अवांछनीय कर्मास्रवोंका निरोध करता है अपितु संचित कर्मोंको निर्जीर्ण करनेका भी वह सुयोग प्राप्त करता है और एक दिन ऐसा आता है, जब वह पूर्ण साम्य भावको प्राप्त कर सर्वात्मना आत्म-साक्षात्कार करता है। परन्तु इस भेद-विज्ञान – स्व-परका विवेक करनेवाली सम्यक् दृष्टिकी प्राप्ति भी सरल नहीं है। इसके लिए सुगुरुका सदुपदेश चाहिए, जो उसकी दृष्टिको भेद-विज्ञानी बना दे।

कविवर द्यानतराय भी मानवको इस पद-द्वारा आत्म-हितसाधनकी ओर आकर्षित कर रहे हैं। उनकी कल्याणी वाणी सुनिए :

"तू आतम-हित कर रे।
काल अनन्त गयो जग भमतैं, भव-भव के दुख हर रे॥"

हे भव्य जीव, मैं बार-बार कहता हूँ कि तू आत्माका कल्याण कर ले। हे आत्मन्, इस असार संसारमें भ्रमण करते हुए तुम्हें अनन्त काल व्यतीत हो गया। अब ऐसा काम करो जिससे संसारमें जन्म-मरणके समस्त दुःखोंसे छूट जाओ।

आत्म-बोध एवं आत्मानुभवका बड़ा माहात्म्य है। कोटि-कोटि जन्मोंकी तपस्या भी उतने कर्मोंको निर्जीर्ण नहीं कर पाती, जितना ज्ञानवान् आत्माकी एक क्षणकी साधना। कविवर इसी आशयको व्यक्त कर रहे हैं :

"लाख कोटि भव तपस्या कर तैं, जितो कर्म तेरी जर रे।
स्वास-उस्वास माँहि सो नासै, जब अनुभव चित धर रे॥"

हे आत्मन्, लाखों-करोड़ों भवोंकी तपस्यासे जितने कर्मोंकी निर्जरा हो पाती है, उतनी निर्जरा आत्मानुभवी व्यक्ति एक श्वासोच्छ्वास प्रमाण समयमें कर डालता है। आत्मानुभूति एवं आत्मज्ञानका बड़ा माहात्म्य है।

कठोर एवं घोर तपस्या तभी सफल कही जा सकती है, जब आत्मासे लिप्त राग-द्वेष दूर हो जायें। कठिन तपस्या करनेपर भी यदि राग-द्वेष दूर नहीं होते हैं तो यह तो केवल कष्ट-सहिष्णुता ही रही। यदि अन्तस्में समरस जाग्रत नहीं होता है तो तपस्याके नामपर दुःखोंको सहना व्यर्थ है। इसी भावको प्रकट करते हुए कविवर समभाव-लाभके लिए बल दे रहे हैं :

"काहे कष्ट सहै बन माँही, राग-दोष परिहर रे।
काज होय समभाव बिना नहिं, भावौ पचि पचि मर रे॥"

आत्मन्, वनमें शीत, वर्षा एवं घामके अनन्त कष्ट सहन करनेसे लाभ नहीं है। तुम्हारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि तुम जिस प्रकार बने राग-द्वेषको दूर करनेका उपाय करो। जबतक आत्मामें समभावकी प्रतिष्ठा नहीं होती तपस्याके नामपर कष्ट सहन करने एवं मरनेमें कोई लाभ नहीं है।

मानव आत्म-कल्याणकी ओर तभी प्रवृत्त हो सकता है जब उसे आत्मा एवं पर-पदार्थोंका यथार्थ बोध एवं सम्यक् श्रद्धा हो। जबतक उसका सम्मान जड़-पदार्थोंकी ओरसे हटकर आत्माकी ओर केन्द्रित नहीं होगा, आत्म-हित कोसों दूर रहेगा। देखिए, कविवर कितने स्पष्ट शब्दोंमें इसी भावको व्यक्त कर रहे हैं :

"लाख सीख की एक सीख यह, आतम निज, पर पर रे।
कोटि-ग्रन्थ कौ सार यही है, 'द्यानत' लख भव तर रे॥"

हे आत्मन्, लाखों उपदेशोंका यही सार है कि तू आत्माको अपना समझ और पर-वस्तुओंको पराया। इस प्रकारकी सम्यक् श्रद्धासे ही तू आत्म-कल्याणके मार्गपर चलनेके लिए उत्साहित हो सकेगा। कोटि-कोटि आगम-ग्रन्थोंके स्वाध्यायका भी केवल यही फल है कि तू आत्म-साक्षात्कार कर संसार-समुद्रसे पार हो जा।

आजके इस युगमें, जब कि एक व्यक्ति दूसरेका उत्कर्ष नहीं देख सकता, कहाँ हैं वे सदुदेपशक जो ऐसी सम्यक् शिक्षा दे सकें :

"तू आतम-हित कर रे!"

■

हम लागे आतमराम सौं

संसारी प्राणीकी प्रवृत्ति प्राय: बहिर्मुख रहा करती है। वह अपने आस-पासकी दुनियामें इतना व्यस्त रहता है कि उसे छोड़कर वह एक क्षण-भरके लिए भी नहीं सोच पाता कि इसके अतिरिक्त भी उसकी कोई ऐसी वस्तु है, जिसे वास्तवमें उसीकी कह सकते हैं और जिसके सिवाय अन्य कोई भी चीज़ उसकी नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति अपने क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास आदिके ममत्वमें ही अपने आत्मारामको भूला रहता है। एक क्षणके लिए भी उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुख नहीं होती। उसे आत्म-स्वरूपकी झलक ही नहीं मिलती; क्योंकि इस दिशामें उसका कोई प्रयत्न नहीं रहता। ऐसी दशामें उसका आत्म-स्वरूपकी ओर आकर्षण और अन्तर्मुख प्रवृत्ति कैसे सम्भव है। परन्तु जिस व्यक्तिको वास्तविक आत्म-भान हो जाता है, उसका आत्मानुराग उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है और उसकी प्रवृत्ति निरन्तर अन्तर्मुख रहने लगती है। उसके अन्तस्‌में समत्व भाव उदित हो जाता है और विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार करता हुआ एक दिन वह भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

कविवर द्यानतरायकी परिणति आज पूर्णतया आत्म-रमणकी ओर झुकी हुई है। भेद-विज्ञानके द्वारा उन्हें स्व-पर-स्वरूपका सम्यक् बोध हो चुका है और आत्म-स्वरूपाचरण ही उन्हें एकमात्र कल्याणकारी प्रतीत हो रहा है। अपनी विशुद्धात्म-रतिके उल्लासपूर्ण अतिरेकमें उनके मनोभाव सहज संगीतकी स्वर-लहरीमें फूट पड़ते हैं और वह गा उठते हैं :

"हम लागे आतमराम सौं ।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-मान सौं ।"

हम तो अपने आत्मानुभवनकी ओर लगे हुए हैं । पुद्गलकी जितनी भी पर्याय हैं, वे सब आत्म-स्वभावसे भिन्न हैं, अतः पर हैं और विनश्वर हैं । इसलिए नाशवान् धन-वैभव और मान-प्रतिष्ठासे किसे प्रेम हो सकता है । जो वस्तु अपनी है और अविनश्वर है, उसके प्रति ही हमारा आकर्षित होना उचित है ।

आत्मानुभूति और आत्म-प्रवृत्ति ही समत्वकी साधक है । इसके बिना अन्तस्में समता एवं पूर्ण शान्तिका उदय हो नहीं सकता । पूर्ण समत्व एवं शान्ति जाग्रत् होनेपर आत्मा अपने जीवन-लक्ष्यमें कृतार्थ हो जाता है और तब इसे किसी भी बाह्य प्रवृत्तिमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं रह जाती । कविवर अपनी आत्मानुभूतिकी ऐसी ही फलवती व्याख्या दिखला रहे हैं । वह कहते हैं :

"समता-सुख घट में परगास्यो, कौन काज है काम सौं ।
दुविधाभाव जलांजलि दीनौं, मेल भयो निज स्वाम सौं ॥"

हमारी आत्मामें समता-सुख प्रकाशित हो चुका है । अब हमें किसी भी कार्यसे प्रयोजन नहीं है । हमें अपने आत्मानुभवकी दशामें कोई दुविधा नहीं रही है – इस दुविधाको हम दूर कर चुके हैं और हमें अपने आत्म-स्वरूपका यथार्थ निश्चय हो चुका है । हमारा समागम अब आत्माकी विशुद्ध परिणतिसे हो चुका है और इस सत्संगको हम एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ना चाहते ।

आत्म-रमणमें विचरनेवाला व्यक्ति वस्तु-दर्शनके लिए अपने चर्म-चक्षुओंका उपयोग नहीं करता । वह भेद-विज्ञानकी अन्तर्दृष्टिसे ही वस्तु-दर्शन करता है और स्व-पर-वस्तुओंका यथार्थ निरीक्षण करता हुआ स्व-स्वरूपकी ओर आचरण करता है । उसका मन आत्माके अनन्त गुणोंमें ही रमण करता है । अन्य कोई भी बात उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होती ।

द्यानतरायको भी आज अपने आत्म-'गुण-ग्राम' से ही 'लौ' लगी हुई है। वह कहते हैं :

> "भेद-ज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौं।
> उरै-परै की बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौं ॥"

हमने भेद-विज्ञानके द्वारा स्व-पर-पदार्थोंका सम्यक् दर्शन कर लिया है और अपने आत्म-स्वरूपको समझकर हमारा झुकाव अब उसीकी ओर हो चुका है। अब इन चर्मकी आँखोंसे देखनेका हमारा कोई अर्थ नहीं रहा है। हमारी परिणति आत्म-रमणकी ओर इतनी झुकी हुई है कि अब उसे इधर-उधरकी पर-पदार्थोंकी कोई भी चर्चा-वार्ता अच्छी नहीं लगती है। अब तो केवल आत्माके अनन्त गुणोंकी ओर ही हमारी रुचि लगी हुई है।

आत्मानुभवकी दशामें अन्तस्के समस्त अनात्म-भाव उपशान्त हो जाते हैं। आत्मानुभूतिकी परम प्रकर्षता ही एक समय आत्माको भवव्याधियोंसे मुक्त कर मुक्ति-धाममें विराजमान कर देती है। कविवरकी अपनी आत्म-रुचिके उपसंहारात्मक परिचयमें भी हम इसी तथ्यको ग्रथित देखते हैं। कविवर कहते हैं :

> "विकलप भाव रंक सब भाजें, झरि चेतन अभिराम सौं।
> 'द्यानत' आतम अनुभव करिकै, छूटे भव-दुख धाम सौं ॥"

आत्माचरणकी स्थितिमें चैतन्य-पुंज आत्मासे समस्त वैभाविक भाव क्षीण हो चुके हैं। अब अपनी आत्मानुभूतिकी दशामें हम अविलम्ब ही भव-सागरसे पार हुए जा रहे हैं।

संसारमें रमण करनेवाले जनोंको कविवर-जैसी आत्मानुभूति प्राप्त करनेके लिए अपनी प्रवृत्तिका पथ मोड़ना ही पड़ेगा – उसे बहिर्मुखसे अन्तर्मुख करना होगा। तब ही सच्चा समत्व और शान्ति मिल सकेगी।

> "हम लागे आतमराम सौं।"

■

तू मूढ़पना कित पायो

अप्रत्याशित रूपसे घटित होनेवाली प्रत्येक घटना मानवमनको आश्चर्यमें डाल देती है। यदि सूर्य पश्चिमसे उदित होने लगे और अग्नि शीत-दान करने लगे तो इसे देखकर विश्व एकदम आश्चर्यचकित हो उठेगा। जीवकी अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति भी इसी प्रकार विस्मय-विमुग्ध करने-वाली है। जीवात्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि असीम गुणोंका भण्डार होनेपर भी क्योंकर अज्ञान, दैन्य, दौर्बल्य और असुखका पिण्ड बनकर संसारके दुःख-दावानलमें झुलस रहा है? प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, जिसका समाधान है मनुष्यका अनादिकालीन अज्ञानभाव। अपनी अनादिकालीन अज्ञानता – मूढ़तासे इस जीवात्माने स्वार्थ – आत्मीय अर्थ-को बिलकुल तिलांजलि दे दी है। यह अपने चिर – प्रकाशमान शाश्वत चैतन्य और परम अतीन्द्रिय निर्वाध सुखको भूल चुका है और परकीय अशुचि एवं चैतन्यशून्य शरीर एवं पराधीन विषम इन्द्रिय-सुखमें रमण कर रहा है। विवेकी जन जीवात्माकी इस उन्मार्गगामिता एवं मूढ़तापर केवल आश्चर्य प्रकट करके ही नहीं रह जाते हैं, वे उसे आत्म-भान कराने तथा सुपथपर लानेके लिए उससे सन्मार्ग-दर्शन भी कराते हैं।

कविवर द्यानतराय भी ऐसे ही अज्ञानी जीवात्माको उसकी चिर भूलसे परिचित करते हुए उसे सन्मार्ग-दर्शन करा रहे हैं। पहले वह अविवेकी जीवात्मासे प्रश्न करते हैं और फिर उसे ग्राह्य मार्गकी ओर इंगित करते हुए कहते हैं:

"जीव ! तू मूढ़पना कित पायो।
सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो॥"

हे आत्मन्, तुमने यह अज्ञानता कहाँसे प्राप्त की ? संसारके समस्त प्राणी स्वार्थ चाहते हैं – ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जिसे अपने स्वार्थ-साधनका ध्यान नहीं है । परन्तु आत्मन्, तुम्हारा स्वभाव बिलकुल निराला है जो तुम्हें स्वार्थ – अपने आत्माका अर्थ अर्थात् आत्म-कल्याण तनिक भी नहीं रुचता है । आत्माका आत्म-कल्याणकी ओरसे विमुख होना सबसे बढ़कर मूढ़ता – अज्ञानता है ।

अज्ञानताकी अवस्थामें मनुष्य पता नहीं कहाँसे कहाँ भूल-भटक जाता है । जीवात्माने भी अपनी अविवेकपूर्ण दशामें, अनेकानेक भूलों और दोषोंकी पुनरावृत्तियाँ कीं । कविवर जीवात्माकी मूढ़ताके एक महत्त्वपूर्ण रूपको रेखांकित कर रहे हैं । देखिए :

"अशुचि अचेत दुष्ट तन माँही, कहा जान विरमायो ।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि कै, विषय-रोग लपटायो ॥"

हे आत्मन्, यह शरीर अत्यन्त अपवित्र, चैतन्यशून्य एवं दुष्ट है । तुम्हारा स्वरूप परमपवित्र, चैतन्यमय एवं सौम्य है । फिर क्या कारण है जो तुम अपने स्वरूपको भूलकर इस मलिन, अचेतन और दुर्जन शरीरमें रम रहे हो ? क्या कारण है जो तुम्हारा अपने परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुखकी ओर तनिक भी आकर्षण नहीं है और पराधीन एवं दुःखमय विषय-सुखके भोगमें तन्मय हुए जा रहे हो ? तुम्हारी अज्ञानता और विपरीताभिनिवेशकी यह पराकाष्ठा है ।

कविवर दिखलाते हैं कि इस अज्ञानताके कारण जीवात्माकी किस प्रकार दुर्गति हुई :

"चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो ।
तीन लोकको राज छाड़ि कैं, भीख मांग न लजायो ॥"

हे आत्मन्, तुम्हारा चैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और क्या कारण है जो तुमने अपने शाश्वत नामको बिलकुल ही भुला दिया ? आत्मन्, तुम

तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र एवं तीनों लोकके स्वामी हो। आज इस भिखारी-जैसी परतन्त्र एवं दयनीय अवस्थाको अंगीकार करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती।

अज्ञानतासे छुटकारा मिलनेपर ही आत्माको सम्यक् सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है। मूढ़तासे मुक्ति मिलनेपर आत्माका जो शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है, कविवर उसकी एक बहुत सुन्दर झाँकी दे रहे हैं। देखिए :

"मूढ़पना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसो, यों सद्गुरु बतलायो॥"

हे आत्मन्, जब तुम्हें इस मिथ्या अज्ञानसे मुक्ति मिल जाती है, तब तुम समस्त कर्म-मल कलंकसे मुक्त होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा हो जाते हो और सदाके लिए मोक्षके अनन्त सुखका भोग तुम्हें प्राप्त रहता है।

आज प्रत्येक जीवात्माको अपनेसे यह प्रश्न पूछना है :

"जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ?"

■

काहेको सोचत अतिभारी,

संसारमें ऐसा एक भी प्राणी नहीं है, जो चिन्ताके चक्रमें न फँसा हो। जीवात्मा प्रतिक्षण किसी-न-किसी चिन्तामें निमग्न बना रहता है। कोई अपने प्रिय स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें चिन्तित है तो किसीको अप्रिय जन एवं वस्तुओंका संयोग झुलसा रहा है। कोई अपनी बीमारीकी वेदनाकी चिन्तामें व्यथित है तो कोई भविष्यकी सुख-चिन्तासे उत्पीड़ित है। इस प्रकार आजका जीवात्मा चिन्ताके जालमें बुरी तरह आबद्ध है। रंकसे लेकर राजा और लघुसे लेकर महान् – कोई भी चिन्तासे मुक्त नहीं है। चिन्ताकी इस दशामें जीवात्माको एक क्षणके लिए भी शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता है। अभाव और दैन्यजन्य हाय-हायकी साँसें उसे निरन्तर व्याकुल और उत्तप्त किये रहती हैं। चिन्ता उसे ऐसा आर्त्तध्यानी बनाये रहती है कि आत्म-कल्याणकी ओर इसका तनिक भी ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः ऐसा व्यक्ति आत्म-स्वरूपको यथावत् न समझनेके कारण ही चिन्ताके जालमें फँसता है और अनन्त दुःख उठाता है। वह नहीं समझता है कि जिन वस्तुओं या परिस्थितियोंकी मैं चिन्ता कर रहा हूँ उनका मेरी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, वे पर-पदार्थ हैं और उनकी चिन्ता हम क्यों करें? प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी पूर्व जन्मोपार्जित अशुभ कर्मोंका परिणाम हैं, जिन्हें साधना-द्वारा ही अन्यथा किया जा सकता है, चिन्ता-द्वारा नहीं। फिर चिन्ता करनेसे बुद्धि कलुषित हो जाती है और अशुभ कर्मोंके आस्रव एवं बन्धके सिवाय अन्य कुछ भी लाभ नहीं। कविवर द्यानतराय चिन्ताके इस स्वरूपसे पूर्णतः अभिज्ञ हैं। फलतः वे चिन्ताशील आत्माको संबोधते हुए कहते हैं :

"काहेको सोचत अतिभारी, रे मन !
पूरब करमन की तिथि बाँधो, सो तो टरत न टारी ॥"

हे आत्मन्, तुम इतना अधिक शोक क्यों करते हो ? तुमने पूर्व जन्ममें जिन कर्मोंका जितने समयके लिए बन्ध किया है, वे उदयमें आकर अवश्य फल देंगे। उन्हें किसी प्रकार भी अन्यथा नहीं किया जा सकता। अतः ऐसा निश्चय समझकर तुम्हारा चिन्ता करना बिलकुल व्यर्थ है; क्योंकि चिन्तासे वर्तमान उद्वेगकारी परिस्थितिको बदला नहीं जा सकता। इस तरह तो अन्यान्य ऐसे अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है जो भविष्यमें ऐसी और इससे भी अधिक भयंकर परिस्थिति उत्पन्न कर सकते।

संसारमें जितने पदार्थ हैं, उनका अपने-अपने ढंगका पृथक्-पृथक् परिणमन होता रहता है। केवलज्ञानीके ज्ञानमें इन वस्तुओंका अतीत, अनागत एवं भविष्यत्कालीन परिणमन हस्तामलकवत् प्रतिबिम्बित होता रहता है। पर संसारी आत्मा उन वस्तुओंके स्वाभाविक परिणमनको अपनी रुचिके अनुसार परिणत करना चाहता है और ऐसा न कर सकनेसे खिन्न एवं दुःखी होता है। दूसरे शब्दोंमें यदि इन वस्तुओंका परिणमन इस आत्माकी रुचिके अनुरूप हो जाता है तो उसमें राग करने लगता है और यदि रुचिके विपरीत जा पड़ता है तो उसमें द्वेष-बुद्धि करने लगता है। इसे यह बोध नहीं है कि किसी भी वस्तुके अनुरूप एवं प्रतिरूप परिणमन करानेमें किसीकी किंचित् भी क्षमता नहीं है।

कविवर इसी वस्तु-दर्शनके सिद्धान्तको प्रतिपादित करते हुए दार्शनिक शैलीमें आत्माको चिन्ता-मुक्त होनेका सन्देश दे रहे हैं। वह कहते हैं :

"सब दरबनि की तीन काल की, विधि न्यारी की न्यारी।
केवलज्ञान विषैं प्रतिभासा, सो सो ह्वै है सारी ॥"

हे आत्मन्, समस्त द्रव्योंका भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालीन जो कुछ भी पृथक्-पृथक् परिणमन है, वह केवलज्ञानमें ज्योंका त्यों प्रतिभासित

हो रहा है और वह सब उसी ढंगसे होकर रहेगा। ऐसी स्थितिमें प्रतिकूल दशामें सन्तोष ही – समभाव ही धारण करना चाहिए।

देखिए, कविवरने चिन्ताके अमांगलिक स्वरूपका कैसा यथार्थ विश्लेषण किया है। वह कहते हैं :

"सोच किये बहु बन्ध बढ़त है, उपजत है दुख-ख्वारी।
चिंता चिता समान बखानी, बुद्धि करत है कारी॥"

हे आत्मन्, शोक करनेसे अशुभ कर्मोंका आस्रव और बन्ध बढ़ता है और इस प्रकार जिस दुःख-परम्पराका प्रादुर्भाव होता है, उसकी समाप्ति होनी कठिन हो जाती है। चिन्ता और चितामें केवल बिन्दुमात्रका अन्तर है। वैसे जिस प्रकार चिता शरीरको भस्मसात् कर डालती है, उसी प्रकार चिन्ता भी देहको खोखला कर देती है और आत्माको कर्म-भारसे बोझिल। इसके अतिरिक्त चिन्तासे बुद्धि भी मलिन हो जाती है और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेक जाता रहता है।

चिन्ता समस्त अनर्थोंकी मूल है। जिन्होंने ऐसी चिन्ताको सर्वथा निर्मूल कर दिया है, वस्तुतः उन्हें ही सम्पूर्ण शान्ति प्राप्त हो सकी है। देखिए, कविवरने इसी भावको कितनी स्पष्टतासे रेखांकित किया है :

"रोग-शोक उपजत चिन्ता तैं, कहो कौन गुनवारी।
'द्यानत' अनुभव करि शिव पहुँचे, जिन चिन्ता सब जारी॥"

आत्मन्, चिन्ता करनेसे रोग और शोक उत्पन्न होते हैं और तुम सदाके लिए दुःखी बने रहते हो। चिन्तामें ऐसा एक भी गुण नहीं है, जिससे इसे आकर्षणकी वस्तु माना जा सके। इसके विपरीत जिन आत्माओंने चिन्ताको दूर कर दिया, वे आत्मानुभवी होकर मोक्षमें पहुँच गये और शाश्वत सुखके भोक्ता हो चुके।

हे आत्मन्, चिन्तासे अपने मनको इतना भारी क्यों कर रहे हो ?

"काहे को सोचत अतिभारी।"

तू तो समझ-समझ रे भाई !

संसारी मानवकी मनोगति बड़ी स्वच्छन्द होती है। वह किसी प्रकारके भी अंकुश एवं नियन्त्रणको स्वीकार नहीं कर सकती। धर्म, ज्ञान एवं विरागकी बातें उसे निरर्थक जान पड़ती हैं और तन्मयताके साथ अपनी भाव-धारामें बहते जानेमें ही उसे रस आता है। कदाचित् सुयोगसे धर्माचरणकी ओर प्रवृत्त भी होता है तो उसमें हृदयका योग न होनेसे उस दिशामें भी वह सफल नहीं हो पाता है। वह अन्तस्में समत्व-भाव जाग्रत् करनेके लिए हाथमें माला लेता है; परन्तु आत्म-स्वरूपका यथार्थ बोध न होने एवं उस ओर आकर्षण न होनेके कारण उसका चित्त वहाँ नहीं रम पाता और उन्हीं पर-पदार्थोंमें रमण करने लगता है, जिनसे उसे समत्वका लाभ न होकर अशान्ति एवं आकुलताकी ही वृद्धि होती है। फलतः आत्म-शान्ति लाभकी दृष्टिसे किया गया यह बाह्य धर्माचरण भी केवल प्रदर्शनकी वस्तु बनकर रह जाता है। वह महीने-महीनेके उपवास कर कठिनतम कायक्लेश भी करता है; परन्तु अन्तस्की कषायपर विजय प्राप्त न कर सकनेके कारण उससे भी उसे आत्म-सुख प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार स्व-परका विवेक तथा स्वात्म-रुचि न होनेके कारण संसारी मानव निरन्तर पर-वस्तुओंमें रमण करता हुआ अशान्त बना रहता है।

कविवर द्यानतरायको संसारी मानवकी इस प्रवृत्तिकी सम्यक् जानकारी है। उन्हें इस बातका यथार्थ बोध है कि मनुष्य इस स्थलपर मूलमें भूल कर रहा है और इसी कारण उसे यथार्थ आत्म-शान्ति नहीं प्राप्त हो रही है। संसारी आत्माकी दुर्दशासे उनका हृदय दया-द्रवित

हो जाता है और उसे सन्मार्गपर आरूढ़ करनेकी दृष्टिसे उनका लोक मंगल-कारी कवित्व जागृत हो उठता है। वह गुनगुनाने लगते हैं :

"तू तो समझ-समझ रे भाई।
निशि-दिन विषय-भोग लपटाना, धरम-वचन न सुहाई॥

हे भाई, तुम इस बातको अच्छी तरहसे समझ लो। हे आत्मन्, तुम निरन्तर विषय-भोगमें उलझे रहे और एक क्षणके लिए भी तुम्हें धर्मकी बात अच्छी न लगी।

संसारी मानव किसी शुभयोगसे धर्माचरणकी ओर प्रवृत्त भी होता है तो लक्ष्यके प्रति मन स्थिर न रहनेके कारण और आत्मस्वरूपका यथार्थ बोध न होनेसे वह लक्ष्यमें कृतकार्य नहीं हो पाता – सम्यक् शान्ति-लाभ नहीं कर पाता। कविवरने अपनी कुशल लेखनीसे इसी तत्त्वको बड़ी सुन्दरताके साथ अंकित किया है। वह कहते हैं :

"कर मनका लै आसन मार्‌यो, बाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक-ध्यान धरे तैं, जो मन थिर न रहाई॥"

हे आत्मन्, तुमने आत्म-शान्ति प्राप्त करनेके लिए हाथमें माला लेकर आसन लगाया और यह दिखलाकर लोगोंको अनुरंजित करनेका प्रयत्न किया कि तुम कैसे धर्मात्मा हो। परन्तु मानसिक स्थिरताके अभावमें यह आत्म-ध्यान वक-ध्यान-जैसा ही है, जिसमें आत्म-पर-वंचनाके सिवाय तनिक भी आत्म-शान्ति उपलब्ध नहीं होती।

जिन व्यक्तियोंको स्व-परका तनिक भी विवेक नहीं है और क्षण-भरके लिए भी जिन्हें स्वानुभूतिका रस नहीं मिला है, वे महीनों तक उपवास कर डालते हैं और घोरतम कायक्लेशके आचरणसे स्वयंको दीर्घ तपस्वी सिद्ध करना चाहते हैं; परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभपर ये तनिक भी नियन्त्रण नहीं कर पाते हैं। परिणाम यह होता है कि लोक-दृष्टि भले ही इन्हें उग्र तपस्वी मान ले; परन्तु आन्तरिक शान्ति न मिलनेके कारण इनका यह कायक्लेश निरर्थक ही रहता है। कविवरकी काव्य-वाणीमें

यही तथ्य बड़ी सुन्दरतासे ग्रथित दिखलाई देता है। देखिए :

"मास-मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध, मान, छल, लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई ?"

हे आत्मन्, तुमने महीनों उपवास करके शरीरको एकदम सुखा डाला; परन्तु अन्तरंग शत्रु क्रोध, मान, माया और लोभपर तुम विजय प्राप्त नहीं कर सके। अतः तुम्हारे इस घोर कायक्लेशसे क्या अर्थ निकला ? इससे तो तुम्हें तनिक भी आत्म-शान्ति नहीं मिली।

सम्पूर्ण आत्म-सुख एवं शान्ति प्राप्त करनेका केवल एक ही मार्ग है – और वह यह है कि मनुष्य मन, वचन, कायरूपी योगोंका निरोध कर विषय-कषायोंकी ओरसे अपनी रुचिको हटा ले औरशु द्धात्म-स्वरूपके अनुभवनमें तन्मय हो जाये। कविवर कहते हैं :

"मन, वच, काय जोग थिर कर कैं, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग-मोख-सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई॥"

हे आत्मन्, तुम मन, वचन, कायको स्थिर करके विषय-कषायोंकी ओरसे अपनी परिणतिको हटा लो। सद्गुरुओंने भी इसी मार्गको स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला बतलाया है। हे भाई, तुम इस बातको अच्छी तरहसे समझ लो।

"तू तो समझ समझ रे भाई।"

रे जिय, क्रोध काहे करै

आत्माका क्रोध-भाव अनेक अनर्थोंकी जड़ है। क्रोधके आवेशमें मनुष्य कितने अनर्थ नहीं करता। दूसरेकी धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्रादिका अपहरण, आत्मघात एवं परघात आदि बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएँ मानव क्रोधावेशमें आकर कर डालता है। मानवात्मामें क्रोधका उदय प्रायः दूसरोंकी प्रतिकूल प्रवृत्तिको देखकर होता है। मनुष्यको दूसरोंका विपरीत व्यवहार अच्छा नहीं लगता और वह उनपर, प्रतिफलमें, अंगार बनकर बरस पड़ता है। मनुष्य क्रोधका प्रयोग प्रायः दो दृष्टियोंसे करता है – एक आत्मतोषकी दृष्टिसे और दूसरे दूसरेको शिक्षा देनेकी दृष्टिसे। परन्तु क्रोधसे आत्म-हनन ही होता है। उससे आत्म-तोष कभी भी प्राप्त नहीं होता। आत्मामें क्रोधोदय होनेसे उसकी विशुद्ध आत्म-शान्ति भंग हो जाती है और इस प्रकार आत्म-तोषका स्वप्न धूलमें मिल जाता है। क्रोधके द्वारा दूसरेको शिक्षा देनेका प्रयोग भी सफल नहीं देखा जाता। इस समय दूसरेके मनपर क्रोधीके क्रोधकी छाया ही मुख्यतया अंकित रह जाती है, उसका सदुद्देश्य क्रोधकी छायामें तिरोहित हो जाता है। शास्त्रीय भाषामें क्रोधको कषाय कहा गया है। कषायका अर्थ है आत्माका हनन करनेवाला भाव। अतः क्रोधका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति सर्वप्रथम अपनी आत्माका ही घात करता है। दूसरेका घात भी क्रोध-द्वारा होता है; परन्तु ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि जिनपर क्रोध किया जाता है उसका उस क्रोधके द्वारा किसी प्रकार घात न हो, लेकिन क्रोध करनेवाला किसी भी स्थितिमें आत्म-घातके अवसरसे नहीं बच सकता। क्रोधसे जो कुछ बाह्य हानियाँ

होती हैं वे लोकमें बहुत स्पष्ट हैं। इस प्रकार आत्म-घाती क्रोधसे दूर रहना प्रत्येक आत्म-हितैषीका कर्त्तव्य है।

कविवर द्यानतराय क्रोध-भावके पूर्ण विशेषज्ञ हैं। वह इसे आत्माका सबसे बढ़कर शत्रु समझते हैं और आत्माको क्रोध-भाव परित्याग करनेकी कैसी पवित्र प्रेरणा देते हैं। वह कहते हैं :

"रे जिय ! क्रोध काहे करै ?
देखकै अविवेक प्रानी, क्यों विवेक न धरै ?"

हे आत्मन्, क्रोध क्यों करते हो ? प्राणी क्रोधके आवेशमें कितनी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तियाँ कर डालता है, यह समझकर आत्मन्, क्रोध न लाकर आत्म-विवेकसे उसे उपशान्त ही कर देना चाहिए।

मानव दूसरोंकी मिथ्या प्रवृत्ति देखकर उनपर खीजता है और रुष्ट होता है; परन्तु मानवका यह रोष उसे स्वयं अशान्त कर देनेके सिवाय अन्य कुछ भी लाभकारी नहीं होता है। इसी भावको व्यक्त करते हुए कविवर क्रोधकी हेयताका चित्रण कर रहे हैं। सुनिए :

"जिसे जैसी उदय आवै, सो क्रिया आचरै।
सहज तू अपनौ बिगारै, जाय दुर्गति परै॥"

हे आत्मन्, मानव जो कुछ भी क्रिया या आचरण करता है, वह अपने-अपने कर्मोंके उदयानुसार ही करता है। बिना अशुभ कर्मोंके उदय-के मानवसे अवांछनीय आचरण नहीं हो सकता। परन्तु इस अवांछनीय प्रवृत्तिपर रोष प्रकट करके केवल तुम आत्म-शान्ति ही भंग करते हो। तुम्हारे रोषका मानवकी अवांछनीय प्रवृत्तिपर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ता है, इसके विपरीत रोष-जन्य अशान्तिके कारण तुम्हें ही दुर्गतिके कटु परिणाम भोगने पड़ते हैं।

मनुष्यकी अच्छाई और बुराईका दूसरेके मनपर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इसलिए गुणी व्यक्तिका यही कर्त्तव्य है कि दूसरे व्यक्तिकी अवांछनीय प्रवृत्तिको रोकनेके लिए वह क्रोध न करके अपने सद्गुणोंके द्वारा ही उसे

सुमार्गपर लाये। देखिए, कविवरने इसी भावको कितनी सरल भाषामें व्यक्त किया है। वह कहते हैं :

"होय संगति गुन सबनि कौं, सरब जग उचरै।
तुम भले कर भले सबको, बुरे लखि मत जरै॥"

समस्त संसार जानता है कि संगतिके अनुसार ही एक-दूसरेमें गुण-अवगुण आते हैं। इसलिए हे आत्मन्, यदि तुम्हारे अन्दर अच्छाई है तो तुम अच्छाईका व्यवहार करके दूसरोंको भी अच्छा बनानेका ही प्रयत्न करो। दूसरोंकी बुराई देखकर तुम्हें रुष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है।

शान्ति और क्षमासे ही दूसरेकी अवांछनीय प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त की जा सकती है। क्रोधसे स्वयंके अन्दर ही एक नयी बुराई उत्पन्न होती है और यह ध्रुव सत्य है कि बुराई दूर नहीं की जा सकती। इसी तथ्यको ध्यानमें रखते हुए कविवर क्रोधको छोड़ने एवं क्षमा-भावको अंगीकार करनेका मार्मिक सन्देश देते हैं। सुनिए :

"वैद्य पर-विष हर सकत नहिं, आप भखि को मरै।
बहुकषाय निगोदवासा, छिमा 'द्यानत' तरै॥"

जिस प्रकार वैद्य स्वयं विष-भक्षण करके दूसरेका विष दूर नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करनेकी चेष्टा करता है तो इससे दूसरेका विष तो दूर नहीं होगा, हाँ स्वयं वैद्यराजजी अवश्य स्वर्गवासी हो जायेंगे। उसी प्रकार क्रोधके द्वारा भी, हे आत्मन्, दूसरेके प्रतिकूल आचरण एवं व्यवहार-में हम सुधार नहीं कर सकते। इसलिए क्रोधको निगोदवासका परिणाम जानकर हमें क्षमाभावके द्वारा ही दूसरोंकी अवांछनीय प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनी चाहिए। हे आत्मन्, क्रोध क्यों करते हो?

"रे जिय! क्रोध काहे करै।"

■

झूठा है जग का ब्योहारा !

संसारी मानवकी दृष्टि मोह-प्रधान होती है और इस कारण वह सांसारिक व्यवहारोंसे पूर्णतया संश्लिष्ट रहता है। जगत्के व्यवहारोंसे उसका इतना निजत्व रहता है कि वह निरन्तर उनके भिन्न-भिन्न परिण-मनोंमें अपने स्वार्थको ध्यानमें रखते हुए इष्ट-अनिष्टकी कल्पना किया करता है। वस्तुओंके जो परिणमन उसका स्वार्थ साधते हैं उनमें वह रागभावसे निजत्व कल्पना करता है और जो उसके स्वार्थमें बाधक होते हैं उनमें वह द्वेष-बुद्धि रखकर परकीय कल्पना करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने भी इसके स्वार्थ-साधक पदार्थ हैं उनमें इसका इतना तीव्र ममत्व रहता है कि वह इन्हें एक क्षणके लिए भी परकीय नहीं मान सकता।

भेद-विज्ञान — आत्म-पर-विवेक होनेपर ही मनुष्यकी यह प्रगाढ़ मोह-निद्रा भंग होती है। भेद-विज्ञान मनुष्यको आत्मा और इतर पदार्थोंका बहुत स्पष्ट बोध कराता है, जिससे भेदविज्ञानी आत्माके सिवाय अन्य समस्त वस्तुओंको परकीय मानता है और उनमें कभी भी आत्मीय बुद्धि नहीं करता। उसे संसारके जितने भी रिश्ते-नाते हैं वे सब मिथ्या मालूम होते हैं और आत्माकी आत्मीयतापर ही उसकी अडिग-अडोल श्रद्धा जागृत हो जाती है।

कविवर बनारसीदास भी अपूर्व भेद-विज्ञानी हैं। प्रस्तुत पद-द्वारा उन्होंने भेद-विज्ञानीकी अनुभूतिका बड़ा ही जीवित चित्र उपस्थित किया है। वह कहते हैं :

"हम न किसी के, कोई न हमारा, झूठा है जग का ब्योहारा।
तनसम्बन्धी सब परवारा, सो तन हमने जाना न्यारा॥"

हम किसीके नहीं हैं और हमारा कोई नहीं है। जगत्का समस्त व्यवहार झूठा है। हे आत्मन्, जितना भी माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि रूप, परिवार है, वह सब शरीराश्रित है और उस शरीरका हम निश्चय कर चुके हैं कि इससे हमारी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है।

संसारी जीवको पुण्योदय होनेपर जो सुख-सामग्री प्राप्त होती है, इसमें वह राग करता है और पाप कर्मके उदयसे जो दुःख-सामग्री प्राप्त होती है उसमें वह द्वेष करता है। दूसरे शब्दोंमें पुण्योदयजन्य पुण्य-सामग्रीको यह अपनी मानता है और पापोदय-जन्य दुःख-सामग्रीको यह परकीय समझता है; परन्तु ये दोनों सामग्रियाँ ही परकीय हैं। इनसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें तो आत्मा इनका केवल ज्ञाता और द्रष्टा है। यही भाव कविवरने अपनी अध्यातम वाणी-द्वारा बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त किया है। सुनिए, कवि कहते हैं :

"पुण्य उदय सुख का बढ़वारा, पाप उदय दुःख होत अपारा।
पाप-पुण्य-दोऊ संसारा, मैं सब देखनहारा॥"

शुभ कर्मके उदयसे सुख-सामग्रीमें वृद्धि होती है जिससे आत्मामें सुखका अनुभव होता है और अशुभ कर्मके उदयसे दुःख देनेवाली सामग्री मिलती है, जिससे आत्मा दुःखका अनुभव करता है। वास्तवमें देखा जाये तो पुण्य और पाप तथा इन दोनोंसे प्राप्त होनेवाली सामग्री संसार-बन्धका कारण है और इनका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा केवल पुण्य-पापजन्य अनुभूतियोंका ज्ञाता द्रष्टा-मात्र है। इनमें-से किसी भी एक वस्तुसे उसकी आत्मीयता नहीं है।

जगत्के जितने पदार्थ हैं, वे सब अपनी-अपनी अतीत, अनागत एवं वर्तमानकालीन भिन्न-भिन्न पर्यायोंके साथ पृथक्-पृथक् हैं। किसी भी द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ स्वरूपतः कुछ भी साम्य नहीं है। आत्म द्रव्य भी

इसी प्रकार सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य है। कर्म-संयोगके कारण इसका शरीरसे सम्बन्ध जुड़ता है और जगत्‌के व्यवहारोंका निर्माण होता है; परन्तु शरीरके नाश होते ही सारे व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानी आत्माकी यही दृष्टि रहती है। फलस्वरूप वह संसारके किसी भी अनात्मीय व्यवहारमें हर्ष-विषाद नहीं करता है। कविवरने प्रस्तुत जगत् एवं आत्म-दृष्टिका बड़ी कुशलतासे चित्रांकन किया है। देखिए :

"मैं तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, पर-संजोग भया बहुमेला।
थिति पूरी कर खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष-शोक कछु नाहीं॥"

हे आत्मन्, मैं तीनों संसार तथा तीनों कालमें एकदम अकेला हूँ – मेरा स्वरूप बिलकुल स्वतन्त्र है और दूसरेसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पर-वस्तुके संयोग होनेसे ही अनेक व्यवहारों एवं रिश्तोंका हमसे नाता जुड़ा। परन्तु जिन वस्तुओंका मेरी आत्मासे सम्बन्ध जुड़ा है वह अस्थायी हैं। अपने-अपने समयपर इन सभी अनात्मीय पदार्थोंका आत्मासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायेगा और तब यह स्वतन्त्र द्रव्य समस्त बन्धनोंसे शून्य शुद्ध-चैतन्य-पुंज रह जायेगा। इसलिए इन क्षणिक सम्बन्धोंके प्रति मेरा कदाचित् भी हर्ष-विषाद नहीं होता है।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि जो इससे राग-स्नेह करता है, उसे यह सज्जन मानता है और जो इससे द्वेष रखता है उसे यह दुर्जन समझता है। परन्तु निश्चय-नयकी दृष्टिसे राग और द्वेष – दोनों ही आत्माकी वस्तु नहीं हैं; क्योंकि वह तो अखण्ड चैतन्य-पिण्ड है और राग-द्वेष अचेतन कर्मकृत विकृत भाव हैं। इसलिए विवेकी आत्मा राग-द्वेषकी परिणतिसे सदैव दूर रहता है और इन्हें सदैव आत्मासे पृथक् समझता है। कविवरने ज्ञानी आत्माकी इस दृष्टिका बड़ा हृदयग्राही विवेचन किया है। वह कहते हैं :

"राग भाव तैं सज्जन मानैं, दोष भाव तैं दुर्जन जानैं।
राग-दोष-दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतन पद माहीं॥"

आत्माके प्रति जो राग प्रदर्शित करता है, उसके कारण यह उसे सज्जन समझता है और जो द्वेष-व्यवहार करता है, उसे यह दुर्जन समझता है। परन्तु ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि राग-द्वेषमें-से जब एक भी आत्मीय वस्तु नहीं है तब मैं इनमें आत्म-बुद्धि रखकर क्यों हर्ष-विषाद करूँ ? मेरा तो चैतन्य-पुंज स्वभाव है और मैं अब उसीमें मग्न हूँ।

विशुद्ध आत्म-शान्तिकी अभिलाषा रखनेवाले मानवको एक दिन यह दृढ़ निश्चय करना होगा कि :

"हम न किसी के, कोई न हमारा, झूठा है जग ब्योहारा ॥"

■

मोहि कब ऐसो दिन आयहै

संसारका प्रत्येक मानव जीवनमें एक साध रखता है। उसका एक लक्ष्य होता है और उसमें सफलता प्राप्त करनेके लिए निरन्तर उत्कण्ठित रहता है। उत्कण्ठित ही नहीं रहता है, उसमें सिद्धि पानेके लिए वह इतना तन्मय हो जाता है कि प्रतिक्षण उसे अपने लक्ष्यके सिवाय अन्य कुछ भी दिखलाई नहीं देता। चाहे उसका लक्ष्य प्रशस्त हो या अप्रशस्त, वह निरन्तर चिन्ताशील रहता है कि "वह दिन कब मिलेगा, जब मुझे अपनी साधमें पूर्ण सफलता मिलेगी।"

कविवर द्यानतरायके जीवनकी भी एक साध है; परन्तु वह बड़ी अद्भुत और अलौकिक है। उनकी साध संसारके किसी भी उच्चतम ऐश्वर्य एवं समृद्धिके उपभोगकी नहीं है। उनकी एकमात्र आकांक्षा है – संसारके समस्त वैभाविक विकल्पोंको दूर कर विशुद्ध आत्मस्थ हो जानेकी। वह निरन्तर केवल शुद्ध-बुद्ध, अखण्ड सच्चिदानन्दमय आत्मानुभूतिकी पावन धारामें ही निमग्न रहना चाहते हैं। उसमें आत्मा एवं परमात्मा-जैसे विकल्पोंको भी वह किंचित् भी स्थान नहीं देना चाहते।

आइए, तनिक द्यानतरायकी साधको उन्हींकी वाणीमें सुनें। वह कहते हैं :

"मोहि कब ऐसो दिन आयहै।
सकल विभाव अभाव होंहिंगे, विकलपता मिट जायहै।"

भगवन्, मुझे वह सुयोग कब प्राप्त होगा, जब मेरी आत्माकी समस्त वैभाविक परिणतियाँ और विकल्प सब प्रकारसे निर्मूल हो जायेंगे

तथा आत्माकी शुद्ध स्वाभाविक एवं निराकुल अवस्था प्रकट हो जायेगी।

जबतक आत्मामें राग और द्वेष विद्यमान रहते हैं उसकी वैभाविक परिणति विभाव रूपसे परिणमन करती है, परन्तु ज्यों ही इसके विभाव रूपसे परिणमन करानेके हेतु निर्मूल हो जाते हैं, आत्मा अपनी विशुद्ध स्वाभाविक ज्योतिसे आलोकित हो उठती है। उस समय आत्मामें जिस प्रकारकी अडिग एवं अकम्प अनुभूति उदित होती है, कविवर उसी आत्मानुभूतिका अलख जगा रहे हैं। देखिए, वह अपनी साधमें कहाँतक उड़ान भर चुके हैं :

"यह परमातम, यह मम आतम, भेद-बुद्धि न रहायहै।
औरनि को का बात चलावै, भेद-विज्ञान पलायहै॥"

विशुद्ध आत्मानुभूतिकी स्थितिमें 'यह परमात्मा है और यह मेरी आत्मा है' इस प्रकारकी कोई भी भेद-बुद्धि शेष नहीं रह जाती है। और वस्तुओंकी कौन चर्चा करे, यहाँतक कि – उस समय आत्म-परका विवेक करनेवाला भेद-विज्ञान भी अपनी उपयोगात्मक अवस्थामें नहीं रहता।

शुद्धात्मानुभूतिकी चरम कक्षामें ध्यान, ध्याता, ध्येयका किंचित् भी विकल्प शेष नहीं रह जाता है। कर्ता, कर्म, क्रियाकी पृथक्-पृथक् तनिक भी अनुभूति नहीं होती। उस समय चैतन्य-ईश्वर कर्ताका चैतन्य भाव ही कर्म होता है और चेतना ही क्रिया होती है। तीनोंका ही एक इस प्रकारका अभिन्न एवं अखण्ड तादात्म्य होता है, जिसका विवेचन वाणी-द्वारा नहीं किया जा सकता। कविवर द्यानतराय इसी प्रकारकी अद्भुत आत्मानुभूतिके लिए उत्कण्ठित दिखलाई दे रहे हैं। देखिए, वह अपनी अखण्ड आत्मानुभूतिके समय किस प्रकार आत्म-सम्बन्धी विकल्पको भी तनिक भी स्थान नहीं दे रहे हैं :

"जानैं आप आप में आपा, सो व्यवहार विलायहै।
नय परमान निखेपन माँही, एक न औसर आयहै॥"

विशुद्ध आत्मानुभूतिके समय यह व्यवहार तक विलीन हो जाता है

कि आत्मा, अपनेमें अपनेको जानता है। यहाँतक कि उस समय नयप्रमाण और निक्षेप-सम्बन्धी विकल्पोंके लिए भी किंचित् भी अवसर नहीं रह जाता है।

अखण्ड आत्मानुभूतिकी वेलामें शुद्धात्म-स्वरूपका व्याख्यान करनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रके विकल्प भी शेष नहीं रहते हैं। उस समय एकमात्र जिस अखण्ड-चैतन्य ज्योतिका प्रकाश देदीप्यमान रहता है, कविवर केवल उसी चैतन्य ज्योतिकी अनुभूतिमें सदाके लिए निमग्न रहना चाहते हैं। देखिए, कविने अपनी अभिलाषाकी तीव्रता कितनी स्पष्ट पदावलीमें प्रस्तुत की है :

> "दरसन ज्ञान चरन के विकलप, कहो कहाँ ठहरायहै।
> 'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै, पुद्गल पुद्गल थायहै॥"

विशुद्ध आत्मानुभूतिके क्षणोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र-जैसे आत्म-विकल्प भी शेष नहीं रह जाते हैं। उस समय तो चैतन्य अपनी विशुद्ध चैतन्य अवस्थामें विद्यमान रहता है और पुद्गल अपने विशुद्ध पौद्गलिक स्वरूपमें।

मानवके सम्पूर्ण त्रासका आधार उसकी अपनी भूल-भरी बहिर्मुख प्रवृत्ति है। अपनेको सुखी बनानेके लिए उसे कविवर द्यानतराय-जैसी ही शुद्धात्मानुभूतिकी साध सामने रखकर ही अग्रसर होना चाहिए :

> "मोहि कब ऐसो दिन आयहै।"

■

मेरी बेर कहा ढील करीजी !

मानवका जीवनाकाश जब संकटकी घन-घटाओंसे आच्छन्न हो जाता है तब वह कर्त्तव्य-विमूढ़ होकर भगवान्‌की शरणमें जाता है। उसे इस बातकी दृढ़ श्रद्धा रहती है कि भगवान्‌की सातिशय शरण उसे निश्चय ही संकट-मुक्त कर देगी। उसकी सुदृढ़ श्रद्धाके आधारबिन्दु होते हैं वे पौराणिक भक्तजन जो घोरातिघोर संकटमें पड़कर अनन्त शक्तिशाली भगवान्‌की शरणमें पहुँचे और समीचीन भक्तिके कारण घोरतम संकटोंसे मुक्त हो गये।

कविवर द्यानतराय भी इस पदमें बड़े संकटग्रस्त दिखलाई दे रहे हैं। वह अनेकानेक पौराणिक महापुरुषोंके उद्धारका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और भगवान्‌से निवेदन करते हैं कि "भगवन्, मैं एक भयंकर संकटमें पड़ा हुआ हूँ। मुझे शीघ्र ही इस संकटसे बचाइए। मेरी बार क्यों देर कर रहे हैं।" यह बात स्मरणीय है कि द्यानतरायका संकट साधारण लौकिक संकट नहीं है। अपनी अवैराग्यपूर्ण दशा ही उन्हें भयंकर संकट दिखलाई दे रही है और इस संकटसे मुक्त होनेके लिए ही वह भगवान्‌की पवित्र शरणमें विनम्र प्रार्थी है।

द्यानतराय पहले सुदर्शन सेठको संकटसे मुक्त करनेका आख्यान भगवान्‌के सामने रखते हैं और देखिए, किस प्रकार स्वयंके संकटको यथाशीघ्र दूर करनेकी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं। वे कहते हैं :

"मेरी बेर कहा ढील करीजी।
सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरीजी॥"

भगवन्, मेरी बार आप क्यों देर कर रहे हैं, जब सुदर्शन सेठ विपत्तिमें पड़े हुए थे उन्हें शूलीपर चढ़ाया जानेवाला था तब तुमने शूलीका सिंहासन बना दिया और एक महान् संकटसे उनका उद्धार कर लिया।

कविवर स्वयंको संकट-मुक्त करनेके लिए सीता और वारिषेणके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और भगवान्से विनय करते हैं कि इनके समान मुझे भी संकटसे बचाइए। कविका निवेदन सुनिए :

"सीता सती अगनि में बैठी, पावक नीर करी सगरीजी।
वारिषेण पै खडग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरीजी॥

भगवन्, तुमने सती सीताकी अग्नि-परीक्षाके समय धधकते हुए अग्निकुण्डको पानी-पानी कर दिया और जब वारिषेणपर खड्ग चलाया गया तो उसे सुन्दर पुष्पमालाके रूपमें परिणत कर दिया।

इसके पश्चात् कविवर धन्यकुमार तथा श्रीपालके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार इन लोगोंको असीम संकटों एवं कष्टोंसे मुक्त कर दिया गया उसी प्रकार भगवन्, मुझे भी कष्टोंसे छुड़ाइए। कविवरका आत्म-निवेदन सुनिए :

"धन्या वापी पर्‍यो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरीजी।
सिरीपाल सागर तैं तार्‍यो, राजभोग कै मुकति वरीजी॥"

भगवन्, धन्यकुमार जब बावड़ीमें गिर पड़े तो उन्हें उससे निकाला और उनका घर अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंसे भर दिया। समुद्रमें पड़े हुए श्रीपाल राजाको संकटसे मुक्त किया और इसके पश्चात् उन्होंने राज्यका भोग कर मुक्तिश्रीका वरण किया।

अन्तमें कविवर सोमाके साथ घटित होनेवाली दुर्घटना और उससे मुक्ति-लाभको कहानी प्रस्तुत करते हैं और अपनी अनासक्त परिणतिको प्रकट करते हुए भगवान्से अपनी विराग-दशा करनेकी प्रार्थना करते हैं। कवि कहते हैं :

"साँप कियो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरीजी ।
'द्यानत' मैं कछु जांचत नाहीं, कर बैराग्य-दशा हमरीजो ॥"

भगवन्, सोमाके ऊपर दया कर तुमने उसे काटनेके लिए भेजे गये साँपकी फूल-माला बना दी । कविवर निवेदन करते हैं कि भगवन्, मुझे संसारके किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं है । बस, हमारे ऊपर तो ऐसी कृपा कीजिए, जिससे हम शीघ्र ही सम्पूर्ण विराग-दशा प्राप्त कर लें । भगवन्, मेरी बार आप क्यों देर कर रहे हैं ?

"मेरी बेर कहा ढील करीजी ॥"

■

तुम प्रभु ! कहियत दीनदयाल

संसारका यह नियम है कि मानवका यदि कोई निकटतम स्वजन सब प्रकारसे समर्थ होकर अपने छोटे बन्धुका ध्यान नहीं रखता है और उसे इस कारण कष्टमय जीवन-यापन करना पड़ता है तो उसे बड़ी निराशा होती है और वह अवसर पाकर अपने समर्थ स्वजनको उसकी इस उपेक्षा-पूर्ण प्रवृत्तिपर विनम्र उपालम्भ देता है।

कविवर द्यानतराय भी आज ऐसी ही मनोदशामें हैं। संसारके बन्धन और उत्पीड़नोंसे वह व्याकुल और दुःखी हैं। जिनेन्द्र भगवान् ही उन्हें अपने अशरण-शरण दिखलाई देते हैं। उनके सिवाय अन्य कोई उन्हें ऐसा समर्थ दिखलाई नहीं देता जो सांसारिक दुःख-निवृत्तिकी इस जटिलतम समस्याके समाधानमें उनका अनन्य सहायक हो सके। परन्तु भगवान्की शरणमें जाते ही उन्हें प्रतीत होता है कि वे तो मुक्तिमें विराजमान हैं और उन्हें अपने भक्तकी दयनीय दशाका तनिक भी ध्यान नहीं है तो कविवरके मनमें रोषकी एक क्षीण रेखा दौड़ जाती है और वह बड़ी विनयके साथ भगवान्को उपालम्भ देने लग जाते हैं। देखिए, उनके उपालम्भका ढंग कितना विनम्र एवं तर्कसंगत है। वह कहते हैं :

"तुम प्रभु ! कहियत दीनदयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल ॥"

हे भगवन्, आप दीन-बन्धु एवं दीन-कृपालु कहलाते हैं। परन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि आप तो मुक्तिमें जाकर विराजमान हो गये और हम संसार-सागरमें ही परिभ्रमण कर रहे हैं। दीन-दयालु होकर भी आपने

हमारे ऊपर तनिक भी कृपा नहीं की।

मन-वचन-कायपूर्वक निरन्तर भगवान्का पुण्यस्मरण करनेपर भी भगवान्की ओरसे जब भक्तको कुछ प्राप्त नहीं होता है तो उसका मन निराशा और चिन्तासे भर जाता है। एक ओर उसे प्रभुकी अनन्त प्रभुता एवं कृपालुता ध्यानमें आती है तो दूसरी ओर अपनी अनन्य निष्ठा एवं विफलता। कविवर द्यानतराय ऐसी ही स्थितिमें पड़कर भगवान्से विनम्र निवेदन कर रहे हैं। उनकी अभ्यर्थना उन्हींके गीतिमय शब्दोंमें सुनिए :

"तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन-वच तीनों काल।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल॥"

भगवन्, हम बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिसे तीनों काल, मन-वचनसे आपके पवित्र नामका जाप करते हैं। परन्तु आप सर्वशक्ति-सम्पन्न होकर भी हमको कुछ भी नहीं देते हैं। जब आपका हमारे ऊपर इस प्रकार उपेक्षा-भाव है तब कह नहीं सकता हमारा क्या हाल होगा ?

भक्तको इस बातकी अविचल श्रद्धा होती है कि भगवान् उसकी अच्छाई और बुराईकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर निश्चय ही उसे पूर्ण-काम कर देते हैं। कविवर द्यानतरायकी भी अपने भगवान्पर ऐसी ही असामान्य श्रद्धा है। परन्तु भगवान्से वह किसी लौकिक कामनाकी पूर्तिके लिए प्रार्थी नहीं दिखलाई देते। अपितु अन्तरमें रमे हुए राग-द्वेषको विच्छिन्न कर देना ही उनकी कामनाका केन्द्रबिन्दु है। कविवरका हार्दिक निवेदन सुनिए :

"भले-बुरे हम भगत तिहारे, जानत हो हम-चाल।
और कछू नहिं यह चाहत हैं, राग-द्वेष कौं टाल॥"

भगवन्, चाहे हम भले हों, चाहे बुरे। भक्त तो आपके ही हैं। फिर आप हमारी प्रवृत्तिसे भी पूर्णतया परिचित हैं। कविवर कहते हैं : भगवन्, हमारी अन्य कुछ भी आकांक्षा-अभिलाषा नहीं है। हम केवल

यही चाहते हैं कि हमारा राग-द्वेष आत्मासे दूर हो जाये और हम सहजानन्दमय स्वरूपको प्राप्त कर सकें।

कविवरका भगवान्के प्रति किया गया अन्तिम आत्म-निवेदन देखिए। इसमें कितनी नम्रता एवं श्रद्धासे वह निवेदन कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"हम सौं चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपा-विसाल।
'द्यानत' एक बार प्रभु, जगतैं, हमको लेहु निकाल॥"

भगवन्, हम कितने ही पतित एवं असमर्थ क्यों न हों, आप तो करुणाके समुद्र हैं। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि कमसे कम एक बार तो इस संसार-बन्धनसे हमें मुक्त कर दें।

कहाँ हैं, आज वह भक्त जो संसारकी माया एवं बन्धनसे मुक्त होनेके लिए भगवान्की शरणमें विनम्र प्रार्थी हों और कह रहे हों :

"......एक बार प्रभु, जगतैं, हमको लेहु निकाल।"

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई !

विशुद्ध आत्म-साक्षात्कारके लिए ध्यानका बड़ा ही महत्त्व है। और यह ध्यान मनोनिग्रह एवं मनोगुप्तिके बिना कदापि सम्भव नहीं है। मनको जबतक विविध विकल्पों एवं चिन्ताओंसे अवरुद्ध कर आत्माभिमुख नहीं किया जाता है, आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार असम्भव बना रहता है। अतः विशुद्ध आत्मदर्शन एवं शुद्ध आत्म-स्वरूपकी उपलब्धिके लिए मनका निग्रह नितान्त आवश्यक है।

कविवर द्यानतराय ऐसे ही मनोनिग्रहके हेतु विशुद्ध आत्म-स्मरणके लिए बल दे रहे हैं। वह कहते हैं :

"ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुँ न जाई।
परमेसुर सौं साँच रहीजै, लोक-रंजनाको तज दीजै॥"

हे भाई, तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राण-वायु स्तम्भित हो जाये और यह मन किंचित् भी चलित न हो। हे भाई, तुम भगवान्के प्रति सत्य रहो और लोकोंको रंजायमान करनेवाले किसी भी कार्यको मत करो।

विशुद्ध आत्मस्वरूपकी उपलब्धिके लिए अन्य साधन भी आवश्यक हैं। जप, तप आसन और प्राणायामका भी अपना स्वतन्त्र एवं अद्भुत स्थान है। प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधिकी भी अपनी निराली महत्ता है। कविवर द्यानतराय इसी ओर अपनी कवित्वपूर्ण शैली-द्वारा संकेत कर रहे हैं। उन्हींके शब्दोंमें सुनिए :

जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै ॥"

हे भाई, तुम अन्तरंग तथा बहिरंग—दोनों प्रकारसे जप और नियमोंका पालन करो। आसन और प्राणायामको सँभालो। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास करो तथा ध्यान और समाधिके महान् रसका पान करो।

जप-तप और नियम-पालन करनेकी सार्थकता इसमें है कि इनके आचरणसे मानव सदाके लिए भव-बाधासे मुक्त हो जाये। यदि उसे जमान्तरमें भी जप-तप-व्रतोंके पालनकी आवश्यकता पड़ती है तो इसका अर्थ है कि इनके पालन करनेमें कहीं त्रुटि रही है और फलतः यह निष्फल है। कविवरने इसी तथ्यको कितनी स्पष्टतासे वर्णित किया है, देखिए :

"सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना ॥"

हे भाई, ऐसी तपस्या करो, जिससे सदाके लिए इस भव-भ्रमणसे मुक्ति मिल जाये। ऐसा जाप करो, जिससे पुनः जन्मान्तरमें जापकी आवश्यकता न पड़े। ऐसे व्रतोंका पालन करो, जिससे दूसरे जन्ममें व्रत पालन न करने पड़ें और मरण भी इस प्रकार समाधिपूर्वक होना चाहिए, जिससे सदाके लिए जन्म एवं मरणके चक्रसे छुटकारा मिल जाये।

शाश्वत आत्म-सुख प्राप्त करनेके लिए मानवको गम्भीर आत्म-साधनाके साथ निरन्तर जागरूक एवं अप्रमत्त रहना वांछनीय है। साधना-में किया गया तनिक-सा प्रमाद भी उसे लक्ष्य-भ्रष्ट कर पतनके गर्त्तमें गिरा सकता है। अतः मानवका कर्त्तव्य है कि वह अनादिकालीन भव-भ्रमणकी परम्पराका सिंहावलोकन करता हुआ अप्रमत्त होकर संयमके पथपर अग्रसर रहे।

कविवर द्यानतराय अपने साधक बन्धुको ऐसा ही सत्परामर्श दे रहे हैं। उनका सुचिन्तित परामर्श सुनिए :

"पंच परावर्तन लखि लीजै, पाँचों इन्द्रीको न पतीजै।
'द्यानत' पाँचों लच्छि लहीजै, पंच-परम-गुरु शरन गहीजै ॥"

हे भाई, पहले पंच परिवर्तनोंपर एक दृष्टि डालो, जिससे तुम्हें अपनी अनादिकालीन संसार-भ्रमणकी कथाका कुछ बोध हो सके। पाँचों इन्द्रियोंका निग्रह करो और इस प्रकार पाँच ऋद्धियाँ प्राप्त करो। मानसिक निग्रह एवं विशुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभके लिए यह आवश्यक है कि हे भाई, तुम निरन्तर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधुओंकी मांगलिक शरण न छोड़ो। हे भाई, तुम इस प्रकार विशुद्ध आत्माका स्मरण करो, जिससे प्राणवायु स्तम्भित हो जाये और मन तनिक भी चंचल न हो।

"ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै, मन कितहुँ न जाई ॥"

■

चेतन, तू तिहुँकाल अकेला।

संसारी आत्मा सदासे ममत्वशील अतएव संग्रही रहा है। उसकी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तिमें भी मोह ही प्रधान निमित्त है। यही कारण है कि यह आत्मा निरन्तर परकीय वस्तुओंको अपनाता है एवं उनमें तीव्र निजत्व तथा रागबुद्धि रखता है। माता-पिता, स्त्री-पुत्र, स्वजन-परिजन, धरा-धाम, धन-धान्य – सब कुछ, जिससे उसको तनिक भी आत्मीयता नहीं है, अपना मानता है। परन्तु इसे इस बातका तनिक भी विवेक नहीं है कि वह अपने-आपमें सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य है और अन्य वस्तुओंसे उसका कुछ भी नाता नहीं है। वह सदासे अकेला है और सदा अकेला रहेगा। शरीर भी उसका नहीं है और यहाँतक कि उसकी आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाही-कार्मिक वर्गणाओंसे भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

कविवर बनारसीदास अपने आत्म-स्वरूपसे पूर्णतया परिचित हैं। वह इस पदमें संसारके मोही जीवको वस्तु-स्वरूप तथा आत्म-स्वभावकी यथार्थ जानकारी दे रहे हैं। देखिए, उन्हें संसार-भाव एवं आत्म-रूपकी कितनी सम्यक् अनुभूति है और किस स्पष्टता तथा दृढ़ताके साथ वह संसारी चेतन-को उससे अवगत करा रहे हैं। वह कहते हैं :

> "चेतन, तू तिहुँकाल अकेला।
> नदी-नाव संयोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ॥"

हे आत्मन्, तू तीनों कालमें अकेला है – अपने स्वरूपको छोड़कर तेरा पर-वस्तुसे किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है, न हुआ है और न होगा। कुटुम्ब-का सम्बन्ध तो नदी-नावके संयोगकी तरह है। न वह शाश्वत है और न

उसमें अपनापन है।

आत्म-स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दमय है। इसके विपरीत संसार और शरीर—सब कुछ अशाश्वत और आत्मरूपसे भिन्न है। संसार-के नाते भी अखण्ड आत्मरूपकी तरह सदा रहनेवाले नहीं हैं। इसी तथ्यको कविवरने बड़ी सजीव शैलीमें प्रतिपादित किया है। कविका सम्बोधन सुनिए :

"यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला।
सुख-संपति शरीर जल-बुदबुद, विनशत नाहीं बेला॥"

जिस प्रकार पटबीजनेकी क्रीड़ा असार और अनित्य है उसी प्रकार संसारका रूप भी अनित्य और असार है। संसारका सुख, वैभव और शरीर उसी प्रकार नाशवान हैं, जिस प्रकार जलका बबूला आँखोंके देखते-देखते ही विलीन हो जाता है। आत्मन्, तेरी इन वस्तुओंसे तनिक भी आत्मीयता नहीं है।

मोहका स्वभाव है आत्म-स्वभावको आच्छन्न कर उसमें राग-द्वेष विकारों-को जन्म देना। इसके कारण ही आत्मा संसारकी विभिन्न वस्तुओंमें ममत्व-बुद्धि रखता है। इस ममत्व-बुद्धिके कारण पर-वस्तुओंमें भी इसकी इतनी उग्र आसक्ति एवं तीव्र राग रहता है कि वह निरन्तर आत्मभान एवं कल्याणसे रहित होकर इन वस्तुओंके संग्रह करनेमें ही संलग्न बना रहता है और संसारकी विभिन्न योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठाता रहता है। कविवरने यहाँ प्रस्तुत वस्तु-दर्शनका बड़ी सुन्दरतासे समावेश किया है। वह कहते हैं :

"मोह-मगन आतम-गुन भूलत, परी तोहि गल-जेला।
मैं मैं करत चहूँगति डोलत, बोलत जैसे छेला॥"

हे आत्मन्, तुम मोहमें मग्न होकर आत्म-गुणोंको भूल रहे हो – पर-वस्तुओंको अपनाकर उनमें तीव्रानुराग और आत्म-भाव कर रहे हो। इस भूलके कारण जो तुम भव-कारागृहमें बन्दी हो, तुम्हें इसका तनिक भी बोध

नहीं है। मोहके कारण आत्मन्, तुम इसी प्रकार मैं-मैं करते हुए चतुर्गति-के दुःख उठा रहे हो, जिस प्रकार बकरा 'मे-मे' करता हुआ मिमियाता रहता है।

विशिष्ट ज्ञानीजनके सत्संगसे ही मनुष्यको अपनी भूलका पता चलता है और उससे संबोधना पाकर ही वह अपनी मिथ्या-बुद्धि एवं मान्यताका परित्याग कर सुपथपर अग्रसर होता है। देखिए, कविवर यहाँ मोही प्राणी-को सुगुरु-पथानुगामी बननेका कितना तर्कपूर्ण सन्देश दे रहे हैं। उनका संदेश है :

''कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरुका चेला।
तास बचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला॥''

हे आत्मन्, तुम मिथ्या-बुद्धि छोड़ दो और सद्गुरुकी शरणमें पहुँचो। अन्तस्में सुगुरुकी वाणीपर ही प्रतीति करो। यही एक मार्ग है, जिसका अनुसरण कर सरलतापूर्वक भव-बाधासे मुक्ति मिल सकती है।

विश्व-विभूतिका संग्रहकामी आजका मानव समझ ही नहीं पाता है कि **'चेतन, तू तिहुँकाल अकेला।'** फिर उन महात्माओंका सत्संग भी दुर्लभ है जिनका शिष्यत्व उन्हें उल्लिखित तथ्यसे अवगत करा सके। परन्तु चेतन-का सत्य कल्याण इस सम्यक् प्रतीतिके बिना कदापि संभव नहीं है :

''चेतन, तू तिहुँकाल अकेला।''

देखो भाई, महाविकल संसारी

मोह और अज्ञान – दोनों ही आत्माके बड़े विघातक और अहितकारक हैं। इनके कारण यह जीव न मालूम कबसे व्याकुल और दुःखी हो रहा है। मोहके कारण यह अनात्म वस्तुओंमें ममत्व-बुद्धि और राग करता है तथा अज्ञानके कारण अकल्याणकारिणी प्रवृत्तिको भी कल्याणकारिणी समझता है। यह अज्ञानका ही विशद विलास है, जिसके कारण व्यक्ति हिंसा करता हुआ भी आनन्दका अनुभव करता है और असत्य भाषणसे कार्य सिद्ध करनेमें चातुर्य समझता है। दूसरेके द्रव्यको अपहरण करनेमें अपनी सामर्थ्य-शीलता और परिग्रहकी अभिवृद्धिमें प्रतिष्ठाशालिताका अभिमान करता है। परन्तु इतनेसे इसे वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। आत्म-शान्तिकी कामनासे कभी यह विविध प्रकारके योगासन लगाता है, शरीरको वशवर्ती करनेके प्रयत्न करता है और आगम-वेद आदिका स्वाध्याय करता है, पर हृदयमें एक ऐसा अहंभाव रहता है, जिसके कारण यह अपने प्रभुत्व-निरूपणमें एवं अपनी प्रभुत्व-प्रसारणामें ही तन्मय रहनेके कारण निरन्तर चिन्ताशील बना रहता है और लेशमात्र भी शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता। अज्ञानके कारण इसे सम्यक् आत्म-भान नहीं हो पाता। फलतः यह जड़में आत्मबुद्धि करने लग जाता है और लक्ष्यभ्रष्ट होकर संसारमें परिभ्रमण करता रहता है।

कविवर बनारसीदास इस पदमें इसी प्रकारके महान् व्याकुल संसारी मानवकी करुण दशाका चित्रण कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"देखो भाई, महाविकल संसारी।
दुखित अनादि मोहके कारण, राग-द्वेष भ्रम भारी।"

हे भाई, देखो तो यह संसारी मानव कितना अधिक दुःखी है।

यह मानव अनादिकालसे आत्माके साथ सम्बद्ध मोहके कारण दुःखी है और राग-द्वेष तथा अज्ञानके दुःसह भारको ढो रहा है।

संसारी मानव विश्वविश्रुत पाँच महापापोंका सेवन करता हुआ भी किस गर्वके साथ अपनेको महान् एवं धन्य समझता है। कविवरने इसका बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन किया है। कविकी कवित्वपूर्ण वाणी सुनिए :

"हिंसारम्भ करत सुख समुझैं, मृषा बोलि चतुराई।
परधन हरत समर्थ कहावै, परिग्रह बढ़त बड़ाई॥"

संसारका यह मानव दूसरे प्राणियोंको पीड़ाकारक घोरतम हिंसासे पूर्ण आरम्भ कार्य करता है; परन्तु उसमें भी वह सुखका ही अनुभव करता है। असत्य भाषण करके दूसरे प्राणीके अन्तस्‌में ठेस पहुँचाता है, परन्तु अपना स्वार्थ सिद्ध होनेसे उसमें एक गम्भीर चातुरी मानता है। दूसरेके द्रव्यका अपहरण करके भी समर्थ और शक्तिशाली समझता है। और अनेक चिन्ताओंके मूलकारण परिग्रहकी वृद्धि होनेपर भी आत्म-सम्मानकी वृद्धिका अनुभव करता है।

अन्तः शान्ति प्राप्त करनेके लिए ससारी मानवका प्रयास निरन्तर चलता रहता है। इसके लिए वह अपने वचन तथा कर्मको भी नियन्त्रणमें रखता है परन्तु मनके अनियन्त्रित रहनेसे वह अशान्तका अशान्त ही बना रहता है।

कविवर इसी तथ्यको अपनी वैज्ञानिक विवेचना-द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं। सुनिए :

"वचन राख काया दृढ़ राखैं, मिटै न मन चपलाई।
यातैं होत और की औरैं, शुभ करनी दुखदाई॥"

संसारी मानव सम्यक् सुख प्राप्त करनेके ध्येयसे अपने वचनकी अनर्गल प्रवृत्तिपर नियन्त्रण रखता है और शरीरका भी दृढ़तासे संगोपन

करता है; पर मनकी चपलता शान्त नहीं हो पाती। परिणाम यह होता है कि मानवकी प्रशस्त साधना भी अमङ्गलकारिणी और दुःखद ही सिद्ध होती है।

आत्म-शान्तिकी यात्रामें मानव योग और कर्म-निरोधका भी आश्रय लेता है, परन्तु अन्तर्दृष्टि जाग्रत् न होनेसे इसे तनिक भी शान्ति नहीं मिल पाती। देखिए, कविवरने वस्तुस्थितिका कितना सजीव विवेचन किया है :

"जोगासन करि कर्म निरोधै, आतमदृष्टि न जागै।
कथनी करत महन्त कहावै, ममता मूल न त्यागै॥"

यह मानव अनेक प्रकारके योगके आसनोंका अवलम्ब लेकर अशुभ प्रवृत्तियोंको रोकता है; परन्तु आत्म-दृष्टि जागृत नहीं हो पाती और उसके अभावमें शान्ति-लाभ सर्वथा दुष्कर हो जाता है। इतना ही नहीं, यह अनेक दिव्य उपदेशोंका दान करता हुआ 'महन्त'-जैसी दुर्लभ उपाधियोंको भी प्राप्त कर लेता है; परन्तु अन्तस्से ममता नहीं निकल पाती और वह दुःखीका दुःखी ही बना रहता है।

शान्तिकामी मनुष्य सोचता है, वेद, आगम और सिद्धान्तग्रन्थोंके चिन्तन-मनन एवं श्रवणसे शान्ति मिलेगी; पर परिणाम विपरीत ही निकलता है। इतनेपर भी मानवका 'अहं' सुप्त नहीं हो पाता और उसकी मायामें निमग्न रहनेसे उसे शुद्धात्मस्वरूपकी क्षणिक भी उपलब्धि एवं दर्शन नहीं हो पाता। कविवर इसी बातको बड़ी स्पष्टताके साथ दिखला रहे हैं :

"आगम वेद सिद्धान्त पाठ सुनि, हिये आठ मद आनै।
जाति-लाभ-कुल-बल-तप-विद्या-प्रभुता रूप बखानै॥"

यह मानव आगम, वेद और सिद्धान्तशास्त्रोंका पाठ सुनता है, फिर भी इसके हृदयसे जाति, लाभ, कुल, बल, तप, विद्या एवं प्रभुताका पद

दूर नहीं हो पाता, जिसके कारण यह उन्मत्तकी भाँति निरन्तर अपने 'अहं'में चूर रहता है और व्याकुल बना रहता है।

जिस प्रकार बालूसे तेल नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार जड़-वस्तुको अपनाकर और उससे ममत्व जोड़कर यथार्थ आत्म-सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। आत्म-सुख प्राप्त करनेके लिए आत्म-बोध एवं रुचि होना नितान्त वांछनीय है। देखिए, कविवरने यहाँ इसी आत्म-विवेककी उपयोगिताका कितने सुन्दर शब्दोंमें चित्रांकन किया है :

"जड़ सौं राचि परमपद साधै, आतम शक्ति न सूझै।
बिना विवेक-विचार दरब के, गुण-परजाय न बूझै॥"

संसारी मानव जड़वस्तुसे रुचि रखकर परमपदको सिद्ध करना चाहता है; परन्तु उसे आत्म-बोध एवं आत्म-दर्शन नहीं हो पाता। जबतक वह उनकी विवेक-शक्तिको जागृत नहीं करता, उसे द्रव्योंके गुण-पर्यायका ज्ञान नहीं हो सकता। वह नहीं समझ सकता कि अमुक पर्याय किस द्रव्यकी है और अमुक गुणोंका किस द्रव्यके साथ सम्बन्ध है। फलतः वह यथार्थ वस्तुज्ञानसे बिछुड़ जाने और पर-वस्तुके गुण-पर्यायमें लिप्त हो जानेके कारण वास्तविक आत्म-सुख नहीं प्राप्त कर पाता।

विवेक-विकल मानव किस प्रकार अपनी-अपनी रुचिके राग-रंगमें रँगा हुआ है और प्रयत्न करके भी शाश्वत शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता, देखिए कविवरने इसका कैसा मार्मिक वर्णन किया है। वह लिखते हैं :

"जसवाले जस सुनि संतोषैं, तपवाले मन सोषैं।
गुनवाले परगुन को दोषैं, मतवाले मत पोषैं॥"

संसारमें कोई यशःकामी अपनी कीर्ति-गाथा सुननेमें ही परम सन्तोष-लाभ करते हैं तो कोई तपस्वी अपने शरीरका शोषण करनेमें ही प्रसन्न हैं। कतिपय गुणी दूसरोंके गुणोंमें दोषोद्भावनसे ही आनन्दित होते हैं, तो कुछ अपनी मान्यताओंके पोषणमें ही प्रमोद-लाभ अनुभव करते हैं। परन्तु

इनमें-से एक भी निराकुल सुखका अनुभव नहीं कर पाता।

कविवर स्वयं मानवको उसकी मोह-विकलतासे मुक्ति दिलानेका मार्ग बतला रहे हैं। वह कहते हैं :

"गुरु-उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटै।
कहत 'बनारसि' है करुनारसि, अलख अखय निधि लूटै ॥"

सद्गुरुके उपदेशसे ही मानवकी उदयमें आयी हुई मोहकी व्याकुलता छूटती है। उसी समय यह सच्चा अहिंसक बनता है और निराकुलता-पूर्वक अक्षय निधिका लाभ करता है। हे भाई, देखो तो संसारी मानव कितना दुःखी है।

"देखो भाई, महाविकल संसारी ॥"

■

वा दिन को कर सोच जिय, मन में

मनुष्यकी यह प्रकृति है कि वह इस संसारको नित्य एवं जीवनको शाश्वत मानकर उसमें रहता है और निरन्तर पर-पदार्थोंके एकान्त संग्रहमें निमग्न रहता है। एक दिन उसे इस संसारसे बिदा लेनी होगी, इस बातका वह स्वप्नमें भी ध्यान नहीं रखता। एक साधारण व्यापारी भी इस बातका पूर्ण ध्यान रखता है कि व्यापारके प्रारम्भकालमें उसके पास कितनी पूँजी थी और उसने अपने सम्पूर्ण व्यापारिक जीवनमें कितना हानि-लाभ उठाया। दैनिक, मासिक एवं वार्षिक आँकड़ोंसे वह अपने हिसाबमें बहुत सावधान रहता है और जीवनव्यापिनी सफलताके लिए निरन्तर जागरूक भी। अन्ततः सफलता भी उसके चरण चूमती ही है। परन्तु इस संसारी-मानवकी कथा ही निराली है। वह कदापि इस बातका चिन्तन नहीं करता कि उसने कितनी साधनाकी पूँजी लगाकर यह मानवता प्राप्त किया और फिर उसे कहाँतक सफल बनाया। वह पर-वस्तुओंसे मिथ्या ममत्व करता है और उन्हें निरन्तर पकड़े रहने एवं परलोक तकमें ले जानेके प्रयत्नमें रहता है।

कविवर बनारसीदास यहाँ ऐसे ही व्यक्तिको संबोधन दे रहे हैं। वह कहते हैं :

"वा दिन को कर सोच जिय, मन में।
बनज किया व्यापारी तूने, टांड़ा लादा भारी रे।
ओछी पूँजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे॥

आखिर बाजी हारी, कर ले चलने की तैयारी,
इक दिन डेरा होयगा बन में ॥"

आत्मन्, तुम अपने मनमें उस दिनकी कल्पना तो करो। तुमने व्यापारीके रूपमें व्यापार किया और एक बहुत बड़ा खाडू लादा; पर थोड़ी-सी पूँजी होनेपर भी जुआ-जैसे दुर्व्यसनके शिकार हुए और अन्तमें दावँ हार गये। अन्तमें जब दावँ हार गये तो आत्मन्, अब प्रस्थानकी तैयारी करना है। यहाँसे प्रस्थान कर तुम्हें वनमें डेरा डालना होगा अर्थात् मरकर स्मशानभूमिमें जाना होगा।

धन एवं कुटुम्ब-परिवारसे आत्माका कोई नाता नहीं, परन्तु आज कुटुम्ब-परिवार एवं आर्थिक विभूति ही आत्माका सर्वस्व हो रही है। कविवरने इसी तथ्यको बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे चित्रित किया है। देखिए :

"झूठे नैना उलफत बाँधी, किसका सोना, किसकी चाँदी।
इक दिन पवन चलैगी आँधी, किसकी बीबी, किसकी बाँदी॥
नाहक चित्त लगावै धन में ॥"

आत्मन्, तुमने अपने नेत्रोंसे व्यर्थ तथा मिथ्या ही प्रेम बाँधा। संसारमें सोना और चाँदी किसका रहा है? आत्माके परलोकवासी होते ही सब कुछ यहाँ ही रह जाता है उसके साथ कुछ भी नहीं जाता। कुटुम्बीजन तथा स्त्री-पुत्रादि और परिजन भी – सब यहाँ ही रह जाते हैं। आत्मन्, तुम इन परकीय पदार्थों तथा धनमें व्यर्थ ही अपना मन डुलाते हो।

संसारी आत्मा जब जन्मान्तर लेनेके लिए अपने-द्वारा अधिवसित एक देहका परित्याग करता है तब वह केवल अपने आत्म-द्रव्यको लेकर प्रस्थान करता है। पर वस्तु शरीर तक उसके साथ नहीं जाता। उस समय शरीर निर्माण करनेवाले तत्त्व भी अपने-अपने मूल तत्त्वोंमें जा मिलते हैं। कविवर यहाँ इसी रहस्यका उद्घाटन कर रहे हैं। देखिए, उन्होंने एक गहन दार्शनिक सिद्धान्तका किस कवित्वपूर्ण प्राञ्जल भाषामें स्पष्टीकरण किया है:

"मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी॥
यह मिट्टी है तेरे तन में॥"

हे आत्मन्, जिस प्रकार मूर्खसे मूर्ख मिल जाता है और ज्ञानीसे ज्ञानी पुरुष मिल जाता है, उसी प्रकार मृत्युके बाद इस शरीरका पार्थिव अंश पृथिवीमें मिल जाता है और जलांश जलमें। आत्मन्, तुम्हारा शरीर तो मिट्टीका बना हुआ है – मिट्टीमें मिलकर रहेगा।

आत्माका गौरव इसमें है कि वह जन्म और मरणके चक्रसे मुक्त होकर अपने विशुद्ध आत्म-रूपको प्राप्त करे। कविवर इसी विशुद्ध आत्म-स्वरूपके लाभके लिए संसारी मानवको सम्बोधन कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"कहत 'बनारसि' सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरबाना रे।
जीवन मरन किया सो नाहीं, सर पर काला निशाना रे॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में॥"

हे भव्य आत्मन्, तुम्हारा गौरव एवं प्रतिष्ठा इसमें है कि तुम अपने शाश्वत एवं निष्कलंक निर्वाण पदको प्राप्त करो। यह पद भी तुम्हारी सम्पूर्ण विशुद्ध चिन्मय दशाके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जन्म और मरण– यह तुम्हारा स्वरूप नहीं है। यह तो तुम्हारे सिरपर कलंक है और इसे धोकर ही तुम्हारी तेजोमय गौरवश्रीका प्रकाश होगा। आत्मन्, यदि तुमने सर्वतः समर्थ अपनी यौवनावस्थामें अपने परमपद-निर्वाण लाभके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया तो वृद्धावस्थामें अपनी अकर्मण्यतापर तुम्हें गहरा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उस समय तुम्हें रह-रहकर याद आयेगी कि "मैंने आत्म-स्वरूपके लाभके लिए कुछ नहीं किया। खेद !"

हे आत्मन्, उस दिनकी कल्पना तो करो, जब तुम आत्म-कल्याणकी दिशामें कुछ भी प्रयत्न न करके जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे होगे।

"वा दिन को कर सोच जिय, मन में।"

■

चेतन, तोहि न नेक संभार

संसारी मानवात्मा अज्ञानसे आच्छन्न है—वह सम्पूर्ण रूपसे अज्ञानके प्रभावसे प्रभावित है। यही कारण है कि वह अबतक सम्यग्ज्ञान अथवा भेद-विज्ञान नहीं प्राप्त कर सका है। विवेक न होनेसे वह वस्तुका सम्यग्दर्शन नहीं कर पाता, फलतः उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अज्ञानमूलक ही होती है, पर अविवेकी मानव समझता है कि वह सत्य-मार्गपर है और उसकी प्रवृत्ति भी सन्मार्गानुगामिनी है। यह अनुभव नहीं कर पाता कि वह जिन प्रवृत्तियोंका स्वयं स्रष्टा है एवं जिन्हें वह आत्म-कल्याणकारक समझता है, वे ही उसे अनन्त बन्धन-पाशमें बाँधनेवाली हैं।

कविवर बनारसीदास इस पदमें ऐसे ही अविवेकी मानवकी प्रवृत्तिका दिग्दर्शन कराते हुए उसे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करनेके लिए सम्बोधनादान कर रहे हैं। देखिए, वह कितनी स्पष्टता एवं आत्मीयताके साथ सम्बोधते हैं :

"चेतन, तोहि न नेक संभार।
नख सिख लों दिढबन्धन बेढे, कौन करै निरबार॥"

आत्मन्, तुम्हें तनिक भी विवेक नहीं है। तुम नखसे लेकर शिखा तक किस प्रकार दृढ़ बन्धनसे वेष्टित हो, इसकी तुम्हें किंचित् भी जानकारी नहीं है। आत्मन्, पता नहीं, इस अविवेकपूर्ण अवस्थामें पड़े हुए तुम्हारा कैसे उद्धार होगा ?

अविवेकी प्राणीकी प्रवृत्ति ऐसी ही अज्ञानपूर्ण होती है जैसे आग तथा मदिरा पीनेवालेका। निम्नांकित पदमें कविवरने इसी तथ्यको आलंकारिक शैलीमें सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किया है। वह कहते हैं :

"जैसे आग पषान काठ में, लखिय न परत लगार।
मदिरा पान करत मतवारो, ताहि न कछू विचार॥"

आत्मन्, जिस प्रकार आग, पत्थर और काठको जलानेमें कुछ भी विवेक नहीं करती तथा मदिरा पीनेवाला भी उन्मत्त अवस्थामें उचित-अनुचित एवं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका तनिक भी विवेक नहीं रखता, उसी भाँति आत्मन्, अज्ञानावस्थामें तुम्हारी प्रवृत्तिकी दशा है।

अविवेकी प्राणीका आचार निरन्तर मूर्खतापूर्ण एवं आत्मघातक रहता है। कविवर गजराज तथा रेशमके कीड़के दृष्टान्त-द्वारा इसी बातका और अधिक स्पष्टीकरण कर रहे हैं :

"ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार।
आपहि उगल पाट को कीरा, तनहिं लपेटत तार॥"

आत्मन्, जिस प्रकार हाथी स्नान करनेपर भी अपने शरीरपर धूल डाल लेता है। यह नहीं सोचता कि स्नान करनेके बाद धूल डालनेसे स्नान करना निरर्थक हो जाता है और जिस प्रकार रेशमका कीड़ा तन्तुओंको उगलकर स्वयं उनके बन्धनमें बँधता है, उसी प्रकार आत्मन्, तुम्हारी अविवेकमय प्रवृत्तियाँ ही तुम्हें बन्धनमें डालती हैं।

अन्तमें कविवर कबूतरके दृष्टान्तका उल्लेख करते हुए आत्माकी असहाय बद्ध दशाका चित्रण करते हैं और भगवद्गुण-स्मरणको ही बन्धन-मुक्त होनेका आधार प्रतिपादित करते हुए कहते हैं :

"सहज कबूतर लोटन को सो, खुलै न पेच अपार।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमिरन भजन अधार॥"

आत्मन्, जिस प्रकार अदूरदर्शी कपोत विश्राम करनेके लिए पिंजड़ेके अन्दर चला जाता है और पुनः कीली बन्द होते ही उसमें-से निकलना कठिन हो जाता है। उस समय उसके उद्धारका मार्ग केवल एक यही शेष रहता है कि वह भगवान्के मांगलिक गुणोंका स्मरण कर अपने अशुभ

कर्मोंको उपशान्त करे और इस प्रकार दुःखद बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करे। उसी भाँति आत्मन्, जब अपनी अविवेकपूर्ण प्रवृत्तियोंसे तुम कर्म-बन्धनसे आबद्ध हो तब तुम्हारा उससे मुक्त होनेका केवल एक ही उपाय है कि तुम निष्कलंक भगवान्के गुणोंका स्मरण और भजन करो और इस प्रकार बन्धन-मुक्त होकर शाश्वत सुख प्राप्त करो।

संसारका मानव जबतक अपनी अज्ञानमयी प्रवृत्तिसे विरत होकर विवेकपथपर अग्रसर नहीं होता, कविवर बनारसीदासका उक्त उद्बोधन उसे निरन्तर प्रेरणादान करता रहेगा :

"चेतन, तोहि न नेक संभार ॥"

■

भोर भयो उठ जागो, मनुवा !

संसारी मानवका जीवन नितान्त व्यस्त, आकुल एवं अशान्त है। वह अपनी सांसारिक प्रवृत्तियोंमें इतना उलझा रहता है कि उसे अपनी इस एकान्त-संसारी जीवन-धाराको मोड़नेका तनिक भी विचार नहीं आता। वह सोच ही नहीं पाता कि जिन प्रवृत्तियोंमें उसका अबतकका अनादि-कालीन जीवन प्रवाहित होता रहा वे कितनी अनात्मीय, परकीय एवं अवास्तविक हैं और शाश्वत आत्म-हितकी दृष्टिसे उसकी इस प्रकारकी बहिर्वृत्तियोंसे विरत होनेकी अपेक्षा उसके विपरीत अबोध मानव दिन और रातको अनात्मीय क्रिया-कलापोंमें ही अपने अमूल्य जीवनकी इतिश्री कर डालता है। उसका दिन दैनिक व्यापार एवं गार्हिक कार्योंमें चला जाता है और रात सोनेमें चली जाती है। फिर दिन आता है और वह अपने व्यापारमें प्रवृत्त हो जाता है और रात आती है और वह सो जाता है। इस प्रकार दिन और रातके प्रवृत्ति-चक्रमें ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। आत्म-कल्याणके लिए उसे समय ही नहीं मिलता। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु तो आत्म-बोध एवं आत्म-दृष्टि है। बिना आत्म-बोध एवं आत्म-दृष्टिके वह अनात्मीय क्रिया-कलापोंको किस प्रकार परकीय तथा हेय मान सकता है और किस प्रकार इनसे विरत होनेका संकल्प एवं चेष्टा कर सकता है।

सुयोगसे कुछ आत्म-प्रबुद्ध महात्मा इस मानवको सम्बुद्ध करते हैं और इसे सम्यक् आत्म-कल्याणके मार्गका निर्देशन करते हैं। कलाकार ज्ञानानन्द ऐसे ही आत्मज्ञानी महात्मा हैं। संसारी मानवकी बहिर्मुख प्रवृत्तिसे उनका

मन दयार्द्र है। देखिए, कितनी सहृदयताके साथ वह मानव-मनको प्रबुद्ध कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब नाम संभारो ॥"
सूतां सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो।
मंगलकारी अमृतवेला, थिर चित काज सुधारो ॥"

हे मन, प्रातःकाल हो गया। उठो, जागो। भगवान्के नामका स्मरण करो – विशुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन करो। हे मन, सोते-सोते रात्रि व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल हो गया। अब तो तुम नींद – भ्रम-नींद छोड़ो। यह वेला अमृतमयी एवं मंगलकारिणी है, अतः स्थिरचित्त होकर आत्म-हित-साधन करो।

आत्म-बोध एवं आत्म-स्वरूपके लाभके लिए वर्षोंकी आवश्यकता नहीं है। काल-लब्धि आनेपर एक क्षण उसके लिए पर्याप्त है। परन्तु इस क्षणिक आत्म-बोधका भी मानव-जीवनमें बड़ा महत्त्व है और यह शाश्वत शान्तिका अनुपम साधन है। देखिए, कलाकर ज्ञानानन्द इस तथ्यका कितनी स्पष्टताके साथ प्रतिपादन कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"खिनभर जो तूं याद करैगो, सुख निपजैगो सारो।
वेला बीत्यां है, पछतावै, क्यूं कर काज सुधारो ॥"

हे मन, यदि तूने क्षण-भरके लिए भी भगवान्के नामका आत्म-स्वरूप स्मरण किया तो तुझे वास्तविक अनुपम सुखकी उपलब्धि होगी। समय बीत जानेपर पश्चात्ताप ही हाथ रह जाता है। तब फिर किस प्रकार आत्महित-साधन किया जा सकता है ?

मनुष्यने दिन-रातके प्रवृत्ति-चक्रोंमें अनन्त समय व्यतीत कर दिया; परन्तु क्षण-भरके लिए भी आत्म-शान्ति नहीं मिली। अध्यात्मरसिक ज्ञानानन्द कह रहे हैं कि अरे मानव, इस जागरणकी मांगलिक वेलामें तो आत्म-कल्याणकी ओर प्रवृत्त होओ। कविवरकी कल्याणमयी वाणी सुनिए :

"घर व्यापारे दिवस बितायो, राते नींद गमायो ।
इन वेला निधिचारित आदर, ज्ञानानन्द रमायो ॥"

रे मानव, घर और व्यापारके क्रिया-कलापोंमें तो तुमने दिन व्यतीत कर दिया और रात सोते-सोते निकाल दी – दिन और रातके समयका तनिक भी सदुपयोग नहीं किया । अब इस मांगलिक वेलामें तो तुम चारित्रनिधि एवं ज्ञानानन्दमय आत्म-स्वरूपमें रमण करो । हे मन, प्रातः-काल हो गया । उठो जागो । भगवान्के नामका स्मरण करो – विशुद्ध आत्म-स्वरूपका चिन्तन करो ।

"भोर भयो, उठ जागो मनुवा, साहब नाम संभारो ॥"

■

अवधू, सूतां, क्या इस मठ में !

जिस प्रकार मदिरा पीकर प्राणी अपनी सुधि-बुधि भूल जाता है, वही दशा मोह-मदिरासे उन्मत्त हुए संसारी मानवकी है। यह संसारी मानव भी अनादिकालसे मोहकी मदिराको पीकर अपने स्वरूपको भूल रहा है और जो चीज़ें इसकी अपनी नहीं हैं उन्हें रागभावसे अपनी मान रहा है। धन-धान्य, स्त्री-पुत्रादिके साथ ही शरीरमें भी इसकी वैसी ही आत्म-बुद्धि है। इतना ही नहीं, इस मोहके कारण वह शरीरको ऐसा स्थिर एवं शाश्वत समझता है कि वह सोच ही नहीं पाता कि आयुकर्मके समाप्त होते ही यह शरीर भी विनसनेवाला है, नित्य रहनेवाला नहीं है। अतः जबतक यह नीरोग है, सावधानीके साथ इसका सदुपयोग करते हुए आत्महित साधन कर लें। अन्यथा यह शरीर एक ऐसा मठ है जो पानीके किनारे बसा हुआ है और पानीके तेज प्रवाहके आघातमें पता नहीं कब ढह जा सकता है। इसी प्रकार शरीर भी आयुकर्मके क्षीण होते ही कभी भी नष्ट हो सकता है।

अध्यात्म-रसिक ज्ञानानन्द आज ऐसे ही आत्म-विस्मृत मानवको सम्बोधित कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"अवधू, सूतां, क्या इस मठ में !
इस मठ का है कवन भरोसा, पड़ जावे चटपट में।"

हे अवधूत, तू इस मठमें क्यों सो रहे हो? इस शरीरके प्रति क्यों तुम इस प्रकारकी आसक्त बुद्धि बनाये हुए हो? हे अवधूत, इस मठका क्या विश्वास है? पता नहीं, किस क्षण बातकी बातमें यह धराशायी

हो जाये।

यह शरीर अनेक प्रकारको आधि-व्याधियोंका मन्दिर है। शीत, उष्ण एवं रोग आदिकी बाधा इसे एक क्षणमें विकृत एवं व्याकुल कर डालती है। ज्ञानानन्दजी उन्मत्त मानवके सामने शरीरकी यही वास्तविक स्थिति उपस्थित कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"छिन में ताता, छिन में शीतल, रोग-शोक बहु घट में।"

हे अवधूत, यह शरीर उष्णकी बाधाके कारण क्षण-भरमें गरम हो जाता है और शीतकी बाधाके कारण क्षण-भरमें ठण्डा पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकारके रोग-शोक भी इस शरीरको व्याकुल किये रहते हैं।

मनुष्यपर्याय शाश्वत नहीं है। आयुकर्मके क्षीण होते ही यह शरीर क्षीण हो जाता है। देखिए, कविवरने इस शरीरकी एक तटवर्ती मठके साथ तुलना करते हुए शरीरकी अनित्यताका कितनी सुन्दर रूपकालंकृत शैलीमें चित्रण किया है। कविका चित्रण देखिए :

"पानी किनारे मठ का वासा, कवन विश्वास ये तट में।"

हे अवधूत, यह शरीर एक ऐसा मठ है, जो पानीके किनारे खड़ा हुआ है। जिस प्रकार पानीके किनारेवाले तटका कोई भरोसा नहीं होता है और किसी भी समय उसके खिसकनेकी सम्भावनासे मठके ढह जानेकी भी पूर्ण आशंका बनी रहती है, उसी प्रकार इस शरीरका हाल है। उस मठके समान यह शरीर भी आयुकर्मकी समाप्तिके साथ कभी भी नष्ट हो सकता है।

यह अज्ञानी मानव अनादिकालसे इस शरीरमें आत्म-बुद्धि रखकर मूढ हो रहा है। देखिए, कविवर उसकी इस मूढ़ बुद्धिको दूर करनेके लिए किस प्रकार उसे आत्म-प्रबुद्ध होनेका दिव्य सन्देश दे रहे हैं। वह कहते हैं :

"सूता सूता काल गमायो अजहुँ न जाग्यो तू घट में।"

हे अवधूत, तुमने इस शरीर-मठमें सोते-सोते अनन्त काल बिता दिया – अबतक तुम इसे अपना मानकर इसके साथ गठबन्धन किये रहे और अनन्त परिभ्रमणके कारण परिश्रान्त रहे। अरे, तुमने अब भी अपनी आत्म-ज्योतिको नहीं पहचाना ? अब भी आत्म-दर्शन करके शाश्वत कल्याण-मार्गके पथिक बनो।

स्थानान्तर जानेके पूर्व प्रत्येक व्यक्ति मार्ग-व्ययके लिए कुछ-न-कुछ साथमें रखता है। जो नहीं रखता, उसे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार परलोकगामी व्यक्ति यदि सुकृतकी पूँजी साथ नहीं ले जाता है तो उसे भी अनेक प्रकारके दुःखोंका सामना करना पड़ता है। देखिए, कविवर इसी तथ्यको कितनी सजीव व्यावहारिक शैलीमें उपस्थित कर रहे हैं :

"घरटी फेरी आटौ खायौ, खरची न बांची वट में।"

हे अवधूत, तुमने चक्की पीसकर आटा तो खा लिया अर्थात् इस जीवनमें तो तुमने जिस किसी प्रकार अपना निर्वाह कर लिया, परन्तु यदि परलोकमें सुख प्राप्त करनेके लिए कुछ सुकृत नहीं कमाया तो वहाँ अनन्त यातनाओंके भोगके सिवाय और क्या मिलेगा ?

देखिए, अन्तमें कविवरका सम्बोधन किस प्रकार अबोध मानवको आत्म-बोध करानेमें सफल सिद्ध होता है। कविवर कहते हैं :

"इतनी सुनि निधिचारित मिलकर, 'ज्ञानानन्द' आये घट में।"

कविवरको प्रस्तुत सम्बोधना सफल होती है और अबोध मानव अपने अनादिकालीन अज्ञानान्धकाराच्छन्न आत्मामें प्रबुद्ध होता है और अपने अनन्त ज्ञानानन्दमय स्वरूपमें स्थिर रूपसे प्रतिष्ठित रहनेको ही अपना चरम लक्ष्य मान्य कर लेता है। वह अपने वर्तमान लक्ष्यहीन जीवनसे विकल हो कह उठता है : हे अवधूत, तुम इस मठमें क्यों सो रहे हो ?

"अवधू, सूतां, क्या इस मठ में।"

■

क्योंकर महल बनावे पियारे !

मानव स्वप्न-दर्शी है। संसारमें रहते हुए वह भाँति-भाँतिके स्वप्न देखता है, कल्पनाएँ करता है और उनकी पूर्तिके लिए ही निरन्तर संलग्न रहकर जीवनकी इतिश्री कर डालता है। एक मनोरथ पूर्ण होते ही दूसरे मनोरथकी पूर्ति उसे चिन्तित एवं व्यथित कर देती है और दूसरेकी पूर्ति होनेपर तीसरे मनोरथको सफल करनेके लिए वह लालायित हो उठता है। इस प्रकार मानव-मनमें मनोरथोंके ये बीज निरन्तर अंकुरित एवं पल्लवित होते रहते हैं। मानवका महल बनानेका मनोरथ भी इन्हीं मनोरथोंमें-से एक है। भवन-निर्माण मनुष्यकी रागात्मकता एवं आत्म-विमुखताका चरम उदाहरण है। वह अपनी कल्पनाके अनुरूप भवन-निर्माण कराकर चाहता है कि सदाके लिए इस भवनमें उपलब्ध सुखोंका उपभोग करता हुआ जीवन-यापन करता रहूँ। इस भावनासे प्रेरित होकर वह अपने भवनको सुन्दरसे सुन्दर और सर्वाधिक सुविधाजनक बनानेका प्रयत्न करता है। परन्तु खेद ! इतना दर्शनीय एवं अनन्त सुविधा-सम्पन्न भवन बनानेपर भी वह उसमें नहीं रह पाता है और समय आनेपर कुछ ही क्षणोंमें इच्छा न होते हुए भी उसे इसे छोड़ देनेके लिए विवश होना पड़ता है। उस समय उसकी 'अपनी' प्रिय वस्तु भी 'अपनी' नहीं रह पाती है। परन्तु वह उसे मानता रहता अन्त तक 'अपनी' ही है। भले ही वह वस्तु अपने स्वभावसे चलित न हो। मनुष्यकी अज्ञानता एवं दुर्मतिकी यह पराकाष्ठा है। अचेतन पदार्थ अचेतन होनेपर भी अपने स्वभावसे चलित नहीं होते हैं – वह 'स्व' से भिन्न 'पर' होनेपर अपने-'पर' रूपमें ही स्थिर रहते हैं; पर यह संसारी

मानव 'स्व-प्रधान' एवं सचेतन होकर भी कितना 'पर'मय हो जाता है।

अध्यात्म-रसिक ज्ञानानन्दका हृदय भवन-निर्माता मानवकी मूर्खता देखकर दयार्द्र हो रहा है और वह भवन-निर्माणकी निःसारता दिखलाते हुए उससे कहते हैं :

"क्योंकर महल बनावे, पियारे।
पाँच भूमिका महल बनाया, चित्रित रंग रंगावे पियारे॥"

प्रिय मानव, तुम यह महल किसलिए बनाते हो? प्रियवर, तुम तीव्र रागभावसे प्रेरित होकर पाँच खण्डका महल बनाते हो और उसमें चित्र-विचित्र रंगोंकी रँगाई कराते हो।

संसारी मानव अपनेको स्थिर मानकर ही सांसारिक प्रवृत्तियोंमें संलग्न रहता है। उसे अपने जीवनकी अस्थिरताका भान ही नहीं रहता है। ज्ञानानन्द ऐसे आत्म-मूढ़ मानवात्माको वस्तु-स्थितिसे अभिज्ञ कराते हुए कह रहे हैं :

"गोखें बैठो, नाटक निरखै, तरुणी-रस ललचावे।
एक दिन जंगल होगा डेरा, नहिं तुझ संग कछु जावै पियारे॥"

प्रियवर, तुम अपने नव-निर्मापित भवनकी खिड़कीमें बैठकर नाटक देखते हो और तरुण पत्नीके साथ विषयोपभोगमें आसक्त रहते हो। परन्तु तुम्हें पता नहीं है कि एक दिन तुम्हें यह सब छोड़कर जंगलमें डेरा डालना होगा। तुम्हारी आयुष्यकी समाप्तिपर सब चीजें यहीं रह जायेंगी और लोग तुम्हें जंगलमें ले जाकर जला आयेंगे। तुम्हारे साथ अणुमात्र भी चीज़ नहीं जायेगी।

इस पृथ्वीपर महान्से महान् व्यक्ति जन्म लेते आये हैं; पर उनमें-से आज एक भी दृष्टिगोचर नहीं हैं। उनकी कलापूर्ण कृतियोंका संग्रह भी उनके साथ ही समाप्त हो गया। कविवर इसी तथ्यको लेकर अबोध मानवको स्वयं बुद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"तीर्थंकर गणधर बल चक्री, जंगल वास रहावै।
तेहना पण मन्दिर नहिं दीसे, थारी कवन चलावै ॥"

प्रिय बन्धु, तीर्थंकर, गणधर, बलदेव और चक्रवर्ती भी महलको ममत्वजनक मानते हुए छोड़ गये और जंगलमें जाकर आत्म-साधनामें लीन रहे। प्रियवर, इन महापुरुषोंमें-से किसी एकका भी महल आज शेष नहीं है। फिर तुम क्यों अपने महलको चिरस्थायी बनानेकी दृष्टिसे इस प्रकार मोहाकुल हो रहे हो? तुम्हारी हस्ती ही क्या है?

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली द्रव्यपर्यायका विनाश अवश्यंभावी है। यह मानव-पर्याय भी शाश्वत नहीं है। परन्तु अज्ञानी मानव ऐसा समझता है कि मैं तो युग-युगान्तर तक अमर ही रहूँगा। कविवर मानवका यह चिरन्तन भ्रम दूर करते हुए कहते हैं:

"हरि हर नारद परमुख चल गये, तू क्यों काल बितावै।
तिनतैं नवनिधि चारित आदर, ज्ञानानन्द रमावै पियारे ॥"

प्रियवर, हरि, हर और नारद भी यहाँ जन्मे और अपने-अपने समय-पर यहाँसे चले गये। ऐसे महापुरुष भी संसारमें शाश्वत होकर नहीं रह सके। फिर तुम क्यों अपना समय व्यर्थ व्यतीत कर रहे हो? प्रियवर, तुम नवनिधिमय आत्मचारित्रको प्राप्त करो और ज्ञानानन्दमय आत्म-स्वभावमें रमण करो। प्रिय मानव, तुम यह महल किसलिए बनाते हो?

"क्योंकर महल बनावै, पियारे ॥"

प्यारे, काहे कूँ ललचाय

संसारमें मनुष्यकी मूल अशान्तिका कारण उसकी पर-वस्तुओंकी चाह एवं प्रतिक्षण वर्धमान तृष्णा है। प्रथम तो पर-वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए ही मानवको अथक परिश्रम करना पड़ता है; फिर प्राप्त होनेपर ही वह उनसे आनन्द-लाभ नहीं कर पाता है। प्राप्त हुई इच्छित वस्तुओंसे अधिकाधिक मात्रामें उन्हें प्राप्त करनेकी तृष्णा उसे सुखानुभूति नहीं होने देती। अधिकतर मात्रामें संकल्पित वस्तु उपलब्ध होनेपर भी अधिकतम मात्रामें उपलब्ध करनेकी चाह सजग हो उठती है। उस आकुलतामें ही वह इतना डूब जाता है कि उसे जिस किसी परिमाणमें प्राप्त हुई वस्तुसे भी तोष-लाभ करनेका विचार तक नहीं आता। अधिकतमकी तृष्णामें यह हस्तगत अल्प इस प्रकार विलीन हो जाता है मानो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। अन्तमें संसारका अधिकतम भाग प्राप्त होनेपर भी तृष्णाको विराम नहीं मिलता और वह सुख-शान्ति नहीं मिलती जो जीवनका चरम लक्ष्य है। मिले भी कहाँसे ? सुख और शान्ति आत्माका स्वभाव है। वह तो आत्म-रमणमें ही मिल सकता है। उसे पर-वस्तुओंमें खोजना आत्म-जड़ता-के सिवाय कुछ नहीं है। फिर इन पर-वस्तुओंकी मात्रा चाहे अल्प हो, चाहे अधिकतम।

फिर भी मानव तृष्णासे विरत नहीं होता और उसका मन इन पर-पदार्थोंमें ललचाता ही रहता है। अध्यात्म-रसिक विनयविजय यहाँ ऐसे ही तृष्णाकुल मानवका सम्बोधन कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"प्यारे, काहे कूँ ललचाय।
या दुनियाँ का देख तमासा, देखत ही सकुचाय।"

प्रिय, तुम ललचाते क्यों हो ? संसारी प्राणियोंकी मनोवृत्ति देखकर मनमें बड़ा संकोच होता है।

मानव अपने ममत्व-भावसे प्रेरित होकर जिन पर-पदार्थोंका संग्रह करता है, उन्हें वह केवल अपना ही नहीं; किन्तु शाश्वत भी समझता है। परन्तु अशुभ कर्मके उदय आनेपर वह अनन्त पदार्थोंका संग्रह भी जल-बुद्‌बुदकी तरह एक पलमें विलीन हो जाता है और संग्रही मानव सिर धुनता हुआ रह जाता है। विनयविजय इसी तथ्यको बड़ी हृदयग्राही शैलीमें उपस्थित कर रहे हैं:

"मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय।
पलक एक में बहुरि न देखे, जल बुन्द की न्याय॥"

ओ मूर्ख, तू 'मेरी-मेरी' करता है और अपनी आत्माको आकुल करता हुआ भ्रमण करता है। जिस प्रकार जल-बबूला देखते-देखते ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार हे मूर्ख, यह तेरा संग्रह भी क्षण-भरमें ही नष्ट हो जाता है।

मनुष्यकी संग्रही वृत्तिका मूल कारण उसका अविवेक है। इस स्वपर-विवेकके न होनेसे ही मानव पर-पदार्थोंके संग्रहके लिए अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प करता है और फिर भी अन्तमें शान्ति-लाभ नहीं कर पाता। कविवरकी लेखनीसे चित्रित संसारी मानवका यह भाव-चित्र देखिए:

"कोटि विकल्प व्याधि की वेदन, लही शुद्ध लपटाय।
ज्ञान-कुसुम की सेज न पाई, रहे अघाय अघाय॥"

आत्मन्, सांसारिक मायाके करोड़ों विकल्प तुम्हारे शुद्ध स्वभावको मलिन कर रहे हैं और तुम्हें अशान्त कर रहे हैं। तुम अबतक ज्ञानरूपी

फूलोंकी शय्या नहीं प्राप्त कर सके। यही कारण है कि तुम संसारकी सीमातीत विभूति पाकर भी अतृप्तके अतृप्त ही दिखलाई दे रहे हो।

सुख और शान्ति आत्माका स्वभाव है; पर यह अबोध मानव उसे पर-पदार्थोंमें खोजता है। प्रयत्न करनेपर भी जब सुख-शान्ति नहीं मिलती है तो वह निराश हो जाता है और ऐसे ही निष्फल प्रयासोंमें जीवन-लीला समाप्त कर देता है। कविवरकी भावपूर्ण वाणीका रसास्वाद लीजिए। वह कहते हैं :

"किया दौर चहुँ ओर जोर से मृगतृष्णा चित लाय।
प्यास बुझावन बूँद न पायी, यों ही जनम गमाय॥"

आत्मन्, तुम मृगतृष्णाकी भाँति तीव्र लालसासे प्रिय पदार्थोंमें सुख प्राप्त करनेका पूरा प्रयत्न करते हो – अविराम दौड़ लगाते हो; परन्तु जिस प्रकार उस मृगको कोसों दूर दौड़ लगानेपर भी एक बूँद पानी नहीं मिलता, उसी प्रकार तुम्हें भी लेशमात्र सुख-शान्ति नहीं मिल पाती और यह दुर्लभ मानुष भव व्यर्थ ही चला जाता है।

विनयविजयका अन्तिम सम्बोधन सुनिए :

"सुधा-सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय।
'विनय' कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय॥"

आत्मन्, तुम्हारे अन्दर ही सुधाका सरोवर लहरा रहा है। उसे बाहर खोजनेकी आवश्यकता नहीं है। इस सरोवरमें स्नान करनेसे सब दुःख दूर हो जाते हैं और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है। गुरुदेव भी इसी मार्गकी ओर संकेत कर रहे हैं। आवश्यकता है केवल मनको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेकी। प्रिय, तुम ललचाते क्यों हो?

"प्यारे, काहे कूँ ललचाय।"

चेतन, अब मोहि दर्शन दीजे

मानव जीवनका चरम लक्ष्य है आत्म-दर्शन-विशुद्ध आत्म-साक्षात्कार। आत्म-दर्शनमें ही सम्पूर्ण शान्ति निहित है। परन्तु इसके लिए लक्ष्यकी एकता अत्यन्त आवश्यक है। बिना लक्ष्यके मनुष्य दिग्भ्रान्त बना रहता है और जीवनमें पूर्ण शान्तिकी अनुभूति नहीं ले पाता। ममत्व, तृष्णा, संग्रह-बुद्धि लक्ष्यशून्यताके चिह्न हैं।

आत्म-दर्शन भी सहज साधनका परिणाम नहीं है। मनुष्य इसके लिए अनेक प्रकारके संयम करता है, तप करता है और सदाचारके नियमों-का परिपालन करता है। घर छोड़ता है और स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिसे निर्ममत्व होनेका प्रयत्न करता है। काल-लब्धि आती है और मानवकी दीर्घकालीन साधना सफल होती है। उसे आत्म-दर्शन होता है – सम्यग्-दर्शन होता है और वह अपनेमें अत्यन्त शान्तिका अनुभव करता है।

अध्यात्मरसिक यशोविजय भी अन्तर्दृष्टिके साधु हैं। देखिए, किस उत्कटताके साथ उनके अन्तस्में आत्म-दर्शनकी उत्कण्ठा जागृत हो रही है। उनकी संगीतमय सरस वाणी सुनिए :

"चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे।
तुम दर्शन शिव-सुख पामीजे, तुम दर्शन भव छीजे ॥"

हे आत्मन्, अब मुझे अपना दर्शन दो। आत्मन्, तुम्हारे सम्यग्दर्शनसे ही शिव-सुख मिलता है और तुम्हारे दर्शनसे ही यह भव-बन्धन छूटता है।

संयम, तप एवं सदाचारका आचरण आत्म-दर्शनके लिए ही किया जाता है। यदि इतनेपर भी यथार्थ आत्म-दर्शन नहीं हो पाता है तो यह

आचरण एकदम निरर्थक है। देखिए, कविवर यही बात कह रहे हैं :

"तुम कारन संयम तप किरिया, कहो, कहाँ लौं कीजे।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तरचित्त न भीजे॥"

आत्मन्, तुम्हारे दर्शनके लिए ही यह मानव अनेक प्रकारके यम-नियम, तप एवं चारित्रका पालन करता है और पता नहीं कबतक करता रहता है। परन्तु यदि चित्तमें तुम्हारे दर्शनकी उत्कट अभिलाषा नहीं है और तुम्हारा दर्शन उसे नहीं हो पाता तो यह सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड सर्वथा निःसार है।

आत्म-दर्शनके लिए विभिन्न मनीषियोंने विभिन्न मार्ग निर्धारित किये हैं। कोई सदाचारको आत्म-दर्शनका मूल मानते हैं और कोई ज्ञानको। परन्तु एकान्त रूपसे दोनों ही आत्म-दर्शनकी उपलब्धिमें सहायक नहीं हैं। यशोविजयजी इसी तथ्यको यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"क्रिया मूढमति कहे जन कोई, ज्ञान, और को प्यारो।
मिलत भावरस दोउ न माखें, तू दोनों तें न्यारो॥"

कतिपय मूढ़जन केवल क्रियासे आत्म-दर्शनकी उपलब्धि मानते हैं और कुछ ज्ञानमात्रसे। सम्यग्ज्ञानपूर्ण सम्यक् चरणसे आत्मदर्शन होता है, ऐसा कोई नहीं मानते। परन्तु आत्मन्, तेरा स्वभाव तो वस्तुतः सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्रात्मक है।

संसारके समस्त प्राणियोंमें एक-जैसे अनन्तगुणसम्पन्न आत्माका वास है। आत्म-स्वभावकी योग्यताकी दृष्टिसे किसी भी आत्मामें अणुमात्रका भी अन्तर नहीं है। हाँ, गुणोंको आवृत करनेवाले बन्धन अवश्य उसमें अन्तर डाल देते हैं। कविवर शुद्धात्म-स्वरूपके लाभके लिए सम्बोधित कर रहे हैं :

"सब में है और सब में नाहीं, पूरनरूप अकेलो।
आप स्वभावे वे किम रमतो, तू गुरु अरु तू चेलो॥"

आत्मन्, तुम अपने चैतन्य स्वरूपसे समस्त प्राणियोंमें विद्यमान हो और निष्कलंक विशुद्ध स्वभावसे सबमें नहीं हो। तुम अपनेमें सम्पूर्ण रूप होकर भी अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो। हे आत्म-स्वभावमें रमण करनेवाले आत्मन्, अपनी कर्म-निर्मुक्त परिणतिसे तुम गुरु हो और अपनी कर्म-परतन्त्र अवस्थाके कारण तुम शिष्य भी हो।

अन्तमें यशोविजय कितनी परिमित पदावलीमें आत्मस्वरूपका चित्रांकन कर रहे हैं। देखिए :

"अकल अलख तू प्रभु सबरूपी, तू अपनी गति जाने।
अगमरूप आगम अनुसारें, सेवक 'सुजस' बखाने ॥"

आत्मन्, तुम निष्कलंक हो, अलक्ष्य हो। प्रभुरूप हो और समस्त आत्मधर्मा हो। अपने स्वरूपको तुम ही यथार्थतः जान सकते हो। आत्मन्, तुम्हारा रूप अगम्य है, फिर भी आगमके द्वारा ही उसका कुछ वर्णन किया जा सकता है। हे आत्मन्, अब तो मुझे अपना दर्शन दो।

"चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ॥"

■

राम कहो रहमान कहो कोऊ

विश्वका मानव-समाज अपनेको भिन्न-भिन्न आग्रहोंके जालमें जकड़े हुए हैं। कोई रामका उपासक है तो कोई रहमानका। कोई कृष्णका उपासक है तो कोई महादेवका। कोई पार्श्वनाथकी उपासना करता है तो कोई ब्रह्माकी। कोई ईसाका पुजारी है तो कोई बुद्धका। ग़रज़ यह कि संसारमें प्रत्येक मानव प्राय: किसी-न-किसी अभीष्ट आग्रहको अपने हृदयकी कोरमें छिपाये है। इतना ही नहीं, अपने अभीष्ट आराध्यके प्रति ही उसकी निष्ठा होती है, पूज्य बुद्धि होती है, राग होता है और शेष आराध्योंका नाम तक उसे रुचिकर प्रतीत नहीं होता। अपनी इस मान्यता एवं आग्रहके कारण मानव बड़े-बड़े अमानवीय अनर्थ कर चुका है और कर भी रहा है। मनुष्यके अज्ञान-विलासकी यह पराकाष्ठा है। ऐसा आग्रही मानव सचमुचमें अन्यदीय आराध्योंकी यथार्थ जानकारी तो कर ही नहीं पाता, वह अपने श्रद्धेय आराध्यके स्वरूप-विज्ञानसे भी कोसों दूर रहता है। वह नहीं सोच पाता कि सर्व-कर्म-मल-निष्कलंक परम पवित्र सर्वशक्तिमान् विशुद्ध आत्म-स्वरूप ही एक मात्र हमारा उपास्य है, आराध्य है, भले ही उसे हम राम, ब्रह्मा, महादेव, बुद्ध एवं पार्श्वनाथ आदि किसी भी नामसे कहें। नाम-भेदसे शुद्धात्मस्वरूपमें भेद नहीं होना चाहिए। परन्तु जड-जगत् नामको ही पकड़कर उसकी आराधनामें एकान्तनिष्ठ हो तन्मय हो रहा है।

समदर्शी घनानन्दने इस मानवीय जडताका गम्भीर संवेदन किया और मानव-समाजने वांछनीय एकरसताका संचार करनेके लिए अद्भुत समाधान खोज निकाला। कविवरकी अनुभूतिपूर्ण संगीतमय वाणीका रसास्वाद

लीजिए। वह कहते हैं :

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥"

हे आत्मन्, तुम्हें कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही स्वयं समस्त ब्रह्मात्मक हो। अर्थात् आत्मन्, तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह सब नामान्तर हैं।

देखिए, कविवर इसी गम्भीरतम तथ्यको कैसी सजीव एवं सुबोधशील शैलीमें प्रतिपादित कर रहे हैं :

"भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री॥"

जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेदसे अनेक नामों-द्वारा कही जाती है, उसी प्रकार अखण्डरूप इस आत्मामें भी विभिन्न कल्पनाओंके कारण अनेक नामोंकी कल्पना कर ली जाती है। अतः यह सब नाम केवल बाह्य कल्पनामूलक हैं। वास्तवमें मानवीय आराधनाका आदर्श तो विशुद्ध आत्मस्वभाव ही है।

कविवर राम, रहमान, कृष्ण और महादेवको कैसी अपूर्व सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। वह कहते हैं :

"निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षै करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥"

जो विशुद्ध आत्मपदमें रमण करे वह राम है। जो सबपर दया करे वह रहमान है। जो कर्मोंको आत्मासे खींचकर पृथक् कर दे वह कृष्ण है और जिसने निर्वाण प्राप्त कर लिया है वह महादेव है।

कविवरकी पार्श्वनाथ और ब्रह्माकी व्याख्या भी सुनिए :

"परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्ने सो ब्रह्म री।
इहविधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री॥"

जिसने शुद्धात्म रूपको प्राप्त कर लिया है वह पार्श्वनाथ है और जिसने शुद्ध ब्रह्मको पहचान लिया है वह ब्रह्मा है। इस प्रकार यह आनन्दघन, चैतन्यपूर्ण, निष्कर्म आत्मा ही विभिन्न नाम-रूपोंमें ग्रहण की जाती है।

आत्मन्, तुम्हें कोई राम कहे या रहमान कहे, कृष्ण कहे या महादेव कहे, पार्श्वनाथ कहे या ब्रह्मा कहे, तुम ही समस्त ब्रह्मरूप हो। आत्मन्, तुम्हारे विशुद्ध रूपके ही यह नामान्तर हैं।

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो, महादेव री ॥"

विरथा जनम गमायो

जीवनकी सार्थकता उसके लक्ष्यकी सफलतामें है। मनुष्यका जीवन भी तब सार्थक कहा जा सकता है जब वह लक्ष्यमें पूर्णतया सफल रहे। परन्तु मानव इतना अबोध एवं मोह-विकल है कि वह अपने अमूल्य जीवन-का लक्ष्य ही निर्धारित नहीं कर पाता है। कनक-कामिनीका मोह उसे आत्म-भान नहीं होने देता है। वह निरन्तर पर-पदार्थोंको अपनानेकी चेष्टामें संलग्न रहता है और पर-परिणतियोंमें ही आनन्द-लाभ लेनेका प्रयत्न करता है। सम्यक् आत्मदर्शनमें ही मानव-जीवनका कल्याण है, सार्थकता है, सफलता है; परन्तु मानवको मिथ्या बुद्धि उसे निरन्तर दिङ्मूढ़ बनाये रहती है और उसके अनर्घ जीवनको व्यर्थ कर देती है।

कविवर चिदानन्द यहाँ ऐसे ही अबोध मानवका मार्ग-दर्शन करते हुए उसे आत्म-दर्शनके लिए सम्बोधित कर रहे हैं। वह कहते हैं :

> "विरथा जनम गमायो, मूरख !
> रंचक सुखरस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो।
> पाँच मिथ्यात धार तू अजहूँ, साँच भेद नहिं पायो॥"

हे मूर्ख, तुमने व्यर्थ ही अपना जन्म खो दिया। मानव, तुमने क्षणिक ऐन्द्रिय सुखके वशवर्ती होकर अपना मूलोच्छेदन ही कर डाला। पाँच प्रकारकी मिथ्याबुद्धियोंके कारण तुम अबतक यथार्थ आत्म-दर्शन नहीं कर सके।

सांसारिक माया मनुष्यके आत्म-दर्शनमें निरन्तर बाधक रहती है और इसके कारण वह उन्मत्त-सा आत्म-विस्मृत बना रहता है। कविवरने अपनी

निपुण तूलिकासे यहाँ इसी तथ्यको रेखांकित किया है। देखिए :

"कनक-कामिनी अरु एहथी, नेह निरन्तर लायो।
ताहू थी तूं फिरत सुरानो, कनक बीज मनु खायो ॥"

आत्मन्, तुम निरन्तर कनक-कामिनीकी मायामें भूले रहे और इसमें इस प्रकार पागल हो गये जैसे कोई व्यक्ति धतूरेके बीज खाकर मतवाला और आत्म-विस्मृत हो जाता है।

मोह-वारुणी पीकर मानव अनादिकालसे जन्म, जरा, मृत्युके दुःखोंका भोग कर रहा है। पता नहीं, मानव कब इन दुःखोंसे मुक्त होगा? देखिए, चिदानन्द किस प्रकार मानवके शाश्वत कल्याणके लिए चिन्तित हैं। वह कहते हैं :

"जनम जरा मरणादिक दुख में, काल अनन्त गमायो।
अरहट घटिका जिम, कहो याको, अंत अजहुँ नवि आयो ॥"

आत्मन्, तुमने जन्म, जरा एवं मृत्युके दुःखोंमें अनन्तकाल व्यतीत कर दिया, फिर भी रहटकी घरियोंके समान आज भी तुम इनके चक्रसे मुक्त नहीं हो सके – इन दुःखोंका अन्त नहीं आ सका।

आत्माने चौरासी लाख योनियोंमें अनन्त बार जन्म-मरण किया; फिर भी आत्म-शान्तिकी उपलब्धि नहीं हुई। आत्म-शान्तिका मूल कारण सम्यग्दर्शन है – सच्ची आत्मश्रद्धा है। इसके बिना संसारका उच्छेद नहीं हो सकता। कविवर अपनी मंगल-वाणी-द्वारा इसी सत्यके दर्शन करा रहे हैं। देखिए :

"लख चौरासी पहरया चोलना, नव नव रूप बनायो।
बिन समकित सुधारस चाख्या, गिणती कोउ न गिणायो ॥"

आत्मन्, तुमने चौरासी लाख योनियोंमें अनन्त बार नवीन-नवीन शरीरको धारण किया; परन्तु सम्यक्त्व – सम्यक् आत्मदर्शन-रूपी सुधारस-का आस्वाद न ले सकनेके कारण तुम अपनेको मूल्यवान् नहीं बना सके –

आत्म-स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर सके।

मानव अनादि-कालसे असीम कष्टोंको उठाता हुआ भी सचेत नहीं होता है। कविवर मानवकी इस जड़तापर आश्चर्य प्रकट करते हैं और प्रभु-भक्तोंकी भक्तिका अभिनन्दन करते हैं। वह कहते हैं :

"एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरजि चित आयो।
'चिदानन्द' ते धन्य जगत् में, जिण प्रभू सूँ मन लायो ॥"

मानव, आश्चर्य इस बातका है कि इन अनन्त कष्टोंको भोगते हुए भी तुम सावधान नहीं होते – अपनी मिथ्या प्रवृत्तिसे विरत नहीं होते। वे प्राणी वास्तवमें सौभाग्यशाली हैं जो अपने मनको प्रभु-पदमें लगाकर आत्म-कल्याणके पथिक बनते हैं। हे मूर्ख, तुमने व्यर्थ ही अपने जन्मको खो दिया।

"विरथा जनम गमायो, मूरख ॥"

■

पद-संग्रह

१

रे मन तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।
इनही के वश तू अनादि तैं, निज स्वरूप न लखावै है।
पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-विपति चखावै है ॥
फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झप जल में, कंटक कंठ छिदावै है ॥
गंध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावै है।
नयन-विषयवश दीप-शिखा में, अंग पतंग जरावै है ॥
करन-विषयवश हिरन अरन में, खलकर प्रान लुभावै है।
'दौलत' तज इनको, जिनको भज, यह गुरु-सीख सुनावै है ॥

२

अब मेरे समकित सावन आयो।
बीति कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो ॥
अनुभव-दामिनि दमकन लागी, सुरति-घटा घन छायो।
बोलै विमल विवेक-पपीहा, सुमति-सुहागिन भायो ॥
गुरु-धुनि गरज सुनत सुख उपजत, मोर-सुमन विहसायो।
साधक-भाव अंकूर उठे बहु, जित तित हरष सवायो ॥
भूल-धूल कहिं भूल न सूझत, समरस-जल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर, जिन निरचू घर पायो ॥

३

मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी।
भोग भुजंग-भोग सम जानौ, जिन इनसे रति जोरी।
ते अनन्त भव-भीम भरे दुख, परे अधोगति पोरी।
बँधे दृढ़पातक डोरी ॥
इनको त्याग विरागी जे जन, भये ज्ञान-वृष धोरी।
तिन सुख लह्यो अचल अविनासी, भव-फाँसी दई तोरी।
रमै तिन संग शिव-गोरी ॥
भोगन की अभिलाष हरन को, त्रिजग-संपदा थोरी।
यातैं ज्ञानानन्द 'दौल' अब पियो पियूष-कटोरी।
मिटै भव-व्याधि कठोरी ॥

४

छाँड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी।
यह पर है, न रहै थिर पोषत, सकल कुमल की झोरी ॥
यासौं ममता कर अनादि तैं, बंधौ करम की डोरी।
सहै दुख जलधि-हिलोरी ॥
यह जड़ है, तू चेतन, यों ही अपनावत बरजोरी।
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं संपति तोरी ॥
सदा विलसो शिव-गोरी ॥
सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे, पीजे ज्ञान-पियूष कटोरी ॥
मिटै पर-चाह कठोरी ॥

५

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यों शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध ।
तजि जड़ रस फरस रूप, पुद्‌गल अपनायौ ॥
इन्द्रिय सुख दुख में नित्त, पाग राग-रुख में चित्त ।
दायक भव-विपतिवृन्द, बंध को बढ़ायौ ॥
चाह-दाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै ।
समता-सुधा न गाहै, जिन-निकट जो बतायौ ॥
मानुष भव सुकुल पाय, जिन नर शासन लहाय ।
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ ॥

६

हम तो कबहूँ न निज घर आये ।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये ॥
पर पद निजपद मानि मगन ह्वै, परपरनति लपटाये ।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन-भाव न भाये ॥
नर, पशु, देव, नरक निज जान्यौ, परजय बुद्धि लहाये ।
अमल, अखण्ड, अतुल, अविनाशी आतमगुन नहिं गाये ॥
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये ।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाये ॥

७

मेरे कब ह्वै वा दिन की सुघरी ।
तन बिन वसन असन बिन बन में निवसौं नासा दृष्टि धरी ॥
पुण्य पाप-परसौं कब विरचौं, परचौं निजनिधि चिर-बिसरी ।
तज उपाधि, सज सहज समाधी. सहौं घाम-हिम-मेघ झरी ॥
कब थिर-जोग धरौं ऐसौ मोहि उपल जान मृग खाज हरी ।
ध्यान-कमान तान अनुभवशर, छेदौं किहि दिन मोह अरी ॥
कब तन-कंचन एक गनौं अरु, मनिजड़ितालय शैल दरी ।
'दौलत' सतगुरुचरनन सेऊँ जो पुरवौ आश यहै हमरी ॥

८

जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ।
मोह मद-वार पियौ, स्वपद विसार दियौ,
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुख में रचियौ,
भवतैं न भियौ, तजियौ मन-मैलवा
जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥
मिथ्या ज्ञान आचरन, धरिकर कुमरन,
तीन लोक की धरन, तामें कियौ है फिरन,
पायौ न शरन, न लहायौ सुख-शैलवा ।
जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥
अब नर-भव पायौ, सुथल सुकुल आयौ,
जिन-उपदेश भायौ, 'दौल' झट छिटकायौ ।
पर - परनति दुखदायिनी चुरैलवा,
जीव, तू अनादि ही तैं भूल्यौ शिव-गैलवा ॥

९

आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे ।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे ।
निज-निवेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे ।
शिव चाहै तो द्विविध कर्म तैं, कर निज परनति न्यारी रे ।
'दौलत' जिन निज भाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे ॥

१०

जम आन अचानक दाबैगा ।
छिन-छिन कटत घटत थित ज्यों जल, अंजुलि को झर जावेगा ।
जन्म-ताल-तरु तैं पर जिय-फल, कों लग बीच रहावैगा ।
क्यों न विचार करै नर आखिर, मरन मही में आवैगा ॥

सोवत मृत जागत जीवन ही श्वासा जो थिर थावैगा।
जैसे कोऊ छिपै सदा सों, कबहूँ अवसि पलावैगा ।।
कहूँ कबहूँ कैसे हूँ कोई, अंतक से न बचावैगा।
सम्यग्ज्ञान-पियूष पिये सों 'दौल' अमरपद पावैगा ।।

११

कबधौं मिलैं मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करिहैं भव-दधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीनों, छांड़ि परिग्रह-भारा हो।
इन्द्रिय-दमन वमन मद कीनों, विषय-कषाय निवारा हो ।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निज घर, मन वच तन कर धारा हो ।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरें, पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा भीन, चीन त्रस थावर, ईर्यापंथ समारा हो ।।
मार मार, व्रतधार शील दृढ़, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास, वास वन, प्रासुक करत अहारा हो ।।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनकें, धरम शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुध उपयोग विचारा हो ।।
आप तरहिं औरन को तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन जतिन को, नित प्रति धोक हमारा हो।

१२

जिया तोहि समझायो सौ सौ बार।
देख सुगुरु की पर-हित में रति हित-उपदेश सुनायो सौ सौ बार ।।
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनसों लपटायो।
स्वपद विसार रच्यो पर पद में, मदरत ज्यों बौरायो ।।
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो ।।

अबहूँ समुझि कठिन यह नरभव, जिनवृष बिना गमायो ।
ते विलखें मनि डार उदधि में, 'दौलत' को पछतायो ।।

१३

हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छाँड़त दुखदाई ।
सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई ।।
मूरख अघकर्म कहा, भेद नहिं मर्म लहा ।
लागै दुखज्वाला की न देह कै तताई ।।
जम के रव बाजते, सुभैरव अति गाजते ।
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई ।।
पर को अपनाय आप–रूप को भुलाय हाय ।
करन-विषय-दारु जार, चाह-दौं बढ़ाई ।।
अब सुन जिन-वानि, रागवेष को जघान ।
मोक्षरूप निज पिछान 'दौल' भज विरागताई ।।

१४

सुधि लीजौ जी म्हारी ।
मोहिं भवदुखदुखिया जानके सुधि लीजौ जी म्हारी ।।
तीन-लोक-स्वामी नामी तुम, त्रिभुवन के दुखहारी ।
गनधरादि तुव सरन लई लख, लीनी सरन तिहारी ।।
जो विधि अरी करी हमरी गति, सो तुम जानत सारी ।
याद किये दुख होय हिए ज्यों, लागत कोटि कटारी ।।
लब्धि–अपर्यापत निगोद में एक उसास मंझारी ।
जन-मन-मरन नवदुगुन विथा की कथा न जात उचारी ।।
भू-जल-ज्वलन पवन प्रत्येक तरु विकलत्रय तन धारी ।
पंचेन्द्री पशु नारक नर सुर विपति भरी भयकारी ।।

मोह महारिपु नेक न सुखमय, होन दई सुधि थारी।
सो दुठ मंद भयौ भागन तैं, पाए तुम जगतारी॥
यदपि विरागि तदपि तुम शिवमग, सहज प्रगट करतारी।
ज्यौं रवि-किरन सहज मगदर्शक, यह निमित्त अनिवारी॥
नाग छाग गज बाघ भील दुठ तारे, अधम उधारी।
शीश नवाय पुकारत अबके 'दौल' अधम की बारी॥

१५

मत राचौ धी-धारी।
भव रंभ-थंभसम जानके, मत राचौ धी-धारी॥
इन्द्रजाल कौ ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी।
चहुँगति बिपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी॥
रामा मा, मा बामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी।
को अचंभ जहाँ आप आप के पुत्रदशा विस्तारी॥
घोर नरक दुख ओर न छोर न लेश न सुख विस्तारी।
सुर नर प्रचुर विषय जुर जारे, को सुखिया संसारी॥
मंडल ह्वै अखंडल छिन में, नृप कृमि, सधन भिखारी।
जा सुत-विरह मरी ह्वै बाघिनि, ता सुत देह विदारी॥
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरुन उर मदन दहन परजारी।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी॥
यों असार लख छार भव्य झट भये मोख-मग चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी॥

१६

अज्ञानी पाप-धतूरा न बोय।
फल चाखन की बार भरै दृग, मरहै मूरख रोय॥

किंचित् विषयनि के सुख कारण, दुर्लभ देह न खोय।
ऐसा अवसर फिर न मिलैगा, इस नींदड़ी न सोय॥
इस बिरियाँ में धर्म-कल्प-तरु, सींचत स्यानैं लोय।
तू विष बोवन लागत तो सम, और अभागा कोय॥
जे जग में सुखदायक बेरस, इस ही के फल सोय।
यों मन 'भूधर' जानिकै भाई, फिर क्यों भोंदू होय॥

१७

भगवन्त-भजन क्यों भूला रे!
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि-बबूला रे॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण-पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे॥
स्वारथ साधै पाँच पाँव तू, परमारथ कौ लूला रे।
कहु कैसे सुख पैहै प्राणी, काम करै दुखमूला रे॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध बसूला रे।
भज श्रीराजमतीवर 'भूधर' दो दुरमति सिर धूला रे॥

१८

गरब नहिं कीजै रे, ए नर निपट गँवार।
झूठी काया, झूठी माया, छाया ज्यों लखि लीजै रे।
कै छिन साँझ सुहागरु जोवन, कै दिन जग में जीजै रे।
वेगा चेत विलम्ब तजो नर, बंध बढ़ै तिथि कीजै रे।
'भूधर' पल-पल हो है भारी, ज्यों-ज्यों कमरी भीजै रे।

१९

अन्तर उज्जल करना रे भाई।
कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे॥

जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं बोयौ, यों ही पचि पचि मरना रे॥
बाहिर भेष क्रिया उर शुचि सों, कीयें पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोक-रंजना, ऐसे वेदन वरना रे॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
'भूधर' नील वसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे॥

२०

सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पिछताया॥
आपा तनक दिखाय बीज ज्यों मूढ़मती ललचाया।
करि मद अंध धर्म हर लीनौं अन्त नरक पहुँचाया॥
केते कंथ किये तैं कुलटा तौ भी मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया॥
'भूधर' ठगत फिरत यह सब कौ भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी कों ठग बैठे मैं तिसको सिर नाया॥

२१

होरी खेलौंगी, घर आये चिदानन्द कन्त।
शिशिर मिथ्यात गयो आयी अब, काल की लब्धि वसन्त॥
पिय सँग खेलन को हम सखियो, तरसीं काल अनन्त।
भाग फिरे अब फाग रचानों आयो विरह को अन्त॥
सरधा गागर में रुचिरूपी, केसर घोरि तुरन्त।
आनन्द नीर उमग पिचकारी, छोड़ो नीकी भन्त॥
आज वियोग कुमति सौतिन के, मेरे हरष महन्त।
'भूधर' धनि यह दिन दुर्लभ अति, सुमति सखी बिहसन्त॥

२२

आया रे बुढ़ापा मानी सुधि-बुधि बिसरानी।
श्रवन की शक्ति घटी, चाल चलै अटपटी।
देह लटी भूख घटी, लोचन झरत पानी॥
दाँतन की पंक्ति टूटी, हाड़न की सन्धि छूटी।
काया की नगरि लूटी, जात नहिं पहिचानी॥
बालों ने बरन फेरा, रोग ने शरीर घेरा।
पुत्र हू न आवै नेरा, औरों की कहा कहानी॥
'भूधर' समुझि अब, स्वहित करैगो कब।
यह गति ह्वै है जब, तब पिछतैहै प्रानी॥

२३

जिनराज-चरन मन, मति बिसरै।
को जानै किहि बार काल की, धार अचानक आनि परै॥
देखत दुख भजि जाहि दशौं दिश, पूजत पातक-पुंज गिरै।
इस संसार-सारसागर-सौं और न कोई पार करै॥
इक चित ध्यावत वांछित पावत,आवत मंगल, बिघन टरै।
मोहनि धूल परी मांथै चिर, सिर नावत तत्काल झरै॥
तबलौं भजन सँवार सयानै, जबलौं कफ नहिं कंठ अरै।
अगनि प्रवेश भयौ घर 'भूधर' खोदत कूप न काज सरै॥

२४

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि-जिहाज।
आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥
मोह महारिपु जीतिकैं, छाँड्यो सब घरबार।
होय दिगम्बर बन बसे, आतम शुद्ध विचार॥

रोग-उरग-बिल वपु गिन्यो, भोग भुजंग समान।
कदली तरु संसार है, त्यागो यह सब जान ।।

रत्नत्रयनिधि उर धरैं, अरु निर्ग्रन्थ त्रिकाल।
मारयो काम-खवीस को, स्वामी परम दयाल ।।

पंच महाव्रत आदरैं, पाँचों समिति समेत।
तीन गुपति पालैं सदा, अजर अमर पद देत ।।

धर्म धरैं दशलक्षणी, भावैं भावना सार।
सहैं परीषह बीस द्वै, चारित रतन भँडार ।।

जेठ तपै रवि-आकरो, सूखै सरवर-नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर ।।

पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरुतल निबसैं साहसी, बाजै झंझावार ।।

शीत पड़ै कपि-मद गलै, दाहै सब वन राय।
ताल तरंगनि के तटै, ठाढ़े ध्यान लगाय ।।

इह विधि दुद्धर तप तपै, तीनों काल मँझार।
लागे सहज सरूप में, तनसों ममत निवार ।।

पूरब भोग न चिन्तवैं, आगम वांछा नाहिं।
चहुँगति के दुखसों डरैं, सुरत लगी शिव माँहि ।।

रंग-महल में पौढ़ते, कोमल सेज बिछाय।
ते पच्छिमनिशि भूमि में, सोवैं संवरि काय ।।

गज चढ़ि चलते गरबसों, सेना सजि चतुरंग।
निरखि-निरखि पग वे धरैं, पालैं करुणा अंग ।।

वे गुरु चरण जहाँ धरैं, जग में तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढ़ौ, 'भूधर' माँगे येह ।।

२५

देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है।
कर ऊपर कर सुभग बिराजे, आसन थिर ठहराया है ॥
जगतविभूति भूतिसम तजकर, निजानन्द पद ध्याया है।
सुरभित श्वासा, आशा-वासा नासादृष्टि सुहाया है ॥
कंचन वरन चलै मन रंच न, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास पास अहि मोर मृगी हरि, जाति विरोध नशाया है ॥
शुद्धचुपयोग हुताशन में जिन, वसुविधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहै, मानों धुआँ उड़ाया है ॥
जोवन-मरन अलाभ-लाभ जिन तृन-मनि को सम भाया है।
सुर नर नाग नमहिं पद जाके, 'दौल' तास जग गाया है ॥

२६

धन धन साधर्मी जन मिलन की घरी।
बरसत भ्रम-ताप हरन ज्ञान-घन-झरी ॥
जाके बिन पाये भव-विपति अति भरी।
निज परहित अहित की कछू न सुध परी ॥
जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
संशय भ्रम मोह की सुवासना टरी ॥
मिथ्या गुरुदेव सेव-टेव परिहरी।
वीत रागदेव सुगुरु-सेव उर धरी ॥
चारों अनुयोग सुहित देश दिठ परी।
शिवमग के लाह की सुचाह विस्तरी ॥
सम्यक् तरु धरनि येह करन-करि हरी।
भव-जल को तरनि समर-भुजग-विष जरी ॥
पूरब भव या प्रसाद रमनि शिव वरी।
सेवो अब 'दौल' याहि बात यह खरी ॥

२७

नित पीजौ धी-धारी !

जिनवानि सुधासम जानके नित पीजौ धी-धारी ।।
वीर-मुखारविन्द तें प्रगटी, जन्म जरा गद-टारी ।
गौतमादिगुरु उर घट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ।।
सलिल समान कलित, मलगंजन, बुध-मन-रंजनहारी ।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्या जलद निवारी ।।
कल्यानकतरु उपवन धरनी, तरनी भवजल-तारी ।
बन्धविदारन पैनी छैनी, मुक्ति नसैनी सारी ।।
स्वपरस्वरूप प्रकाशन को, यह भानु-कला अविकारी ।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम सुख सुमन-सुवारी ।।
जाको सेवत, बेवत निजपद, नसत अविद्या सारी ।
तीन लोकपति पूजत जाको, जान त्रिजग हितकारी ।।
कोटि जीभ सों महिमा जाको, कहि न सके पविधारी ।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारन हारी ।।

२८

जय श्री वीर जिनेन्द्रचन्द्र, शत इन्द्रवंद्य जगतारं ।
सिद्धारथ कुल-कमल-अमल रवि, भव-भूधर-पबि-भारं ।
गुन-मनि-कोष अदोष मोषपति, विपिन कषाय तुषारं ।।
मदन-कदन शिव-सदन पद-नमित नित अनमित यतिसारं ।
रमा-अनन्त-कन्त अन्तकक्रुत-अन्त जन्तु हितकारं ।।
फन्द चन्दना-कन्दन, दादुर-दुरित तुरित निर्वारं ।
रुद्र-रचित अतिरुद्र उपद्रव—पवन-अद्रिपति सारं ।।
अन्तातीत अचिन्त्य सुगुन तुम, कहत लहत को पारं ।
हे जगमौल 'दौल' तेरे क्रम, नमैं सीस कर धारं ।।

२९

हे जिन, मेरी ऐसी बुधि कीजै ।
रागद्वेष दावानल तें बचि, समतारस में भीजै ।।
पर में त्याग अपनपों निज में लाग न कबहूँ छीजै ।
कर्म कर्मफल मांहि न राचै, ज्ञानसुधारस पीजै ।
मुझ कारज के तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै ।।

३०

रे मन, कर सदा सन्तोष, जाते मिटत सब दुख-दोष।
बढ़त परिग्रह मोह बाढ़त, अधिक तिसना होति ।
बहुत ईंधन जरत जैसे, अगिनि ऊँची जोति ।।
लोभ लालच मूढ़ जन सो, कहत कंचन दान ।
फिरत आरत नहिं विचारत, धरम धन की हान ।।
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक ।
ज्ञान करि बूझै 'बनारसि' को नृपति को रंक ।।

३१

चेतन, उल्टी चाल् चले ।
जड़ संगति सौं जड़ता व्यापी, निज गुन सकल टले ।।
हितसौं विरचि ठगनिसौं राचे, मोह पिशाच छले ।
हँसि हँसि फन्द सँवारि आप ही, मेलत आप गले ।।
आये निकसि निगोद सिन्धु तें, फिर तिह पंथ टले ।
कैसे परगट होय आग जो दबी पहार तले ।।
भूले भव-भ्रमबीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले ।
धर शुभ ध्यान ज्ञान-नौका चढ़ि, बैठे ते निकले ।।

३२

दुविधा कब जैहैं या मन की ।
कब निजनाथ निरञ्जन सुमिरौं, तजि सेवा जन-जन की ।।
कब रुचिसौं पीवैं दृग चातक, बूँद अखयपद घन की ।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ।।
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु-वचन की ।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ।।
कब घर छाँड़ि होहुँ एकाको, लिये लालसा वन की ।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा छन की ।।

३३

हम बैठे अपनी मौन सौं ।
दिन दस के मिहमान जगत जन बोलि बिगारैं कौन सौं ।।
गये बिलाय भरम के बादर, परमारथ-पथ-पौन सौं ।
अब अन्तर गति भई हमारी, परचे राधारौन सौं ।।
प्रघटी सुधापान की महिमा, मन नहिं लागै बौन सौं ।
छिन न सुहाय और रस फीके, रुचि साहिब के लौन सौं ।।
रहे अघाय पाय सुखसंपति, कब निकसै निज भौन सौं ।
सहज भाव सद्गुरु की संगति, सुरझै आवागौन सौं ।।

३४

भोंदू भाई, समुझ शबद यह मेरा ।
जो तू देखै इन आँखिन सौं तामें कछू न तेरा ।।
ए आँखें भ्रम ही सौं उपजी भ्रम ही के रस पागी ।
जहँ-जहँ भ्रम तहँ-तहँ इन कौ श्रम, तू इनहीं कौ रागी ।।
ए आँखें दोउ रची चाम की, चामहि चाम विलोवै ।
ताकी ओट मोह निद्रा जुत, सुपन रूप तू जोवै ।।

इन आँखिन कौ कौन भरोसौ, ए विनसैं छिन माहीं ।
है इनकौ पुद्गल सौं परचै, तू तौ पुद्गल नाहीं ।।
पराधीन बल इन आँखिन कौ, बिनु परकाश न सूझै ।
सो परकाश अगिनि रवि शशि कौ, तू अपनौ कर बूझै ।।
खुले पलक ये कछु इक देखहिं, मुँदे पलक नहिं सोऊ ।
कबहूँ जांहि होंहि फिर कबहूँ, भ्रामक आँखैं दोऊ ।।
जंगम काय पाय ए प्रगटैं, नहिं थावर के साथी ।
तू तो इन्हें मान अपने दृग, भयौ भीम कौ हाथी ।।
तेरे दृग मुद्रित घट-अन्तर, अन्धरूप तू डोलै ।।
कै तो सहज खुलै वे आँखें, कै गुरु-संगति खोलै ।।

३५

भोंदू भाई, ते हिरदै की आँखैं ।
जे करषै अपनी सुख सम्पति, भ्रम की सम्पति नाखैं ।।
जो आँखैं अमृतरस बरसैं, परखैं केवल वानी ।
जिन्ह आँखिन विलोक परमारथ, होंहि कृतारथ प्रानी ।।
जिन आँखिनहिं दशा केवल की, कर्म लेप नहिं लागै ।
जिन आँखिन के प्रगट होत घट, अलख निरंजन जागै ।।
जिन आँखिन सौं निरखि भेद गुन, ज्ञानी ज्ञान विचारै ।
जिन आँखिन सौं लखि स्वरूप मुनि, ध्यान धारणा धारै ।।
जिन आँखिन के जगे जगत के, लगे काज सब झूठे ।
जिन सौं गमन होइ शिव सनमुख, विषय-विकार अपूठे ।।
इन आँखिन में प्रभा परम की, पर सहाय नहिं लेखैं ।
जे समाधि सौं लखै अखण्डित, ढकैं न पलक निमेखैं ।।
जिन आँखिन की ज्योति प्रगटकैं, इन आखिन में भासै ।
तब इनहू की मिटै विषमता, समता रस परगासै ।।

जे आँखें पूरनस्वरूप धरि लोकालोक लखावैं।
ए वे यह वह सब विकलप तजि, निरविकलप पद पावैं ॥

३६

नर भव पाय फेरि दुख भरना, ऐसा काज न करना हो।
नाहक ममत ठानि पुद्गल सौं, करम-जाल क्यों परना हो ॥
यह तो जड़, तू ज्ञान-अरूपी, तिल-तुष ज्यों गुरु बरना हो।
राग-दोष तजि, भज समता कौं, कर्म साथ के हरना हो ॥
यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो।
'बुधजन' समुझि सेय जिनवर-पद ज्यों भव-सागर तरना हो ॥

३७

बाबा, मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे।
सुर-नर नाक-तिर्यक गति में, मोकौं करमन घेरा रे ॥
मात-पिता-सुत-तियकुल परिजन, मोह-गहल उरझेरा रे।
तन-धन-वसन-भवन जड़, न्यारे, हूँ चिन्मूरति न्यारा रे ॥
मुझ विभाव जड़ कर्म रचत हैं, करमन हमको फेरा रे।
विभाव-चक्र तजि धारि सुभावा, आनंद-घन हेरा रे ॥
खरच खेद नहिं अनुभव करते, निरखि चिदानन्द तेरा रे।
जप-तप व्रत श्रुत सार यही है, 'बुधजन' कर न अबेरा रे ॥

३८

धर्म बिन कोई नहीं अपना।
सुख-सम्पत्ति धन थिर नहिं जग में, जैसे रैन सपना ॥
आगे किया, सो पाया भाई, याही है निरना।
अब जो करैगा, सो पावैगा, तातैं धर्म करना ॥
ऐसैं सब संसार कहत है, धर्म कियैं तिरना !

पर-पीड़ा विसनादिक सेवैं, नरक विषैं परना ।।
नृप के घर सारी सामग्री, ताकैं ज्वर तपना ।
अरु दारिद्री कैं हू ज्वर है, पाप उदय थपना ।।
नातो तो स्वारथ के साथी, तोहि विपति भरना ।
वन-गिरि-सरिता अगनि जुद्ध में, धर्महि का सरना ।।
चित 'बुधजन' सन्तोष धारना, पर-चिन्ता हरना ।
विपति पड़ै तो समता रखना, परमातम जपना ।।
सुख-सम्पति-धन थिर नहिं जग में, जैसे रैन-सपना ।

३६

तैं क्या किया नादान, तैं तो अमृत तजि विष लीना ।।
लख चौरासी जौनि माँहि तैं, श्रावक-कुल में आया ।
अब तजि तीन लोक के साहब, नवग्रह-पूजन धाया ।।
वीतराग के दरसन ही तैं, उदासीनता आवै ।
तू तौ जिनके सन्मुख ठाड़ा, सुत को ख्याल खिलावै ।।
सुरग-सम्पदा सहजै पावै, निश्चय मुक्ति मिलावै ।
ऐसी जिनवर-पूजन सेती जगत-कामना चावै ।।
'बुधजन' मिलैं सलाह कहैं तन, तू वापै खिजि जावै ।
जथाजोग कौं अजथा मानै, जनम-जनम दुख पावै ।।

४०

कर लै हो जीव, सुकृत का सौदा कर लै,
परमारथ कारज कर लै हो ।
उत्तम कुल को पायकैं, जिनमत-रतन लहाय ।
भोग भोगवै कारनैं, क्यों शठ देत गमाय ।।
व्यापारी बन आइयौ, नर-भव-हाट-मँझार ।
फलदायक व्यापार कर, नातर विपति तयार ।।

भव अनन्त धरती फिरचौ, चौरासी वन माँहि ।
अब नरदेही पायकैं, अघ खोवै क्यों नाहिं ।।
जिन मुनि आगम परख कैं, पूजौ करि सरवान ।
कुगुरु, कुदेव के मानवैं, फिरचौ चतुर्गति थान ।।
मोह-नींद माँ सोवता, डूबौ काल अटूट ।
'बुधजन' क्यों जागौ नहीं, कर्म करत है लूट ।।

४१

प्रभु पै यह वरदान सुपाऊँ, फिर जग-कीच बीच नहिं आऊँ।
जल-गन्धाक्षत पुष्प सुमोदक, दीप-धूप-फल सुन्दर ल्याऊँ।
आनन्द-जनक-कनक-भाजन धरि, अर्घ अनर्घ बजाय चढ़ाऊँ ।।
आगम के अभ्यास माँहि पुनि, चित एकाग्र सदैव लगाऊँ ।
सन्तनि की संगति तजि कै मैं, अन्त कहूँ छिन एक न जाऊँ ।।
दोषवाद में मौन रहूँ फिर, पुण्य पुरुष-गुन निशिदिन गाऊँ ।
मिष्ट इष्ट सबही सौं भाषौं, वीतराग निजभाव बढ़ाऊँ ।।
बाहिज दृष्टि ऐंच कैं अन्तर, परमानन्द स्वरूप लखाऊँ ।
'भागचन्द्र' शिव प्राप्त न जौ लौं, तौ लौं तुम चरणाम्बुज ध्याऊँ ।।

४२

जे दिन तुम विवेक बिन खोये ।
मोह-वारुणी पी अनादि तें पर-पद में चिर सोये ।
सुख-करण्ड चितपिण्ड आप-पद, गुन-अनन्त नहिं जोये ।।
होय बहिर्मुख, ठानि राग-रुख, कर्म-बीज बहु बोये ।
तसु फल सुख-दुख-सामग्री लखि, चित में हरषे रोये ।।
धवल ध्यान शुचि सलिल-पूर तैं, आस्रव-मल नहिं धोये ।
पर द्रव्यनि की चाह न रोकी, विविध परिग्रह ढोये ।।

अशुचि अचेत दुष्ट तन माँही, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि कैं, विषय-रोग लपटायो ।।
चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो।
तीन लोक को राज छाँड़ि कैं, भीख माँग न लजायो ।।
मूढ़पना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसो, यों सद्गुरु बतलायो ।।

४६

काहे को सोचत अतिभारी, रे मन !
पूरब करमन की थिति बाँधी, सो तो टरत न टारी ।।
सब दरबनि की तीन काल की, विधि न्यारी की न्यारी।
केवलज्ञान विषैं प्रतिभासी, सो सो ह्वै है सारी ।।
सोच किये बहु बन्ध बढ़त है, उपजत है दुख-ख्वारी।
चिन्ता चिता समान बखानी, बुद्धि करत है कारी ।।
रोग-शोक उपजत चिन्ता तैं, कहो कौन गुनवारी।
'द्यानत' अनुभव करि शिव पहुँचे, जिन चिन्ता सब जारी ।।

५०

तू तो समझ समझ रे भाई।
निशि-दिन विषय-भोग लपटाना, धरम-वचन न सुहाई ।।
कर मनका लै आसन मारयो, बाहिज लोक रिझाई।
कहा भयो बक-ध्यान धरे तैं, जो मन थिर न रहाई ।।
मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध, मान, छल, लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई ।।
मन, वच, काय जोग थिर कर कैं, त्यागो विषय कषाई।
'द्यानत' सुरग-मोख-सुखदाई, सद्गुरु सीख बताई ।।

५१

रे जिय, क्रोध काहे करै।
देख कैं अविवेक प्रानी, क्यों विवेक न धरै॥
जिसे जैसी उदय आवै, सो क्रिया आचरै।
सहज तू अपनौ बिगारै, जाय दुर्गति परै॥
होय संगति गुन सबनि कौं, सरब जग उच्चरै।
तुम भले कर भले सब को, बुरे लखि मत जरै॥
वैद्य पर-विष हर सकत नहिं, आप भखि को मरै।
बहुकषाय निगोदवासा, छिमा 'द्यानत' तरै॥

५२

हम न किसी के, कोई न हमारा, झूठा है जग का ब्योहारा।
तन सम्बन्धी सब परवारा, सो तन हमने जाना न्यारा॥
पुण्य उदय सुख का बढ़वारा, पाप उदय दुख होत अपारा।
पाप-पुण्य-दोऊ संसारा, मैं सब देखनहारा॥
मैं तिहुँ जग तिहुँ काल अकेला, पर-संजोग भया बहुमेला।
थिति पूरी कर खिर खिर जाहीं, मेरे हर्ष-शोक कछु नाहीं॥
राग भाव तैं सज्जन मानैं, दोष भाव तैं दुर्जन जानैं।
राग-दोष-दोऊ मम नाहीं, 'द्यानत' मैं चेतन पद माँही॥

५३

मोहि कब ऐसा दिन आयहै।
सकल विभाव अभाव होहिंगे, विकलपता मिट जायहै॥
यह परमातम, यह मम आतम, भेद-बुद्धि न रहायहै।
औरनि की का बात चलावै, भेद-विज्ञान पलायहै॥
जानैं आप आप में आपा, सो व्यवहार विलायहै।
नय परमान निखेपन माँहीं, एक न औसर आयहै॥

दरसन ज्ञान चरन के विकलप, कहो कहाँ ठहरायहै।
'द्यानत' चेतन चेतन ह्वै, पुद्गल पुद्गल थाय है॥

५४

मेरी बेर कहा ढील करीजी।
सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपत हरीजी॥
सीता सती अगनि में बैठी, पावक नीर करी सगरीजी!
वारिषेण पै खडग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरीजी॥
धन्या वापी परचो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरीजी।
सिरीपाल सागर तैं तारचो, राजभोग कै मुकति वरीजी॥
साँप कियो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरीजी।
'द्यानत' मैं कछु जाँचत नाहीं, कर वैराग्य-दशा हमरीजी॥

५५

तुम प्रभु! कहियत दीन-दयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल॥
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन-वच तीनों काल।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल॥
भले-बुरे हम भगत तिहारे, जानत हो हम-चाल।
और कछू नहिं यह चाहत हैं राग-दोष कौं टाल॥
हम सौं चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपा-विसाल!
'द्यानत' एक बार प्रभु, जगतैं, हमको लेहु निकाल॥

५६

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मनकितहुँ न जाई।
परमेसुरसौं साँच रहीजै, लोक-रंजना को तज दीजै॥
जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै॥

सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना ॥
पंच परावर्तन लखि लीजै, पाँचों इन्द्री को न पतीजै।
'द्यानत' पाँचों लच्छि लहीजै, पंच-परम-गुरु शरन गहीजै ॥

५७

चेतन, तू तिहुँ काल अकेला।
नदी-नाव संयोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटपेखन खेला।
सुख-संपति शरीर जल-बुदबुद, विनशत नाहीं बेला ॥
मोह-मगन आतम-गन भूलत, परी तोहि गल-जेला।
मैं मैं करत चहूँगति डोलत, बोलत जैसें छेला ॥
कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होइ सहज सुरझेला ॥

५८

देखो भाई, महाविकल संसारी।
दुखित अनादि मोह के कारण, राग-द्वेष भ्रम भारी।
हिंसारंभ करत सुख समुझैं, मृषा बोलि चतुराई।
परधन हरत समर्थ कहावै, परिग्रह बढ़त बड़ाई ॥
बचन राख काया दृढ़ राखै, मिटै न मन चपलाई।
यातैं होत और को औरैं, शुभ करनी दुखदाई ॥
जोगासन करि कर्म निरोधै, आतमदृष्टि न जागै।
कथनी करत महन्त कहावै, ममता मूल न त्यागै ॥
आगम वेद सिद्धान्त पाठ सुनि, हिये आठ मद आनै।
जाति-लाभ-कुल-बल-तप-विद्या-प्रभुता रूप बखानै ॥

जड़ सौं राचि परमपद साधै, आतम शक्ति न सूझै।
विना विवेक विचार दरब के गुण-परजाय न बूझै ॥

जसवाले जस सुनि संतोषैं, तपवाले तन सोषैं।
गुनवाले परगुन को दोषैं, मतवाले मत पोषैं।

गुरु-उपदेश सहस उदयागति, मोह विकलता छूटै।
कहत 'बनारसि' है करुनारसि, अलख अखय निधि लूटै ॥

५९

वा दिन कौ कर सोच जिय, मन में।
बनज किया व्यापारी तूने, टांड़ा लादा भारी रे।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ॥
आखिर बाजी हारी, कर ले चलने की तैयारी।
इक दिन डेरा होयगा वन में ॥

झूठे नैना उलफत बाँधी, किसका सोना, किसकी चाँदी।
इक दिन पवन चलैगी आँधी, किसकी बीबी, किस की बाँदी ॥
नाहक चित्त लगावै धन में ॥

मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी ॥
यह मिट्टी है तेरे तन में ॥

कहत 'बनारसि' सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सो नाहीं, सिर पर कालनिशाना रे ॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में ॥

६०

चेतन, तोहि न नेक संभार।
नख सिख लों दिढबन्धन बेढ़े, कौन करै निरबार ॥

जैसे आग पषान काठ में, लखिय न परत लगार।
मदिरापान करत मतवारो, ताहि न कछू विचार॥
ज्यों गजराज पखार आप तन, आपहि डारत छार।
आपहि उगल पाट कौ कीरा, तनहिं लपेटत तार॥
सहज कबूतर लोटन को सो, खुलै न पेच अपार।
और उपाय न बनै 'बनारसि', सुमरन भजन अधार॥

६१

भोर भयो, उठ जागो, मनुवा, साहब नाम संभारो।
सूतां सूतां रैन बिहानी, अब तुम नींद निवारो।
मंगलकारी अमृतवेला, थिर चित काज सुधारो॥
खिनभर जो तूँ याद करैगो, सुख निपजैगो सारो।
वेला बीत्यां हैं, पछतावै, क्यूँ कर काज सुधारो॥
घर व्यापारे दिवस बितायो, राते नींद गमायो।
इन वेला निधिचारित आदर, 'ज्ञानानन्द' रमायो॥

६२

अवधू, सूतां, क्या इस मठ में।
इस मठ का है कवन भरोसा, पड़ जावे चटपट में।
छिन में ताता, छिन में शीतल, रोग-शोक बहु घट में।
पानी किनारे मठ का वासा, कवन विश्वास ये तट में।
सूता सूता काल गमायो, अजहुँ न जाग्यो तू घट में।
घरटी फेरी आटौ खायौ, खरची न बांचो बट में।
इतनी सुनि निधि चारित मिलकर, 'ज्ञानानन्द' आये घट में॥

६३

क्योंकर महल बनावै, पियारे ।

पाँच भूमिका महल बनाया, चित्रित रंग रंगावे प्रियारे ।।

गोखें बैठो नाटक निरखै, तरुणी-रस ललचावै।

एक दिन जंगल होगा डेरा, नहिं तुझ संग कछु जावै, पियारे ।।

तीर्थंकर गणधर बल चक्री, जंगल वास रहावै ।

तेहना पण मंदिर नहिं दोसे, थारो कवन चलावै ।।

हरि हर नारद परमुख चल गये, तू क्यों काल बितावै ।

तिनतें नवनिधि चारित आदर, 'ज्ञानानन्द' रमावै, पियारे ।।

६४

प्यारे, काहे कूँ ललचाय ।

या दुनियाँ का देख तमासा, देखत ही सकुचाय ।।

मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय ।

पलक एक में बहुरि न देखे, जल बुंद को न्याय ।।

कोटि विकल्प व्याधि की वेदन, लही शुद्ध लपटाय ।

ज्ञान-कुसुम की सेज न पाई, रहे अघाय अघाय ।।

किया दौर चहुँ और जोरसे, मृगतृष्णा चित लाय !

प्यास बुझावन बूँद न पाई, यौं हो जनम गमाय ।।

सुधा-सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय ।

'विनय' कहे गुरुदेव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय ।।

६५

चेतन ! अब मोहि दर्शन दीजे ।

तुम दर्शन शिव-सुख पामीजे, तुम दर्शन भव छीजे ।।

तुम कारन संयम तप किरिया, कहो, कहाँ लौं कीजे।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तरचित्त न भीजै ।।
क्रिया मूढमति कहे जन कोई, ज्ञान और को प्यारो।
मिलत भावरस दोउ न भाखें, तू दोनों तें न्यारो ।।
सब में है और सब में नाहीं, पूरनरूप अकेलो।
आप स्वभावे वे किम रमतो, तूँ गुरु अरु तूँ चेलो ।।
अकल अलख तू प्रभु सबरूपी, तू अपनी गति जाने।
अगमरूप आगम अनुसारें, सेवक सुजस बखाने ।।

६६

राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पनारोपित, आप अखण्ड सरूप री ।।
निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ।।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्ने सो ब्रह्म री।
इहविधि साधो आप 'आनन्दघन', चेतनमय निष्कर्म री ।।

६७

विरथा जनम गमायो, मूरख !
रंचक सुखरस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो।
पाँच मिथ्यात धार तू अजहूँ, साँच भेद नहिं पायो ।।
कनक-कामिनी अस एहथी, नेह निरन्तर लायो।
ताहू थी तूँ फिरत सुरानो, कनक बीज मनु खायो ।।

जनम जरा मरणादिक दुख में, काल अनन्त गमायो।
अरहट घटिका जिम, कहो याको, अन्त अजहुँ नवि आयो ।।

लख चौरासी पहेर्या चोलना, नव नव रूप बनायो।
बिन समकित सुधारस चाख्या, गिणती कोउ न गिणायो ।।

एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरजि चित आयो।
'चिदानन्द' ते धन्य जग.त् में, जिण प्रभु सूँ मन लायो ।।

■